पथपर

पथपर

श्रीमातृवाणी

पथ पर

श्रीअरविंद सोसायटी
पांडिचेरी

प्रथम संस्करण १९७९

हिन्दी अनुवाद © श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्ट १९७९
सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य ३५.००

खंड ११

श्रीअरविंद आश्रम ट्रस्टकी ओरसे
श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी द्वारा प्रकाशित
श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी द्वारा भारतमें मुद्रित
वितरक:
शब्द: श्रीअरविंद बुक्स डिस्ट्रिब्यूशन एजेंसी, पांडिचेरी-६०५००२

प्रकाशकीय वक्तव्य

पिछले दस वर्षोंमें माताजी एक शिष्यके साथ अपनी कुछ अनुभूतियोंके बारेमें बातचीत किया करती थीं। यह बातचीत फ्रेंचमें हुई थी और उस शिष्यने ध्वन्यांकित कर ली थी। उस शिष्यने उसके कुछ अंश 'बुलेटिन' (शिक्षण पत्रिका) में छापनेके लिये संपादित किये थे। इन्हें माताजीने देखा और स्वीकृति दी थी; बुलेटिनमें यह लेखमाला "पथपर टिप्पणियां" और "प्रासंगिक" शीर्षक से छपी थीं। यह सामग्री 'श्रीमातृवाणी'के ग्यारहवें खण्डमें छप रही है।

जब 'बुलेटिन'में इस लेखमालाका प्रकाशन शुरू हुआ था तो उसके साथ एक टिप्पणी भी छपी थी: "हम इस शीर्षक-तले माताजीके साथ हुई बातचीतके कुछ अंश दे रहे हैं। ये मनन या अनुभूतियां, ये अवलोकन अभी हालके ही हैं। ये रूपांतरके मार्गके सीमा-चिह्न हैं। ये केवल इसलिये नहीं चुने गये हैं कि ये जो काम हो रहा है उसपर प्रकाश डालते हैं — और वह काम है शरीरका योग, जिसकी सभी प्रक्रियाएं प्रतिष्ठित करनी हैं — बल्कि साथ ही, इनसे जो प्रयत्न करना है उसके बारेमें संकेत भी मिल सकता है।"

माताजीकी कृतियोंका अनुवाद करना एक असंभव काम है। जो लोग मूल नहीं पढ़ सकते उनके लिये यह अनुवाद श्रीअरविंद अंतर्राष्ट्रीय शिक्षा केंद्रके हिंदी विभागने तैयार किया है।

श्रीमाताजी

जन्म

२१ फरवरी, १८७८

भारतमें आगमन

२९ मार्च, १९१४

महासमाधि

१७ नवम्बर, १९७३

शताब्दी

२१ फरवरी, १९७८

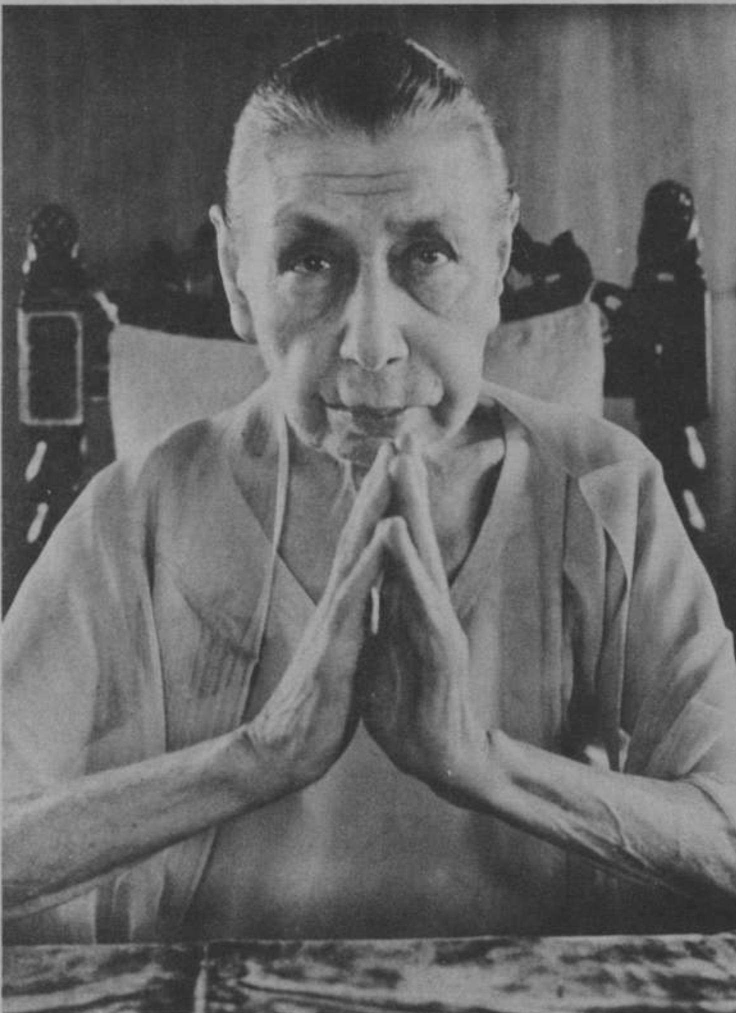

७ अक्तूबर, १९६४

साधारण दृष्टिसे नहीं, उच्चतर दृष्टिसे, वस्तुओंने स्पष्ट रूपसे ज्यादा अच्छा मोड़ ले लिया है। लेकिन भौतिक परिणाम फिर भी मौजूद है — सभी कठिनाइयां मानों बढ़ गयी हैं। केवल चेतनाकी शक्ति बढ़ गयी है — अधिक स्पष्ट, अधिक यथार्थ हो गयी है; सद्भावनावालोंपर उसकी क्रिया भी बढ़ गयी है; वे काफी बड़ी प्रगति करते हैं। लेकिन भौतिक कठिनाइयां मानों बढ़ गयी हैं, यानी यह. . . यह देखनेके लिये कि हम कसौटी-पर खरे उतरते हैं कि नहीं।

बात ऐसी है।

अभी बहुत समय नहीं हुआ (कल ही से तो), कोई चीज वातावरणमें स्पष्ट हो गयी है। लेकिन रास्ता अभी लंबा है — लंबा, लंबा। मुझे लगता है कि बहुत लंबा है। हमें टिकना चाहिये — टिकना, सबसे बढ़कर यही लगता है कि हमारे अंदर सहनशक्ति होनी चाहिये। ये दो चीजें एकदम अनिवार्य हैं: सहन-शक्ति और एक ऐसी श्रद्धा जिसे कोई चीज न डिगा सके, संपूर्ण प्रतीत होनेवाला निषेध भी नहीं, चाहे तुम्हें बहुत सहना पड़े, चाहे तुम (मेरा मतलब है शारीरिक दृष्टिसे दयनीय दशामें क्यों न हो), चाहे तुम थक जाओ, फिर भी टिके रहो, चिपके रहो और टिके रहो — सहनशक्ति होनी चाहिये। बस, यही बात है। डटे रहो। बस, यही बात है।

लेकिन मैंने जो कुछ सुना है, जो लोग रेडियो सुनते हैं, अखबार पढ़ते हैं (वे सब चीज जो मैं नहीं किया करती), उससे लगता है कि सारा संसार एक ऐसी क्रियामेंसे गुजर रहा है. . . जो इस समय बहुत विक्षुब्ध करती है। ऐसा लगता है कि "पागल लगनेवालों" की संख्या बहुत बढ़ती जा रही है। उदाहरणके लिये, ऐसा लगता है कि अमरीकामें, सभी जवान लोगोंके मस्तिष्कमें एक चकरानेवाली अजीब-सी लहर आयी है जो समझदार लोगोंको परेशान करनेवाली है, लेकिन निश्चय ही वह इस बातकी सूचक है कि कोई असाधारण शक्ति काममें लगी है। इससे सब आदतें और सभी नियम टूट रहे हैं — यह अच्छा है। अभीके लिये यह कुछ "अजीब" जरूर है, लेकिन है जरूरी।

क्या इस समय सच्ची वृत्ति यह नहीं है कि व्यक्ति जितना हो सके उतना पारदर्शक बननेकी कोशिश करे?

पारदर्शक और नयी शक्तिके प्रति ग्रहणशील।

> **मैं यह प्रश्न इसलिये करता हूं क्योंकि ऐसा लगता है कि यह पारदर्शकता है तो पारदर्शक पर कुछ-कुछ "कुछ नहीं" जैसी है, एक ऐसे कुछ "नहीं" की तरह जो भरा हुआ है, लेकिन फिर भी है कुछ नहीं — पता नहीं। पता नहीं, यह एक प्रकारका उत्कृष्ट "तमस्" न हो या...**

सबसे बढ़कर विश्वस्त होना। 'जड़-द्रव्य'में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि भौतिक चेतना (यानी, 'जड़-द्रव्य'में स्थित मन) कठिनाइयोंके — कठिनाइयों, रुकावटों, पीड़ाओं, संघर्षोंके दबावसे बनी है। कहा जा सकता है कि इन्हीं चीजोंने उसे "रूप दिया है" और उसपर लगभग निराशाकी, पराजयवादकी छाप लगा दी है और निश्चय ही यह सबसे बड़ी रुकावट है।

मैं अपने काममें इसीके बारेमें सचेतन हूं। सबसे अधिक भौतिक चेतना, सबसे अधिक भौतिक मन हमेशा मार खाकर काम करनेका, प्रयास करनेका, आगे बढ़नेका अभ्यस्त है; अन्यथा वह तमस्में बना रहता है। और फिर, यह जहांतक कल्पना कर सकता है, यह हमेशा कठिनाइयोंकी ही कल्पना करता है — हमेशा रुकावट या हमेशा विरोधकी कल्पना करता है, — और इससे गति भयंकर रूपसे धीमी पड़ जाती है। उसे यह विश्वास दिलानेके लिये कि इन सब कठिनाइयोंके पीछे भागवत कृपा है, इन सब असफलताओंके पीछे भागवत विजय है, इन सभी दुःखों, कष्टों और परस्पर विरोधोंके पीछे भागवत आनन्द है, उसे बहुत ठोस, गोचर और **बार-बार दोहरायी जानेवाली** अनुभूतियोंकी जरूरत होती है। सभी प्रयासोंमें यह एक ऐसा प्रयास है जिसे बार-बार दोहरानेकी जरूरत होती है, जिसे हमेशा रोकनेकी, अलग करनेकी जरूरत होती है, निराशा-वादको, संदेहको, पूर्ण रूपसे पराजयवादीकी कल्पनाको रोकने, अलग करने या बदलनेकी जरूरत होती है।

मैं केवल भौतिक चेतनाकी बात कर रही हूं।

स्वभावतः, जब कोई चीज ऊपरसे आती है जो एक... धमाकेके साथ यूं आती है (चपटा करनेका इंगित करते हुए), तब सब कुछ चुप हो जाता है, सब कुछ बन्द हो जाता है और प्रतीक्षा करता है। लेकिन... मैं भली-भांति समझ सकती हूं कि 'सत्य', 'सत्य-चेतना' अपने-आपको अधिक निरंतर रूपमें क्यों प्रकट नहीं करती, क्योंकि उसकी 'शक्ति'में और 'भौतिक

द्रव्य' की शक्तिमें इतना अधिक अंतर है कि 'भौतिक द्रव्य' की शक्ति लगभग रद्द-सी हो जाती है — लेकिन इसका अर्थ 'रूपांतर' नहीं, कुचल देना होगा। प्राचीन कालमें यही किया जाता था — एक ऐसी 'शक्ति' के भार तले, जिसका कोई विरोध नहीं कर सकता, जिसके साथ कोई संघर्ष नहीं कर सकता, सारी भौतिक चेतनाको कुचल दिया जाता था। तब लोगोंको लगता था: "लो, हो गया, काम बन गया।" लेकिन इससे काम न बनता था, बिलकुल नहीं! क्योंकि, बाकीकी भौतिक चेतना बिना बदले, जैसी-की-वैसी, नीचे बनी रहती थी।

अब उसे बदलनेका पूरा-पूरा अवसर दिया जा रहा है; और हां, तो इसके लिये उसे खुलकर खेलने देना होगा, उसपर ऐसी 'शक्ति'का हस्तक्षेप न लादना होगा जो उसे कुचल डाले। मैं इस बातको भली-भांति समझती हूं। लेकिन इस चेतनामें मूढ़ताकी जिद होती है। उदाहरणके लिये, पीड़ाके समय कितनी बार, जब तीव्र पीड़ा असह्य-सी होती हुई प्रतीत होती है तो (कोषाणुओंमें) 'पुकार'की एक छोटी-सी आंतरिक गति होती है — कोषाणु मानों संकट-संदेश भेजते हैं — सब कुछ बन्द हो जाता है, पीड़ा गायब हो जाती है और अक्सर उसका स्थान आनन्दमय कल्याणकी भावना (अब अधिकाधिक रूपमें) लेती जाती है। लेकिन यह मूढ़ भौतिक चेतना अपनी पहली प्रतिक्रिया करती है: "देखें, यह चीज कितनी देरतक टिकती है!" और स्वभावतः, अपनी इस गतिसे सब कुछ नष्ट कर देती है — सब कुछ फिरसे शुरू करना पड़ता है।

मेरा ख्याल है कि परिणामके स्थायी होनेके लिये — ऐसे चमत्कारिक परिणामके लिये नहीं जो आता है, आंखें चौंधिया देता है और चला जाता है — यह जरूरी है कि वह सचमुच **रूपांतर**का परिणाम हो। इसके लिये व्यक्तिमें बहुत, बहुत धीरज होना चाहिये — यहां हमें एक ऐसी चेतनासे पाला पड़ता है जो बहुत धीमी, बहुत भारी, बहुत आग्रही है, जो तेजीसे आगे नहीं बढ़ सकती, जो अपने पासकी हर चीजके साथ चिपक जाती है; उसे जो कुछ सत्य लगता है, चाहे वह एक बहुत ही छोटा सत्य क्यों न हो, वह उसके साथ चिपक जाती है और आगे नहीं बढ़ना चाहती। इसे ठीक करनेके लिये व्यक्तिमें बहुत, बहुत धीरज होना चाहिये — बहुत धीरज चाहिये।

सबसे बड़ी बात है टिके रहना — डटना, डटे रहना।

श्रीअरविन्दने यह बात बहुत बार कही है, अलग-अलग तरीकोंसे कही है: **"सहन करते चलो और विजय तुम्हारी होगी। ... सहते चलो — सहते चलो, तुम पराजित कर सकोगे।"**

सबसे अधिक सहनशीलकी ही विजय होती है।

और इस समूहके लिये मुझे यही सीख मालूम होती है (माताजी अपने शरीरकी ओर संकेत करती हैं)— मुझे लगता है कि ये शरीर कुछ समूह ही हैं और जबतक उनके पीछे किसी-न-किसी कारण उन्हें इकट्ठा रखनेका संकल्प-बल रहता है तबतक ये साथ रहते हैं। इन दिनों, कल या परसों, इस प्रकारकी एक अनुभूति हुई : एक प्रकारकी पूरी तरहसे विकेंद्रित चेतना (मैं **हमेशा** भौतिक चेतनाकी बात करती हूं, उच्चतर चेतनाकी बिलकुल नहीं), एक ऐसी विकेंद्रित चेतना जो यहां, वहां, उधर, इस शरीरमें, उस शरीरमें (उसमें जिसे लोग "यह व्यक्ति" या "वह व्यक्ति" कहते हैं, लेकिन इस धारणाका बहुत अस्तित्व नहीं है), तब कोषाणुओंकी ओर वैश्व चेतनाका मानों हस्तक्षेप-सा हुआ। मानों उसने इन कोषाणुओंसे पूछा कि वे इस मेलको क्यों बनाये रखना चाहते हैं या यूं कहें, इस समूह या राशिको क्यों बनाये रखना चाहते हैं? उन्हें समझाया या अनुभव कराया गया कि वर्षोंकी संख्या बढ़नेके साथ तकलीफें कैसे बढ़ेंगी, टूट-फूट, बाहरी कठिनाइयां, और अंतमें रगड़के कारण, उपयोगके कारण सारी घिसाई और विकृति — यह उन्हें एकदम उपेक्षणीय लगता था। उत्तर इस अर्थमें काफी मजेदार था कि ऐसा लगता था कि वे **उच्चतर 'शक्ति'के साथ संपर्क**की **क्षमताको बनाये रखनेके सिवा** और किसी चीजको महत्त्व नहीं देते। यह एक अभीप्साके जैसी चीज थी (स्वभावतः, शब्दोंके रूपमें न आयी थी), जिसे अंग्रेजीमें "यर्निग" या "लौंगिंग" कहते हैं, यानी भागवत शक्ति, 'सामंजस्यकी शक्ति', 'सत्यकी शक्ति', 'प्रेमकी शक्ति'के साथ संपर्कके लिये ललक या लालसा थी। और इसी कारण वे वर्तमान मेलको पसंद करते हैं।

यह एक बिलकुल अलग दृष्टिकोण है।

मैं इसे मनके शब्दोंके द्वारा समझा रही हूं, क्योंकि और कोई उपाय ही नहीं है, लेकिन यह कोई और चीज न होकर संवेदनके क्षेत्रकी चीज थी। और यह बिलकुल स्पष्ट थी — यह बहुत स्पष्ट और बहुत अविच्छिन्न थी, इसमें कोई उतार-चढ़ाव न थे। हां, तो ऐसे समय इस वैश्व चेतनाका हस्तक्षेप हुआ और उसने कहा : "यह रही रुकावटें।" ये रुकावटें स्पष्ट रूपसे दिखायी दीं (मनकी निराशाका यह प्रकार — एक ऐसे मनकी जिसने अभी रूप ग्रहण नहीं किया है, जो पैदा होनेको है और अपने-आपको कोषाणुओंमें व्यवस्थित करनेको है), लेकिन स्वयं कोषाणुओंने इसकी जरा भी परवाह न की; यह चीज उन्हें एक बीमारीके रूपमें दिखायी दी (यह शब्द विकार है, लेकिन उन्हें ऐसा लगा कि मानों कोई दुर्घटना या अनिवार्य रोग था या कोई ऐसी चीज थी जो उनके सहज विकासका **अंश न थी** और

उनपर लाद दी गयी थी)। और फिर, **उस क्षणसे,** एक प्रकारकी **घटिया** शक्तिने जन्म लिया जो इन चीजोंपर (भौतिक मनपर) क्रिया कर सके; उसने वह **द्रव्यात्मक** शक्ति दी जो अपने-आपको इससे मुक्त कर सके और इसे त्याग सके! और इसके बाद वह मोड़ आया जिसकी मैंने अभी बात की है, समग्र परिस्थितियोंमें मोड़, मानों सचमुच कोई निर्णायक चीज हुई है। एक विश्वासपूर्ण आनंद था: "आहा! हम इस दुःस्वप्नसे मुक्त हैं।"

और साथ-ही-साथ, एक छुटकारा — एक भौतिक छुटकारा, मानों हवामें सांस लेना ज्यादा आसान हो गया है... हां, कुछ-कुछ ऐसा मानों हम सीपमें — दम घोटनेवाली सीपमें बंद हों — और... बहरहाल, उस-में एक छिद्र बन गया हो। और तुम सांस लेने लगो। मुझे नहीं मालूम कि यह इससे कुछ अधिक था या नहीं। यह ऐसा है मानो कहीं दरार पड़ गयी, एक छेद बन गया और अब सांस ली जा सकती है।

और यह सर्वथा भौतिक, कोषाणुगत कार्य था।

लेकिन जैसे ही तुम इस क्षेत्रमें, कोषाणुओंके क्षेत्रमें, उनके संघटनमें उतरते हो तो ऐसा लगता है कि वे कम भारी हो गये हैं। 'भौतिक द्रव्य'-का इस प्रकारका भारीपन गायब होने लगता है — वह फिरसे द्रव, स्पंदन-शील होने लगता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि भारीपन, मोटापन, तमस्, निश्चलता पीछेसे **जोड़ी हुई** चीजें हैं, तात्त्विक और अनिवार्य गुण नहीं हैं...। हम जिसे अनुभव करते, जिसके बारेमें सोचते हैं वह मिथ्या 'भौतिक द्रव्य' है, स्वयं 'भौतिक द्रव्य' नहीं। यह स्पष्ट हो गया।

(मौन)

आदमी अच्छे-से-अच्छा यही कर सकता है कि कोई पक्ष न ले, पहलेसे सोचे हुए विचार या सिद्धांत न अपनाये — ओह! ये नैतिक सिद्धांत, आच-रणके बंधे नियम, आदमीको क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये और नैतिक दृष्टिसे पूर्वकल्पित विचार, प्रगति और नैतिक और मान-सिक रूढ़ियोंके अनुसार पूर्वकल्पित विचार... इनसे बुरी कोई और बाधा नहीं हो सकती। ऐसे लोग हैं, मैं ऐसे लोगोंको जानती हूं जिन्होंने इन मानसिक रचनाओंमेंसे **एक**पर विजय पानेके लिये दशाब्दियां नष्ट की हैं। ... अगर कोई इस तरह रह सके, खुला — सरलतामें सचमुच खुला रह सके, है न, एक ऐसी सरलतामें जो जानती है कि वह अज्ञानी है — इस तरह (ऊपरकी ओर, आत्म-समर्पणका संकेत करते हुए), जो कुछ आये उसे लेनेके लिये तैयार रहे, तो कुछ हो सकता है।

और स्वभावतः, प्रगतिकी प्यास, ज्ञानकी प्यास, अपने-आपको रूपांतरित करनेकी प्यास और इन सबसे बढ़कर दिव्य 'प्रेम' और 'सत्य'की प्यास — अगर तुम इस प्यासको रख सको तो गति तेज होगी। सचमुच प्यास हो, एक आवश्यकता हो, आवश्यकता।

बाकी सबका कोई महत्व नहीं है। सचमुच आवश्यकता बस **इसी**की है।

किसी ऐसी चीजके साथ चिपके रहना जिसे तुम समझते हो कि तुम जानते हो, किसी ऐसी चीजके साथ चिपके रहना जिसे तुम अनुभव करते हो, किसी ऐसी चीजके साथ चिपके रहना जिसे तुम प्यार करते हो, अपनी आदतोंके साथ चिपके रहना, तथाकथित आवश्यकताओंके साथ चिपके रहना, इस संसारके साथ, जैसा कि वह है, चिपके रहना — यही चीजें हैं जो तुम्हें बांधती हैं। तुम्हें एकके बाद एक इन सब चीजोंको खोलना होगा। सब गांठोंको खोलना होगा। यह बात हजारों बार कही जा चुकी है, फिर भी लोग वही चीज किये जाते हैं...। ऐसे लोग भी जो बोलनेमें बहुत होशियार हैं और दूसरोंको इस बातका उपदेश देते हैं, वे भी चिऽऽपऽऽके रहते हैं — वे अपने देखनेके ढंगसे, अपने अनुभव करनेके ढंगसे, अपनी प्रगतिके अभ्याससे चिपके रहते हैं। उन्हें लगता है कि उनके लिये वही एकमात्र रास्ता है।

बस, और बंधन नहीं — स्वाधीन, स्वाधीन। हर समय केवल एक चीजको छोड़कर सब कुछ बदलनेके लिये तैयार : वह चीज है अभीप्सा, यह प्यास।

मैं भली-भांति समझती हूं, ऐसे लोग हैं जो "भगवान्" के विचारको पसंद नहीं करते, क्योंकि यह तुरंत यूरोपीय या पाश्चात्य धारणाओंके साथ घुल-मिल जाता है (जो अपने-आपमें भयंकर हैं), और इससे उनके जीवनमें कुछ उलझनें आती हैं — लेकिन तुम्हें उसकी जरूरत नहीं है। तुम्हें उस "कुछ चीज" की जरूरत है, तुम्हें 'प्रकाश' की जरूरत है, तुम्हें 'प्रेम' की जरूरत है, तुम्हें 'सत्य' की जरूरत है, तुम्हें चरम 'पूर्णता' की जरूरत है — और बस इतना ही। और सूत्र — सूत्र जितने कम हों उतना अच्छा। लेकिन वह चीज, वह आवश्यकता, जिसे **वह** 'वस्तु-विशेष' ही पूरा कर सकती है — उसके सिवा और कुछ नहीं, कोई अधकचरा उपाय नहीं, केवल वही। और फिर, तुम चल पड़ो!... तुम्हारा मार्ग तुम्हारा मार्ग होगा, उसका कोई महत्त्व नहीं है — वह कोई भी क्यों न हो, कोई भी, आधुनिक अमरीकी युवाओंकी उच्छृंखलताका मार्ग भी हो सकता है, इसका कोई महत्त्व नहीं।

जैसा श्रीअरविन्दने कहा है : "अगर तुम भगवान्का प्रेम नहीं पा सकते तो ठीक है उनसे युद्ध करनेके लिये तैयार हो जाओ। अगर वे तुम्हें

प्रेमीका आलिंगन न दें तो कुश्तीमें पहलवानका आलिंगन ही सही"[1] (... क्योंकि निश्चित रूपसे वे ही जीतेंगे)।

१२ जनवरी, १९६५

...सारी बात है डटे रहना और डटे रहनेके लिये मैंने बस एक ही उपाय पाया है, वह है 'शांत-स्थिरता', आंतरिक शांत-स्थिरता — एक ऐसी शांत-स्थिरता जिसका मतलब है..... कैसे कहा जाय? जैसे-जैसे संघर्ष अधिक भौतिक होता जाय, वैसे-वैसे अधिक पूर्ण होना।

कुछ समयसे (विशेषकर पहली जनवरीसे), विरोधी शक्तियोंकी ओरसे एक प्रकारकी बमबारी हो रही है — एक प्रकोप है, समझे? अतः हमें ऐसे डटे रहना चाहिये (माताजी मूर्तिवत् स्थिर हो जाती हैं), बस, यही। और जब तुम्हें भौतिक रूपसे बहुत जोरका धक्का लगे तो तुम्हें अपने शरीरसे बहुत अधिक मांग न करनी चाहिये, उसे बहुत-सी शांति, बहुत-सा आराम देना चाहिये।

मुश्किल यह है कि मैं अपने शरीरकी अवस्थामें बहुत फंसा रहता हूं, मेरी बहुत-सी चेतना उसीमें चली जाती है — उदाहरणके लिये, भौतिक मन मेरे ऊपर पूरी तरह आक्रमण करता है।

हां, मैं भली-भांति जानती हूं। लेकिन यह तो हमेशाकी कठिनाई है, हर एककी यह कठिनाई है। इसीलिये भूतकालमें तुमसे कहा जाता था: "तुम निकल जाओ! इसे यहीं कीचड़में अकेला तड़पड़ाने दो – तुम निकल जाओ।" लेकिन हमें यह करनेका अधिकार नहीं है। यह हमारे कार्यके विपरीत है। तुम जानते हो, अपने शरीरके बारेमें पूरी स्वाधीनता प्राप्त की जा सकती है, यहांतक कि तुम्हें कुछ भी अनुभव न हो, जरा भी नहीं। लेकिन मुझे अब यह भी अधिकार नहीं है कि अपने-आपको बाहर निकाल सकूं, जरा सोचो तो। जब मैं काफी अस्वस्थ होती हूं या जब चीजें काफी कठिन होती हैं या तब जब मैं जरा चुपचाप रह पाती हूं, यानी, रातको, उस समय

---

[1]'विचार और सूत्र'

मैं अपने-आपसे कहूं : "काश ! मैं अपने आनंदमें जा सकूं"— तो इसकी भी अनुमति नहीं है। मैं इससे बंधी हूं (माताजी अपने शरीरको छूती हैं) यहां, इसमें उपलब्धि करनी है।

यह इसीके लिये है।

कभी-कभी किसी कार्य विशेषके लिये (कभी-कभी यह बिजलीकी कौंधकी तरह आती है, कभी केवल कुछ मिनटोंके लिये,) वह महान् 'शक्ति' जो पहले यहां थी, जिसका हमेशा अनुभव किया जा सकता था, तेजीसे आती है, अपना काम करती है और चली जाती है। लेकिन इस शरीरपर कभी नहीं। वह इस शरीरके लिये कभी कुछ नहीं करती — ऊपरसे आनेवाला हस्तक्षेप परिवर्तन नहीं लायगा, वह . . . अंदरसे आयगा।

यही चीज तुम्हारे अंदर हो रही है और उन सबमें हो रही है जो काम कर रहे हैं, यही कठिनाई है। इसीलिये मैं तुमसे कहती हूं : "इसकी परवाह मत करो, अगर तुम अपने शरीरके साथ व्यस्त रहते हो तो चिंताकी कोई बात नहीं है : उससे **लाभ उठानेकी** कोशिश करो — उस व्यस्ततासे लाभ उठानेकी कोशिश करो — इसमें 'शांति', 'शांति' लाओ।" मैं तुम्हें मानों हमेशा शांतिके कोयेमें लपेटे रहती हूं। और फिर, अगर तुम इस स्पन्दित होनेवाले मनमें जो हमेशा हिलता रहता है, जो सचमुच बंदरकी तरह विचलित होता रहता है, अगर तुम उसके ऊपर . . . इस 'शांति'को प्रतिष्ठित कर सको — जो **सीधी** भौतिक स्पंदनोंपर कार्य करती है — एक ऐसी 'शांति' जिसमें हर चीज विश्राम करती है।

यह मत सोचो — भौतिक मनको रूपांतरित करनेके प्रयासके बारेमें, उसे चुप करने या उखाड़ फेंकनेके बारेमें मत सोचो; यह सब फिर भी क्रियाशीलता है। बस, चुपचाप उसे चलते रहने दो, लेकिन . . . 'शांति' रखो, 'शांति'का अनुभव करो, 'शांति' ही जियो, 'शांति'को जानो—'शांति', 'शांति'।

यही एकमात्र चीज है।

२४ मार्च, १९६५

'स' ने एक बुरा स्वप्न देखा है : वह एक ऐसे मकानपर जा पहुंची जिसपर निगरानी रखनी चाहिये थी, लेकिन किसीने निगरानी रखी नहीं; शत्रु अंदर घुस गये। 'स' उस घरमें

घुस गयी। उसने एक कमरा देखा जिसमें श्रीअरविंद थे। श्रीअरविंदके पांवमें घाव था; वे कराह रहे थे। उन्हें उन विरोधियोंने घायल कर दिया था जिन्हें मकानमें प्रवेश करने दिया गया था। श्रीअरविंदको घायल देखकर वह दौड़ी, आपको ढूंढनेके लिये दौड़ी।

यह शायद ११ फरवरीकी घटनाका प्रतीक मात्र है।[1]

पैरका मतलब है कोई भौतिक चीज।

मेरा ख्याल है कि यह यही है कि जो हुआ है उसका यह प्रतीक मात्र है।

यह कोई ऐसी चीज तो नहीं है जो होनेवाली है?

पूर्वसूचक? नहीं।

पैरसे मतलब है कुछ लोगोंके द्वारा, आश्रमके द्वारा या मेरे द्वारा होनेवाला उनका भौतिक कार्य।

मुझे नहीं लगता कि यह गंभीर है। यह जो हो चुका है उसीका चित्र है और जो कहीं अंकित है।

(मौन)

यह एक अजीब-सा परिणाम है। कुछ समयसे, लेकिन ज्यादा-से-ज्यादा यथार्थ रूपमें, जब मैं कोई चीज सुनती हूं या मुझे कोई चीज सुनायी जाती है या मैं संगीत सुनती हूं या कोई मुझे कोई घटना सुनाता है तो मैं उसे तुरंत अनुभव करती हूं; उस क्रियाका आरंभ, वह जिस स्तरपर हो रही है या उसकी प्रेरणाका मूल स्रोत अपने-आप किसी-न-किसी केंद्रमें स्पंदनोंके द्वारा मालूम हो जाता है। और फिर, स्पंदनके गुणके अनुसार यह रचनात्मक या नकारात्मक चीज होती है और जब वह, निश्चित समय-पर, चाहे कितना भी कम क्यों न हो, किसी 'सत्य'के क्षेत्रको छूती है तो.. कैसे कहा जाय? आनंदके स्पंदनकी एक चिनगारी-सी प्रतीत होती है। विचार एकदम नीरव होता है, अचल, शून्य — बस शून्य होता है (माताजी संपूर्ण समर्पणकी मुद्रामें अपने हाथ ऊपरकी ओर खोलती हैं)। परंतु

---

[1]११ फरवरीको कुछ लोगोंने आश्रमपर आक्रमण किया था। कुछ मकान लूटे और जलाये थे।

यह बोध अधिकाधिक यथार्थ होता जा रहा है। और इससे मैं जानती हूं —मैं जानती हूं कि प्रेरणा कहांसे आती है, क्रिया कहां स्थित है और वस्तुका स्तर क्या है।

यह एक यथार्थता है! ओह! ब्योरेमें अत्यंत सूक्ष्म। पहली बार मैंने इसे स्पष्ट रूपमें "भागवत मुहूर्त"का संगीत सुनते हुए अनुभव किया था; वह पहली बार था और उस समय मुझे मालूम न था कि यह एक सुसंगठित वस्तु, एक प्रकारकी व्यवस्थित अनुभूति थी। लेकिन अब, इतने महीनोंके बाद, नियमित हो गया है और मेरे लिये बिलकुल निश्चित संकेत है, यह किसी सक्रिय विचार, किसी सक्रिय संकल्पके अनुरूप नहीं है — बस, मैं स्पंदनोंको अंकित करनेके लिये बहुत अधिक सूक्ष्म यंत्र हूं। मुझे इस तरह पता लगता है कि चीजें कहांसे आती हैं। कोई विचार नहीं होता। स्वप्नका स्पंदन मेरे पास इसी तरह आया था (माताजी नीचेकी ओर, पैरोंतले संकेत करती हैं), वह अवचेतनाके क्षेत्रका था। इसलिये मैं जान गयी कि यह अंकित करनेकी बात थी।

उस दिन जब 'ज' मुझे अपना लेख सुना रहा था तो यह उदासीन था (माताजी अस्पष्ट-सा मध्य ऊंचाईकी ओर संकेत करती हैं), सब समय उदासीन, फिर अचानक 'आनंद'की एक चिनगारी आयी; इसीने मुझे उसका मूल्य बतलाया। और अभी, जब तुम 'क्ष' का यह लेख पढ़ रहे थे तो प्रकाशकी एक छोटी-सी किरण थी (कंठकी ऊंचाईतक संकेत करते हुए), तब मुझे पता चला। एक सुखद प्रकाशकी किरण — 'आनंद'का नहीं, परंतु एक सुखद प्रकाश। इसलिये मैंने जाना कि उसमें कुछ है।

इसमें अनेक स्तर हैं, लगभग अनगिनत गुण हैं, है न?

वस्तुओंकी स्थितिको जाननेके लिये मुझे यह उपाय दिया गया है।

और यह विचारसे बिलकुल बाहर, एकदम बाहरकी चीज है। और बादमें, उदाहरणके लिये, जब तुमने मुझसे स्वप्नके बारेमें पूछा तो मैंने कहा और एक प्रकारकी निश्चितिके साथ कहा : "न्यायतः, चूंकि स्पंदन यहां है (नीचेकी ओर संकेत) यह स्मृति होनी चाहिये।" क्योंकि . . . बोध पूरी तरह निर्वैयक्तिक है।

यह अद्भुत रूपसे नाजुक यंत्र है और इसकी ग्रहणशीलताका क्षेत्र (क्रमका संकेत) लगभग अनंत है।

अब मेरा लोगोंको जाननेका तरीका भी ऐसा ही है। लेकिन एक लंबे अर्सेसे, उदाहरणके लिये, जब मैं किसीका फोटो देखती हूं तो वह विचारमेंसे होकर बिलकुल नहीं गुजरता, यह निगमन या अंतर्भास नहीं होता — वह किसी भागमें स्पंदन पैदा करता है। और तब मजेदार बातें भी होती हैं।

उस दिन मुझे किसीका फोटो दिया गया, उत्तर देनेवाला स्पंदन जिस स्थानको छूता है उससे मैं ठीक अनुभव कर लेती हूं। मुझे मालूम हुआ कि इस आदमीको विचारोंसे काम करनेकी आदत है और इसमें पढ़ानेवालेका आत्म-विश्वास है। मैं जाननेके लिये पूछती हूं: "यह आदमी क्या करता है?" मुझसे कहा जाता है कि यह व्यापारी है। तब मैंने कहा: "लेकिन यह व्यापारके लिये नहीं बना, यह व्यापारकी बात बिलकुल नहीं समझता।" तीन मिनटके बाद मुझसे कहा गया: "ओ, क्षमा कीजिये, यह प्रोफेसर है!" (माताजी हंसती हैं) तो बात ऐसी है।

निरंतर, निरंतर ऐसा होता है।

और संसारका मूल्यांकन, संसारके स्पंदन।

इसीलिये मैंने तुमसे अभी अपना हाथ देनेके लिये कहा था — क्यों? केवल स्पंदन लेनेके लिये। मुझे ऐसा लगा जिसे अंगरेजीमें एक प्रकारकी "डलनेस" या उदासी कहते हैं। मैंने अपने-आपसे कहा: "इसकी तबीयत ठीक नहीं है।"

और इसमें कोई सोच-विचार नहीं, कुछ भी नहीं, सिर्फ ऐसे (माताजी ऊपरकी ओर आत्म-समर्पणकी मुद्रामें रहती हैं)।

हां, तो फिर वह क्या चीज है जो ठीक नहीं है? (माताजी हंसती हैं) हां, यह एक प्रकारकी "उदासी या मंदता" है।

हां, मैं 'जड़-द्रव्य' में बहुत ज्यादा धंसा हुआ हूं।

हां, यही है।

और यह मजेदार नहीं है।

नहीं, लेकिन तुम उसमेंसे बाहर नहीं निकल सकते?

मैं परेशान हूं और मेरा शरीर भी मेरी सहायता नहीं करता।

ओह! नहीं, शरीर कभी सहायता नहीं करता, अब मुझे इसका विश्वास है। तुम किसी हदतक अपने शरीरकी सहायता कर सकते हो (बहुत नहीं, फिर भी किसी हदतक), तुम शरीरकी सहायता कर सकते हो। लेकिन शरीर तुम्हारी सहायता नहीं करता। उसके स्पंदन हमेशा धरतीपर होते हैं।

हां, यह भारी है।

बिना अपवादके। बिना अपवादके यह नीचे ले जाता है, और सबसे बढ़-कर यह: यह ऐसा है जो तुम्हें उदास, मंद बनाता है — वह स्पंदित नहीं होता।

यह भारी है।

लेकिन मैं जिस साधनाका अनुसरण कर रही हूं उसमें कुछ रास्ता दिखाने-वाले सूत्र हैं जिनका तुम अनुसरण कर रहे हो। मेरे पास श्रीअरविन्दके कुछ वाक्य हैं...। अन्य साधनाओंके लिये मुझे आदत थी: उन्होंने जो कुछ कहा वह स्पष्ट था, उसने रास्ता दिखाया, ढूंढ़नेकी जरूरत नहीं पड़ी; लेकिन यहां उन्होंने ऐसा नहीं किया। उन्होंने केवल समय-समयपर कुछ कहा या टिप्पणियां की हैं और मेरे लिये ये टिप्पणियां उपयोगी हैं (और रात भी है जब मैं उनसे मिलती हूं, लेकिन मैं उसपर बहुत अधिक निर्भर नहीं रहना चाहती क्योंकि...तुम इस संपर्कके लिये बहुत व्यग्र हो उठते हो और इससे सब कुछ बिगड़ जाता है)। कुछ टिप्पणियां हैं जिन्हें मैंने संजो रखा है और वे हां, वे मार्ग-दर्शक सूत्र हैं, उदाहरणके लिये, "सहन करो...सहन करो।"

मान लो, तुम्हें कहींपर दर्द है। सहजवृत्ति (शरीरकी सहजवृत्ति, कोषाणुओंकी सहजवृत्ति), यही है कि इससे दूर हटो, इसे त्यागो — यह सबसे बुरी चीज है और यह हमेशा बढ़ाती है। इसलिये पहली चीज जो अपने शरीरको सिखानी चाहिये वह है: स्थिर-शांत रहना — कोई प्रति-क्रिया न हो। और सबसे बढ़कर, कोई बेचैनी न हो। अस्वीकृतिकी कोई गतितक न हो — संपूर्ण निश्चलता। यह शारीरिक समता है।

संपूर्ण निश्चलता।

संपूर्ण निश्चलताके बाद आती है आंतरिक अभीप्सा (मैं हमेशा कोषा-णुओंकी अभीप्साकी बात करती हूं — जिसके लिये कोई शब्द नहीं है उसके लिये मैं शब्दोंका प्रयोग करती हूं क्योंकि इन्हें छोड़कर अपनी बात करनेका कोई उपाय भी तो नहीं है), समर्पण, यानी, भागवत इच्छा या भागवत संकल्पको, (जिसे तुम नहीं जानते), उसे **सहज रूपमें** और **पूर्णतः** स्वीकार करना। क्या सर्व संकल्प चाहता है कि चीजें इस दिशामें चलें या उस दिशामें जायं, यानी, कुछ तत्त्वोंके विघटनकी ओर जायं या फिर...?

और इसमें भी फिर अनंत छटाएं हैं। दो ऊंचाइयोंके बीचके एक मार्गकी

बात है (यह न भूलो, मैं कोषाणुगत उपलब्धियोंकी बात कर रही हूं), मेरा मतलब यह है कि तुम्हारे अंदर एक आंतरिक स्थिरता है, गतिकी स्थिरता, जीवनकी स्थिरता। यह तो जानी हुई बात है कि एक गतिसे उच्चतर गतिकी ओर जाते हुए प्रायः हमेशा ही अवतरण होता है और तब चढ़ाई आती है — यह संक्रमण है। तब तुम्हें जो धक्का लगता है वह तुम्हें नीचेकी ओर धकेल देता है ताकि तुम फिर ऊपर उठ सको? या फिर तुम्हें नीचेकी ओर धक्का देता है ताकि तुम पुरानी गतियोंको छोड़ दो? सत्ताके कोषाणुगत मार्ग हैं जिन्हें गायब हो जाना चाहिये ताकि अन्य मार्गोंको स्थान मिल सके? फिर दूसरे उपाय ऐसे हैं जो ऊपरकी ओर, उच्चतर सामंजस्य और संगठनके साथ ऊपर उठनेकी प्रवृत्ति रखते हैं। यह दूसरी बात है। तुम्हें पहलेसे यह **सोचे-विचारे बिना** कि क्या होना चाहिये प्रतीक्षा करनी चाहिये और देखना चाहिये। सबसे बढ़कर क्या यही इच्छा नहीं है — यह इच्छा कि हम आरामसे रहें, यह इच्छा कि हम शांतिसे रहें, यह सब बंद होना चाहिये, एकदम गायब होना चाहिये। तुम्हारे अंदर बिलकुल कोई प्रतिक्रिया न होनी चाहिये, इस तरह (हथेलियां खोले हुए ऊपरकी ओर निश्चल निवेदनका संकेत)। और जब व्यक्ति ऐसा हो, यहां व्यक्तिका अर्थ है कोषाणु, तो कुछ समय बाद गतिकी श्रेणीका बोध होता है। तुम्हें केवल उसका अनुसरण करना होता है यह जाननेके लिये कि यह ऐसी चीज है जिसे गायब हो जाना चाहिये और जिसके स्थानपर किसी और चीजको आना चाहिये (जो अभी अज्ञात है); या यह कोई ऐसी चीज है जिसका रूपांतर किया जाना है।

और इसी तरह। सारे समय ऐसा ही होता है।

यह सब तुम्हें यह बतलानेके लिये है कि विचार एकदम निश्चल है। हर चीज प्रत्यक्ष रूपमें प्रकट होती है: यह स्पंदनका सवाल है। केवल इसी तरीकेसे जाना जा सकता है कि क्या किया जाना चाहिये। अगर चीज मनमेंसे गुजरे, विशेषकर भौतिक विचारणासे जो बिलकुल, एकदम मूढ़ है, तो तुम कुछ नहीं जान सकते। जबतक वह क्रियाशील रहे तबतक तुमसे वह करवाया जाता है जो नहीं करना चाहिये, विशेष रूपसे बुरी प्रतिक्रियाएं करवायी जाती हैं — ऐसी प्रतिक्रियाएं जो अव्यवस्था और अंधकारकी शक्तियोंका विरोध करनेकी जगह उनकी सहायता करती हैं। मैं चिंताकी बात नहीं कर रही क्योंकि बहुत लंबे समयसे मेरे शरीरमें कोई चिंता नहीं है — लंबे अरसेसे, कई वर्षोंसे — चिंता करना जहरका प्याला पीनेके समान है।

इसीको भौतिक योग कहा जाता है।

इस सबपर विजय पानी है। और यह करनेका एकमात्र उपाय है : हर क्षण सभी कोषाणु (ऊपरकी ओर निश्चल समर्पणकी मुद्रामें) आराधना और अभीप्सामें रहें —— आराधना और अभीप्सा, आराधना . . . बस और कुछ नहीं। तब,' कुछ समय बाद हर्ष भी आयगा और अंतमें आयगा आनंद-मग्न विश्वास। जब यह विश्वास जम जायगा तो सब कुछ ठीक होगा। लेकिन . . . यह कहना बहुत आसान है, इसे करना बहुत अधिक कठिन है। लेकिन अभी तो मुझे विश्वास है कि यही एकमात्र उपाय है, और कोई उपाय नहीं।

२१ अगस्त, १९६५

१५ अगस्तसे रूपांतरके लिये तैयारीका पूरा-पूरा काम चल रहा है। इसे क्या नाम दिया जाय? . . . . . . शक्तिका हस्तांतरण।

सभी कोषाणु, सारी भौतिक चेतना आंतरिक व्यक्तिगत चेतना —— बहुधा चैत्य या मानसिक चेतना —— की आज्ञा मानते हैं, (लेकिन मन, वह तो बहुत समयसे नीरव है)। लेकिन अब, यह भौतिक मन भी अपने-आपको दूसरेकी तरह या यूं कहें, दूसरोंकी तरह, सत्ताके अन्य सब स्तरोंपर मनकी तरह व्यवस्थित करनेमें लगा है।

यह मानों एक प्रकारसे निर्देशक संकल्पका स्थानांतरण है। यहां, यह एक भौतिक, द्रव्यात्मक आश्चर्यके जैसा है। नये पथ-प्रदर्शनके साथ तादात्म्यकी जरूरत है —— यह जरा कठिन है। इसे समझाना भी मुश्किल है. . अब यह वही चीज नहीं है जो तुमसे काम करवाती है। यहां "काम करने"का मतलब सब कुछ है, हिलना-डुलना, चलना —— सब कुछ। अब यह वही केंद्र नहीं है। और फिर, अगर तुम आदतके मारे पुराने केंद्रसे चिपके रहना चाहो, तो! इससे एक बड़ी अव्यवस्था पैदा हो जाती है। तुम्हें बहुत ज्यादा सावधानी रखनी चाहिये कि आदत, पुरानी आदत अपने-आपको प्रकट या अभिव्यक्त न कर पाय।

यह कहना मुश्किल है। यह बहुत ज्यादा क्रिया मात्र है।

यहां, विचार अपने-आपको मस्तिष्कमें अनुकूल बनानेमें कठिनाई अनुभव करता है।

क्योंकि पिछले दो दिन (यानी, लगातार दो दिनतक), सारे समय एक

अभीप्सा रही : "जब यह नया जगत् यहां भौतिक रूप लेगा तो कैसा होगा ? यह नया जगत् कैसा होगा ?" इसने मुझे इतना ज्यादा "अंदर" भेज दिया कि मैं . . . मैं दूर नहीं थी, लेकिन मेरे और वर्तमान जगत्के बीच धुंधका कंबल-सा था। वह आज भी था।

(मौन)

उदाहरणके लिये, आज सवेरे, कुछ समयके लिये (मुझे पता नहीं कितनी देरके लिये, लेकिन बहुत कम समय नहीं : हो सकता है पाव घंटा या आधा घंटा हो, मुझे नहीं मालूम), कई बार शरीरके कोषाणुओंको, यानी, शरीरके रूपको यह अनुभूति हुई कि साथ रहना या विलीन हो जाना एक वृत्ति-विशेषपर निर्भर है — किसी वृत्ति या संकल्पपर; किसी ऐसी चीजपर जो वृत्ति और संकल्प, दोनोंपर निर्भर है। और फिर, बोधके साथ (कभी-कभी एक ही समय दो चीजोंके साथ, जिनमें एक है स्मृति और दूसरी ऐसी चीज जिसे जिया गया है), एक ऐसी चीजके बोधके साथ विलीन होनेका कोई कारण नहीं जो पुराने तरीकेसे स्मृतिके रूपमें, और नये तरीकेसे स्पष्टतः अपने ही चुनावके बिना, तुम्हें हिलाती-डुलाती, क्रिया करवाती, ज्ञान देती है — उसका कोई अर्थ नहीं, यह एक निरर्थक चीज है, उसके साथ विलीन क्यों हुआ जाय ?

और यदि उस समय जब कोई फिरसे गिर पड़े . . .। यह ठीक वही नहीं है : जब पुरानी चेतना फिरसे ऊपरी तलपर आती है, उस समय व्यक्ति बहुत सावधान न हो तो स्वभावतः मूर्च्छा आ जाती है।

ओह ! बहुत समयतक, पांचसे पौने छःतक, सारे समय ऐसा ही था।

और "उसी समय" यह जीवनकी अवास्तविकताका और एक वास्तविकताका, जिसे हम शाश्वत कह सकते हैं संवेदन होता है : मृत्युके संवेदनका अस्तित्व ही नहीं रहता, उसका अर्थ कुछ नहीं होता। यह एक चुनावमात्र होता है। और विस्थापन, उसका तो कोई अर्थ ही नहीं होता, उसके होनेका कोई कारण नहीं, वह एक भ्रांति है।

और फिर देखने, अनुभव करने, बोध प्राप्त करनेके सभी पुराने तरीके पीछे कंबल — धुंधके कंबल — की तरह रहते हैं। जो संपर्कको अस्पष्ट और अयथार्थ बना देते हैं।

अब जब कि मैंने फिरसे साधारण चेतनाको पा लिया है, मैं उस चीजको व्यक्त कर सकती हूं, अन्यथा उसे व्यक्त करना कठिन था। और वैषम्य या विरोध एक पीड़ा, यातना है। दोनों शिकायत करते हैं : एक-

को लगता है कि वह मूर्छित हो जाता है और नयेकी शिकायत होती है कि उसे चुपचाप नहीं रहने दिया जाता। जब तुम किसी एक या दूसरेमें हो तो ठीक रहता है, लेकिन जब दोनों साथ हों तो स्थिति बहुत सुखद नहीं होती। एक अनिश्चितताका भाव रहता है; तुम्हें भली-भांति पता नहीं होता कि तुम हो कहां? तुम्हें ठीक पता नहीं होता कि तुम यहां हो या तुम वहां हो।

लेकिन पहल करनेवाली इस शक्तिका परिवर्तन, या यूं कहें, शक्तिका यह स्थानान्तरण जिसने मेरे ऊपर एक अनोखी अनुभूतिका असर डाला, ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। दुर्भाग्यवश, यह बहुत समय नहीं रहा। लेकिन यह अनुभूति शरीरमें एक प्रकारकी निश्चिति छोड़ गयी है — वह भविष्यके बारेमें कम अनिश्चित है। यह अनुभूति मानों यह कहनेके लिये आयी थी कि "चीज ऐसी होगी।"

अगर वह बनी रहे तो इसका अर्थ है अमरता।

आप उस भौतिक मनकी व्याख्या कैसे करती हैं जो शक्तिके स्थानान्तरणका विषय था?

वह भौतिक मन नहीं है। भौतिक मन तो बहुत जमाने पहले बदल चुका है। यह तो द्रव्यात्मक मन था — नहीं; द्रव्यात्मक मन भी नहीं; **द्रव्यका मन** है। यह मनका वह तत्त्व है जो स्वयं 'द्रव्य'का, कोषाणुओंका है। इसे एक समय "रूप या आकारकी आत्मा" कहा जाता था। कहा जाता था कि जबतक आकारकी आत्मा बनी रहे तबतक ममीका शरीर सुरक्षित रहता है।[1] यही वह मन है, पूरी तरहसे द्रव्यात्मक मन। दूसरा, भौतिक मन तो बहुत पहले ही व्यवस्थित हो चुका था।

---

[1] १९५१ में एक बातचीतके दौरान माताजीने ममीकी कब्रोंका अपमान करनेके बारेमें कहा था: "भौतिक आकारमें, एक 'आकारकी आत्मा' होती है, और यह आत्मा कुछ समयके लिये तब भी बनी रहती है जब लोग कह देते हैं कि व्यक्ति मर गया। जबतक आकारकी आत्मा बनी रहती है, शरीर नष्ट नहीं होता। प्राचीन मिश्रमें लोगोंको यह ज्ञान था। वे जानते थे कि अगर शरीरको अमुक तरहसे तैयार किया जाय तो आकारकी आत्मा नहीं जायेगी और शरीर नष्ट न होगा।"

(श्रीमातृवाणी; खंड ४; प्रश्न और उत्तर १९५०-५१; १० मार्च, १९५१; पृ० २०१-२०२)

तब फिर भौतिक मन और द्रव्यात्मक मनमें फर्क क्या है?

भौतिक मन उस भौतिक व्यक्तित्वका मन है जो शरीरसे बनता है। यह शरीरके साथ विकसित होता है, पर यह द्रव्यका मन नहीं है, यह भौतिक सत्ताका मन है। उदाहरणके लिये, भौतिक मन ही चरित्र — शारीरिक चरित्र, भौतिक चरित्र — को बनाता है और यह बहुत हदतक पूर्वजोंके अनुरूप होता है और शिक्षाके द्वारा गढ़ा जाता है। यह सब "भौतिक मन" कहलाता है। हां, यह पूर्वजानुरूपताका, शिक्षाका, शरीरके गठनका परिणाम होता है; यही भौतिक चरित्रको गढ़ता है। उदाहरणके लिये, कुछ लोग धीर होते हैं, कुछ लोग मजबूत होते हैं, कुछ शरीरसे, मन और प्राणके कारण नहीं, शुद्ध रूपसे शरीरसे ही मजबूत होते हैं; वह एक चरित्र होता है। यह भौतिक मन है। यह पूर्ण योगका एक भाग है: तुम्हें इस भौतिक मनकी तपस्या करनी होती है। मैंने साठ वर्षसे भी पहले यह की थी।

उदाहरणके लिये, जो मन सहज रूपसे पराजयवादी होता है, जिसमें सब प्रकारके भय, आशंकाएं रहती हैं, जो हमेशा बुरी बातोंको ही देखता है, हमेशा उन्हीं बातोंको दोहराता रहता है वह भौतिक मन है या द्रव्यात्मक मन?

वह भौतिक मनका सबसे अधिक अचेतन भाग है और यही, भौतिक मन और इस द्रव्यात्मक तत्त्वके बीचकी कड़ी है। लेकिन यह पहलेसे ही व्यवस्थित मन है, समझे? यह मनको छूनेवाला, सबसे अधिक द्रव्यात्मक भाग है . . . इसे मन कैसे कहा जा सकता है? तुम इसे शारीरिक मन भी नहीं कह सकते — यह कोषाणुओंका मन है, यह कोषाणुगत मन है।

यह कोषाणुगत मन पशुओंमें भी होता है और इसका जरा-सा आरंभ (परंतु, बहुत ही जरा-सा, मानों एक प्रतिज्ञाके रूपमें) वनस्पतियोंमें भी है — वे मानसिक क्रियाका उत्तर देते हैं। वे उत्तर अवश्य देते हैं। जैसे ही जीवन प्रकट होता है, उसके साथ ही मनकी मानसिक गतिकी प्रतिज्ञा भी आती है। पशुओंमें यह स्पष्ट है। जब कि भौतिक मनका सच्चा अस्तित्व मनुष्यमें ही शुरू होता है। यह वही चीज है जो बिलकुल छोटे बच्चेमें भी होती है; उसमें भौतिक मन पहलेसे ही होता है। यानी, दो बच्चे एक ही-से नहीं होते, उनकी प्रतिक्रियाएं एक-सी नहीं होतीं। उस समय भी उनमें भेद होता है। सबसे बढ़कर यही चीज है जो तुम्हें

अपने शरीरके विशेष **रूप**के साथ दी गयी है। यह पूर्वजोंसे मिलती है और शिक्षाद्वारा विकसित होती है।

नहीं, जैसे ही तुम पूर्णयोगको अपनाओ वैसे ही तुम्हें भौतिक मनपर क्रिया करनी पड़ती है, जब कि द्रव्यात्मक मन, कोषाणुगत मन, मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं, एकदम नयी चीज है — यह एकदम नयी चीज है।

मन एक असमन्वित तत्त्व जैसा था जो हमेशा क्रियाशील रहता था परंतु व्यवस्थित या संगठित न था (माताजी सतत विह्वलताकी मुद्रा करती हैं)। अब वह अपने-आपको संगठित कर रहा है। यह महत्त्वपूर्ण बात है, क्योंकि श्रीअरविंदने कहा था कि इसे संगठित करना असंभव है, उसे जड़से ही उखाड़ देना होगा। मेरा भी यही ख्याल था। लेकिन जब कोषाणुओंपर रूपांतरकी निरंतर क्रिया हो तो यह द्रव्यगत मन संगठित होने लगता है, यह अद्‌भुत है — वह व्यवस्थित होने लगता है। और जैसे-जैसे वह व्यवस्थित होने लगता है वह **चुप** रहना सीखता है — और यह बहुत असाधारण बात है! वह चुप रहना सीखता है, अपने-आप नीरव रहकर, बिना कोई अड़चन डाले परम शक्तिको काम करने देता है।

सबसे बड़ी कठिनाई स्नायुओंमें है। क्योंकि वे सामान्य चेतनाके सचेतन संकल्पकी इतनी अभ्यस्त हैं कि जब यह बंद हो जाता है और जो बिलकुल ऊपर है उससे क्रियाकी मांग होती है तो वे पागल-सी हो जाती हैं। उस दिन मुझे यह अनुभूति हुई थी जो एक घंटेसे अधिक रही, वह कठिन थी, परंतु उसने मुझे बहुत, बहुत-सी चीजें सिखायीं। और इस सबको "शक्ति-का स्थानान्तरण" कहा जा सकता है। पहलेकी शक्ति अपने-आपको खींच लेती है और तब शरीर अपने-आपको नयी शक्तिके अनुकूल बना पाये, उससे पहलेका समय नाजुक होता है। चूंकि सभी कोषाणु निरंतर अभीप्साकी अवस्थामें होते हैं, इसलिये चीज अपेक्षाकृत जल्दी होती है, फिर भी ... मिनट लंबे होते हैं।

लेकिन कोषाणुओंमें एक प्रकारकी अधिकाधिक निश्चिति है कि जो कुछ होता है वह इस रूपांतर और निर्देशक शक्तिके स्थानान्तरणकी दृष्टिसे ही होता है। जब यह द्रव्यगत रूपमें (केवल भौतिक रूपमें नहीं: द्रव्यगत दृष्टिसे भी) पीड़ादायक होता है, तब भी कोषाणुओंमें वह निश्चिति बनी रहती है। तब वे प्रतिरोध करते हैं, वे अवसादके बिना पीड़ा सहते हैं, उनपर किसी तरहका असर नहीं होता। उन्हें यह निश्चिति होती है कि यह रूपांतरकी तैयारीके लिये है, कि यह रूपांतरकी प्रक्रिया और निर्देशक शक्ति-के स्थानान्तरणके लिये है। जैसा कि मैंने कहा, स्नायुओंमें पीड़ा सबसे

अधिक तीव्र होती है और यह स्वाभाविक है, वे ही सबसे अधिक संवेदनशील कोषाणु हैं, उनमें ही सबसे अधिक संवेदनशीलता है। लेकिन उनमें काफी अधिक, बहुत सहज, स्वाभाविक — बिना किसी प्रयासके — सामंजस्यपूर्ण भौतिक स्पंदनोंके प्रति सबल ग्रहणशीलता होती है (जो कि बहुत ही विरल है, किंतु कई व्यक्तियोंमें पायी जाती है), और यह भौतिक स्पंदन — जिसे **भौतिक शक्ति** कह सकते हैं, सामंजस्यपूर्ण भौतिक स्पंदन (यह सहज सामंजस्य बिना किसी मानसिक स्पंदनके होता है, जैसे उदाहरणके लिये, फूलके स्पंदन। ऐसे भौतिक स्पंदन होते हैं जो अपने अंदर सामंजस्यपूर्ण शक्तिका वहन करते हैं), स्नायुएं बहुत अधिक संवेदनशील और इस स्पंदनके प्रति ग्रहणशील होती हैं। यह स्पंदन उन्हें तुरंत ठीक कर देता है।

यह बहुत मजेदार है। इससे बहुत कुछ पता चलता है, बहुत-सी चीजोंका पता चलता है। एक दिन आयगा जब इस सबकी व्याख्या की जायगी और सब कुछ अपने स्थानपर रख दिया जायगा। लेकिन अभी यह प्रकट करनेका समय नहीं हुआ, लेकिन यह है बहुत मजेदार।

सचमुच मुझे लगता है कि यह संगठित हो रहा है, काम संगठित होना शुरू हो गया है।

स्वभावतः, हमें मानसिक संगठनके हस्तक्षेपसे बड़ी सावधानीके साथ बचना चाहिये। इसीलिये मैं बहुत अधिक समझानेकी कोशिश नहीं करती। तब मन आ जाता है और यह चीज यही नहीं रह जाती।

२७ नवम्बर, १९६५

माताजीने नवंबर दर्शन १९६५ के अवसरपर
जो संदेश दिया था। उसके बारेमें :

> **"निश्चय ही ज्योतिको जबरदस्ती उतारना, उसे खींच लेना एक भूल है। अतिमानसपर धावा नहीं बोला जा सकता। जब समय हो जायगा तो वह अपने-आप प्रकट हो जायगा। लेकिन पहले बहुत कुछ करना है और उसे धीरजके साथ, बिना जल्द बाजी-के करना चाहिये।"** **(श्रीअरविन्द)**

यह समझदार लोगोंके लिये अच्छा है। वे कहेंगे : "वे यहां चमत्कारोंका आश्वासन नहीं दे रहे।"

क्यों? क्या ऐसे बहुत-से लोग हैं जिनमें नीचे खींचनेकी वृत्ति है?

लोग जल्दीमें होते हैं। वे तुरंत परिणाम देखना चाहते हैं।

और वे यह मानते हैं कि वे अतिमनको खींच रहे हैं — वे किसी छोटी-सी प्राणिक सत्ताको नीचे खींच लाते हैं जो उनके साथ खिलवाड़ करती है और अंतमें उनसे कोई भद्दा तमाशा करवाती है। बहुधा यही होता है — सौमेंसे निन्यानवे बार।

एक छोटा-सा व्यक्तित्व, कोई प्राणिक सत्ता जो एक बड़ी भूमिका अदा करती है और बहुत दिखावा करती है, ज्योतिका अभिनय करती है; और बेचारा खींचनेवाला चौंधिया जाता है। वह कहता है: "यह लो, यह रहा अतिमन," और वह जालमें जा फंसता है।

जब तुम्हें सच्चे प्रकाशका किसी-न-किसी तरह संपर्क और दर्शन मिल गया हो और तुम्हें उसका स्पर्श मिल गया हो तभी तुम प्राणसे उसका भेद जान सकते हो। तब तुम्हें लगता है कि यह तो कृत्रिम प्रकाश, मंचपर प्रकाशके खेल जैसा है। अन्यथा, दूसरे लोग चौंधिया जाते हैं — वह चौंधियानेवाला और "अद्भुत" होता है और लोग धोखेमें आ जाते हैं। जब तुम सत्यका **दर्शन कर** चुके हो, उसके साथ नाता जोड़ चुके हो, केवल तभी तुम मुस्करा सकते हो।

यह नीम-हकीमी है। लेकिन नीम-हकीमीको पहचाननेके लिये तुम्हें सत्यको जानना चाहिये।

आधारमें, हर एक चीजके लिये एक ही बात है। प्राण एक बहुत श्रेष्ठ मंचके जैसा है जिसपर बहुत आकर्षक, चौंधियानेवाले, भ्रामक अभिनय होते रहते हैं। जब तुम 'सच्ची चीज'को जानते हो तभी तुम बिना तर्क-वितर्क किये, तुरंत सहज रूपमें जान जाते हो और कहते हो: "नहीं, मैं नहीं चाहता।"

और हर चीजके लिये ऐसा ही है। और मानव जीवनमें जहां इसने बहुत महत्त्व पा लिया है वह है प्रेम। प्राणिक आवेग, प्राणिक आकर्षणने प्रायः सब जगह सच्ची भावनाकी जगह ले ली है। सच्ची भावना शांत होती है जब कि यह दूसरी चीज बुदबुदन भर देती है। तुम्हें लगता है मानों कोई "जीवित" वस्तु है। यह बहुत भ्रामक है। और तुम यह

नहीं जानते, तुम उसे अनुभव नहीं करते। तुम उसे तबतक भली-भांति स्पष्ट रूपसे अनुभव नहीं कर सकते जबतक कि तुम 'सच्ची वस्तु' को नहीं जानते। अगर तुमने चैत्य और भागवत ऐक्यके द्वारा सच्चे प्रेमका अनुभव किया है तो यह दूसरी चीज खोखली, पतली, खाली दीखती है — एक आभासमात्र और वह भी उपहासास्पद, शायद उपहासास्पदकी अपेक्षा अधिक दुःखद।

व्यक्ति उसके बारेमें जो कुछ कहे, उसकी जैसे चाहे व्याख्या करे वह बेकार है। क्योंकि वह स्त्री या पुरुष जो इसमें फंसा है तुरंत कहता है: "ओह! यह दूसरोंकी तरह नहीं है।" — तुम्हें जो कुछ हो रहा है वह कभी वैसा नहीं होता जो दूसरोंको होता है(!) तुम्हें सच्ची अनुभूति होनी चाहिये, तब सारा प्राण एक मुखौटा-सा लगता है, जो आकर्षक नहीं है।

और जब तुम खींचना शुरू करते हो तो ओह! सौमें निन्यानवे बारसे भी ज्यादा... लाखोंमें एक ऐसा पाया जाता है जो 'सच्ची चीज'को खींचता है — यह सिद्ध करता है कि वह तैयार था, अन्यथा, हमेशा ही तुम प्राणको खींचते हो, आभासको, स्वयं 'वस्तु' को नहीं, 'वस्तु'के नाटकीय प्रदर्शनको खींचते हो।

खींचना हमेशा एक अहंकारपूर्ण गति होती है। यह अभीप्साका एक विकार है। सच्ची अभीप्सा देना है, आत्म-निवेदन है जब कि खींचना अपने लिये चाहना है। चाहे तुम्हें विचारोंमें ज्यादा विशाल महत्त्वाकांक्षा क्यों न हो — धरती, विश्व — इससे कोई फर्क नहीं पड़ता — ये मानसिक क्रियाएं हैं।

(लंबा मौन)

दर्शनके दिन तुम्हें कोई विशेष अनुभूति नहीं हुई?

नहीं।

सवेरेसे शामतक श्रीअरविंद यहां मौजूद थे।

हां, और एक घंटेसे ज्यादाके लिये उन्होंने मुझे उस जीवनमें रखा जो मानवजाति और मानवजातिके विभिन्न स्तरोंकी नयी या अतिमानसिक सृष्टिका जीवित और ठोस दृश्य था। वह अद्भुत रूपसे स्पष्ट, जीवित और ठोस था... वह सारी मानवजाति थी जो अब पूरी तरह पाशविक

नहीं है, जिसने मानसिक विकाससे लाभ उठाया है और अपने जीवनमें एक तरहका सामंजस्य पैदा किया है — एक ऐसा सामंजस्य जो प्राणिक, कलात्मक और साहित्यिक है — और उसमें रहनेवालोंका बहुत बड़ा भाग उससे संतुष्ट है। उन्होंने एक प्रकारका सामंजस्य पा लिया है और उसके अंदर वे ऐसा जीवन जीते हैं जैसे सभ्य परिस्थितियोंमें हुआ करता है, यानी, ऐसा जीवन जो कुछ-कुछ संस्कृत होता है, जिसमें परिष्कृत रुचियां और परिष्कृत आदतें होती हैं; उस सारे जीवनमें एक विशेष सौंदर्य होता है जिसमें वे आरामसे रहते हैं। जबतक कोई अनर्थ न हो जाय वे प्रसन्न और संतुष्ट रहते हैं, जीवनसे संतुष्ट रहते हैं। ऐसे लोग आकर्षित हो सकते हैं (क्योंकि उनमें रुचि है और वे बौद्धिक दृष्टिसे विकसित हैं), वे नयी शक्तियोंसे, नयी चीजोंसे भविष्यकी ओर आकर्षित हो सकते हैं; उदाहरणके लिये, वे मानसिक रूपसे, बौद्धिक रूपसे श्रीअरविंद-के शिष्य बन सकते हैं। लेकिन उन्हें भौतिक दृष्टिसे बदलनेकी जरा भी जरूरत नहीं मालूम होती और अगर वे बाधित किये जायं तो पहले यह अपक्व और न्यायके विपरीत होगा और बिलकुल व्यर्थमें उनके जीवनमें अव्यवस्था और गड़बड़ी पैदा करेगा।

यह बिलकुल स्पष्ट है।

और फिर कुछ ऐसे थे — बहुत ही विरले व्यक्ति — जो रूपांतरकी तैयारी करनेके लिये, नयी शक्तिको खींचनेके लिये, जड़-द्रव्यको अनुकूल बना लेने और अभिव्यक्तिके साधन खोजनेके लिये आवश्यक प्रयास करनेके लिये तैयार थे । ये लोग श्रीअरविंदके योगके लिये तैयार हैं । ये संख्यामें बहुत ही कम हैं। ऐसे लोग भी हैं जो यज्ञकी भावनासे भरे हैं। वे कठोर, कष्टप्रद जीवनके लिये भी तैयार हैं, यदि वह भावी रूपांतरकी तरफ ले जाय या उसमें सहायता दे। लेकिन उन्हें कभी, किसी प्रकार, दूसरोंको प्रभावित करनेकी कोशिश नहीं करनी चाहिये — उन्हें अपने प्रयासमें भाग लेनेके लिये मजबूर न करना चाहिये; यह बिलकुल अनुचित होगा — केवल अनुचित ही नहीं, बल्कि एकदम भद्दा भी। क्योंकि उससे वैश्व लय और गति या कम-से-कम पार्थिव गतिमें परिवर्तन आ जायगा और यह सहायता करनेकी जगह संघर्ष और अंतमें अव्यवस्था पैदा करेगा।

लेकिन वह इतना जीवंत था, इतना वास्तविक था कि मेरी सारी वृत्ति (कैसे कहा जाय? एक निष्क्रिय वृत्ति जो सक्रिय संकल्पका परिणाम नहीं है), काममें मेरी स्थिति ही बदल गयी। और यह एक शांति लायी है — एक शांति, स्थिरता और विश्वास जो बिलकुल निर्णायक हैं, एक निर्णायक

परिवर्तन आया है। और जो कुछ पहलेकी **स्थितिमें** दुराग्रह, भद्दापन, निश्चेतना –– सब प्रकारकी शोचनीय वस्तुएं मालूम होती थीं –– वह सब गायब हो गया है। यह मानों एक महान् वैश्व लयका दृश्य था जिसमें हर चीज अपना स्थान लेती है और हर चीज बिलकुल ठीक है। और रूपांतरके लिये प्रयास एक छोटी-सी संख्यातक सीमित रहकर **ज्यादा** मूल्यवान् और उपलब्धिके लिये अधिक सशक्त बन जाता है। यह ऐसा है मानों उन लोगोंके लिये चुनाव हो गया है जो नयी सृष्टिके पुरोगामी होंगे। और "प्रसार", "तैयारी" और "जड़-द्रव्य" के मंथनकी बातें बचकानी हैं। यह मनुष्यकी बेचैनी है।

वह एक सौंदर्यका दृश्य था, बड़ा भव्य, शांत और मुस्कराता हुआ, ओह!...वह भरा हुआ था, सचमुच भागवत प्रेमसे भरा हुआ था। और वह भागवत प्रेम नहीं जो "क्षमा करता है" –– नहीं, यह वैसा बिलकुल नहीं था, बिलकुल नहीं! हर चीज अपने स्थानपर, अपनी आंतरिक लयको यथासंभव अधिक-से-अधिक उपलब्ध करती हुई।

यह बहुत ही सुन्दर उपहार था।

हां, तो लोग इन चीजोंको अंशतः जानते हैं। बौद्धिक दृष्टिसे, इस तरह, विचारके रूपमें जानते हैं। लेकिन इससे कुछ काम नहीं बनता। अपने दैनिक व्यवहारमें तुम और ही तरह, ज्यादा सच्ची समझके साथ जीते हो। और वहां, ऐसा लगता है मानों तुम वस्तुओंको उनकी उच्चतर स्थितिमें छू रहे हो –– उन्हें देख रहे हो, उन्हें छू रहे हो।

यह पौधों और पौधोंके सौंदर्यके सहज अंतर्दर्शनके बाद आया (यह बहुत अद्भुत चीज है), फिर आये बड़े सामंजस्यपूर्ण जीवनवाले पशु (जब तक मनुष्योंका हस्तक्षेप न हो), और यह सब कुछ अपने ठीक स्थानपर था। तब सच्ची मानवजाति मानवके रूपमें आयी, यानी, मानसिक संतुलन जितने सौंदर्य, सामंजस्य, सौम्यता, लालित्य, जीवनमें रसको –– सौंदर्यमें जीनेके रसको –– रच सकता था उसे लिये हुए आयी। स्वभावतः जो कुछ भद्दा, नीच और गंवारू है उसे दबा दिया गया था। वह एक सुन्दर मानवजाति थी, मानवजाति अपनी उच्चतम स्थितिमें थी लेकिन सुन्दर थी। और मानवस्थितिसे पूर्णतः संतुष्ट थी क्योंकि वह सामंजस्यके साथ रहती थी। यह शायद इस बातकी पूर्वसूचना थी कि नयी सृष्टिके प्रभावके तले प्रायः सारी मानवजाति कैसी हो जायगी। मुझे ऐसा लगा कि अतिमानसिक चेतना मानवजातिको कैसा बना सकती है। शायद इसमें मानवजातिने पशुजातिका क्या किया उसके साथ तुलना भी थी (यह स्वभावतः, बहुत ज्यादा मिला-जुला प्रभाव है पर चीजें ज्यादा पूर्ण बनायी गयी हैं, ज्यादा अच्छी की गयी हैं और ज्यादा अच्छी तरह

उपयोगमें लायी गयी हैं)। मनके प्रभावके तले पशु योनि कुछ और ही बन गयी है, वह स्वभावतः है तो कुछ मिश्रित-सी चीज क्योंकि मन अपूर्ण था; इसी तरह भली-भांति सन्तुलित लोगोंके बीच सामंजस्यपूर्ण मानवता थी। ऐसा लगता था कि अतिमानसिक प्रभावके अधीन मानवजाति क्या हो सकती है।

लेकिन यह अभी बहुत दूर है; तुम्हें इसकी तुरन्त आशा न करनी चाहिये —— यह बहुत दूर है।

स्पष्टतः, अभी यह एक संक्रमण काल है जो काफी लंबे समयतक रह सकता है और है भी कष्टदायक। कभी-कभी इस कष्टदायक प्रयास (बहुधा कष्टदायक) की क्षतिपूर्ति, हमें जिस लक्ष्यतक पहुंचना है उसके स्पष्ट दर्शन, उस लक्ष्यके स्पष्ट दर्शनसे जिसे हम जरूर प्राप्त **करेंगे**: एक आश्वासनसे, हां, निश्चितिसे होती है। लेकिन वह कुछ ऐसी चीज होगी जिसमें सब भ्रांति, विकृति, मानव जीवकी सारी कुरूपताको निकाल बाहर करनेकी शक्ति होगी। और तब वह एक ऐसी मानवजाति होगी जो बहुत प्रसन्न, मानव होनेसे बहुत संतुष्ट होगी जिसे मनुष्यसे अलग कुछ और बननेकी जरूरत न मालूम होगी लेकिन उसमें मानव सौंदर्य और मानव सामंजस्य होगा।

यह बड़ा मोहक था, मानों मैं उसमें जी रही थी। विरोध गायब हो गये थे। यह ऐसा था मानों मैं पूर्णतामें जी रही थी। वह अतिमानसिक चेतनाद्वारा कल्पित मानवता थी जो यथासंभव पूर्ण थी। और वह बहुत अच्छी थी।

और यह बहुत बड़ा विश्राम लाती है। तनाव, संघर्ष आदि सब गायब हो जाते हैं, और अधीरता भी। यह सब पूरी तरह गायब हो गये।

यानी, आप कामको सब जगह फैलानेकी जगह केंद्रित करती हैं।

नहीं, वह भौतिक दृष्टिसे फैल सकता है क्योंकि व्यक्ति आवश्यक रूपसे एक जगह इकट्ठे नहीं होते। लेकिन वे संख्यामें थोड़े-से ही होते हैं।

मानवजातिको नवीन सृष्टिके लिये "तैयार करने" की बड़ी आवश्यकता-का यह विचार, यह अधीरता गायब हो गयी।

पहले कुछ लोगोंमें यह चीज सिद्ध होनी चाहिये।

बिलकुल ठीक।

मैं देख रही थी, मैंने इसे बिलकुल ठोस रूपमें देखा। उन लोगोंके अतिरिक्त जो रूपांतर और अतिमानसिक सिद्धिकी तैयारी करनेके योग्य हैं और जिनकी संख्या निश्चय ही बहुत सीमित है, जन साधारणके बीच अधिकाधिक एक श्रेष्ठतर मानवजातिका विकास होना चाहिये जिसकी भविष्यकी या निर्मित होती हुई अतिमानस सत्ताके प्रति वही वृत्ति हो जैसी, उदाहरणके लिये, पशुओंकी मनुष्यके प्रति है। जो लोग रूपांतरके लिये काम कर रहे हैं और जो उसके लिये तैयार हैं, उनके अतिरिक्त एक उच्चतर मध्यस्थ मानवजाति होनी चाहिये जिसने अपने अंदर या जीवनमें, 'जीवन'के साथ सामंजस्य पा लिया है — यह **मानव** सामंजस्य — जिसे किसी "ऐसी वस्तु" के लिये जो इतनी ऊंची है कि वह उसे पानेकी कोशिश भी नहीं करती, उसके लिये पूजा, भक्ति, निष्ठा-भरे निवेदनका भाव होता है। वह उसकी पूजा करता है, उसके प्रभाव और रक्षणकी जरूरत महसूस करता है — उसके प्रभावके अधीन रहनेकी जरूरत और उसके रक्षणमें रहनेका आनंद। यह बहुत स्पष्ट था। लेकिन यह यातना नहीं, जो चीज तुमसे बच निकलती है उसे चाहनेकी पीड़ा नहीं क्योंकि — क्योंकि उसे पाना तुम्हारी नियतिमें नहीं है। उसके लिये जो समस्त प्रयास चाहिये वह तुम्हारे जीवनके लिये अभी तैयार नहीं है। और उसीके कारण अव्यवस्था और कष्ट पैदा होते हैं।

उदाहरणके लिये, ठोस चीजोंमेंसे एक ऐसी है जो इस समस्याको भली-भांति सामने लाती है: मानवजातिमें सेक्सका आवेग है जो बिलकुल स्वाभाविक, सहज और मैं यह भी कह सकती हूं कि उचित है। यह आवेग अपने-आप स्वभाविक और सहज रूपमें पाशविकताके साथ-साथ गायब हो जायगा (और भी बहुत-सी चीजें गायब हो जायंगी, उदाहरणके लिये, खानेकी जरूरत और हम अभी जिस तरह सोते हैं उस तरह सोनेकी जरूरत), लेकिन उच्चतर मानवजातिमें... आनंद तो बहुत बड़ा शब्द है, हम कह सकते हैं कि जो प्रसन्नता या हर्षका स्रोत बनकर चलती चली आ रही है वह सेक्सकी क्रिया तब बिलकुल न रहेगी जब प्रकृतिके कार्योंमें इस तरीकेसे सृजन करनेकी जरूरत न रहेगी। अतः, जीवनके हर्षके साथ संबंध बनानेकी क्षमता एक कदम ऊपर उठ जायगी या कोई अन्य दिशा ले लेगी। लेकिन प्राचीन आध्यात्मिक अभीप्सुओंने सिद्धांतके रूपमें — सेक्सके निषेधकी — जो कोशिश की थी वह एक वाहियात-सी बात है। यह उन्हीं लोगोंके लिये हो सकता है जो उस स्तरके परे जा चुके हैं और जिनमें पाशविकता नहीं बची। इसे बिना प्रयास और बिना संघर्षके स्वाभाविक

रूपसे झड़ जाना चाहिये। उसे संघर्ष और द्वंद्वका केंद्र बनाना हास्यास्पद है। जब चेतना मानवी नहीं रहती तो यह अपने-आप झड़ जाती है। यह भी एक ऐसा संक्रमण है जो कुछ कष्टकर हो सकता है, क्योंकि संक्रमणकी सत्ताएं हमेशा अस्थिर संतुलनमें रहती हैं, लेकिन भीतर एक प्रकारकी ज्वाला होती है, एक आवश्यकता होती है जो इसे कष्टकर नहीं बनाती — यह कष्टकर प्रयास नहीं रहता, एक ऐसी चीज होती है जिसे आदमी मुस्कानके साथ कर सकता है। लेकिन जो लोग इस संक्रमणके लिये तैयार नहीं हैं उन-पर इसे लादनेकी कोशिश करना वाहियात है।

यह सामान्य बुद्धिकी बात है। वे मनुष्य हैं, वे मनुष्य न होनेका ढोंग नहीं करते।

जब सहज रूपमें आवेग तुम्हारे लिये असंभव हो जाय, जब तुम यह अनुभव करो कि यह एक कष्टकर चीज है, तुम्हारी गहरी आवश्यकताओंके विपरीत है, तब यह आसान हो जाता है; और तब तुम बाहरसे इन बंधनोंको काट सकते हो और यह खतम हो जाता है।

यह सबसे अधिक विश्वासजनक उदाहरणोंमेंसे एक है।

भोजनके बारेमें भी यही बात है। यही बात होगी। जब पाशविकता झड़ जायेगी तो भोजनकी नितान्त आवश्यकता भी झड़ जायेगी। और शायद एक संक्रमण होगा जब व्यक्तिको क्रमशः कम-से-कम भौतिक भोजन-की आवश्यकता होगी। उदाहरणके लिये, जब तुम फूल सूंघते हो तो उनसे पोषण मिलता है। मैंने यह देखा है, तुम ज्यादा सूक्ष्म रीतिसे अपना पोषण कर लेते हो।

लेकिन अभी शरीर तैयार नहीं है। शरीर तैयार नहीं है, वह क्षीण होने लगता है, यानी, वह अपने-आपको खाने लगता है। यह प्रमाणित करता है कि अभी समय नहीं आया, यह केवल परीक्षण है — एक ऐसा परीक्षण जो तुम्हें कुछ सिखाता है। यह सिखाता है कि अनुरूप 'भौतिक द्रव्य' का पाशविक निषेध या पार्थक्य नहीं (तुम अपने-आपको पृथक् नहीं कर सकते, यह असंभव है), परंतु एक उच्चतर या गहनतर स्तरपर सायुज्य होना चाहिये।

(मौन)

जो बुद्धिके उच्चतर स्तरोंपर पहुंच चुके हैं, लेकिन जिन्होंने मानसिक क्षमताओंपर अधिकार नहीं पाया है उनमें एक निर्दोष आवश्यकता यह होती है कि हर एक व्यक्ति उन्हींकी तरह सोचे और उसी तरह समझे जैसे वे

समझते हैं और जब वे देखते हैं कि अन्य लोग नहीं देख पाते, नहीं समझ पाते, तो उनकी प्रतिक्रिया होती है, उन्हें धक्का लगता है और वे कहते हैं: "कैसे मूर्ख हैं!" लेकिन वे मूर्ख नहीं हैं, वे भिन्न हैं, वे दूसरे क्षेत्रमें हैं। तुम जानवरके पास जाकर यह नहीं कहते: "तुम मूर्ख हो", तुम कहते हो: "यह जानवर है।" उसी भांति तुम कहते हो: "यह आदमी है।" यह आदमी है, हां, कुछ ऐसे लोग हैं जो अब मनुष्य नहीं रहे और अभी देवता भी नहीं बने हैं। वे एक ऐसी स्थितिमें . . . कुछ अजीब, भद्दी-सी स्थितिमें हैं।

लेकिन यह बड़ी आरामदेह, बड़ी मधुर, बड़ी अद्भुत अंतर्दृष्टि थी — हर चीज अपने प्रकारको बिलकुल स्वाभाविक रूपमें प्रकट कर रही थी।

और यह स्पष्ट है कि अंतर्दृष्टिके विस्तार और उसकी समग्रताके साथ जो एक चीज आती है वह करुणा है जो समझ सकती है—वह दया नहीं है जो श्रेष्ठको अपनेसे हीनके लिये होती है: वह सच्ची दिव्य करुणा जिसको इस बातकी संपूर्ण समझ है कि हर चीज वही है जो होनी चाहिये।

२२ जनवरी, १९६६

आज सवेरे, दो घंटेके लिये, मैं एक प्रकारकी आनंदमय अवस्थामें रही जिसमें चेतना ऐसी स्पष्ट थी कि जीवनके सभी रूप, सभी जगतोंमें, सभी क्षणोंमें चुनावकी अभिव्यक्ति थे — वहां व्यक्ति अपना जीवन चुनता है।

इसे शब्दोंमें कहना बहुत कठिन है . . . । आदमी समझता है कि वह एक प्रकारकी बाध्यतामें जीता है, और वह मानता है कि वह इस बाध्यताके सुपुर्द है, लेकिन वह बाध्यता बिलकुल गायब हो गयी थी। अब केवल सहज-स्वाभाविक बोध था कि धरतीपर जीवन, अन्य पृथ्वियोंपर जीवन और पृथ्वीपर हर प्रकारका जीवन और दूसरे जगतोंपर हर प्रकारका जीवन सिर्फ एक चुनावका सवाल है: तुमने ऐसा होनेका चुनाव किया है और तुमने निरंतर ऐसा होनेका या वैसा होनेका चुनाव कर लिया है। तुमने चुन लिया है कि चीजें इस तरहसे हों या उस तरहसे हों। तुमने यह मान्यता भी चुनी है कि तुम नियतिके, आवश्यकताके, एक बाधित करनेवाले विधानके सुपुर्द हो — सब कुछ चुनावका प्रश्न है। और एक हल्केपनका, स्वाधीनताका भाव था और हर चीजके लिये मुस्कान थी।

साथ ही, यह तुम्हें बहुत अधिक शक्ति प्रदान करती है। बाध्यता, आवश्यकताकी भावना — और उनसे भी बढ़कर भाग्यकी भावना — पूरी तरह गायब हो गयी थी। समस्त रोग, सभी घटनाएं, सभी नाटक, ये सब चीजें गायब हो गयी थीं। भौतिक जीवनकी यह ठोस और इतनी पाशविकता : बिलकुल चली गयी थी।

आज सवेरे मैं डेढ़ घंटेसे ज्यादा इस अवस्थामें रही। फिर, मुझे वापिस आना पड़ा . . . एक ऐसी अवस्थामें लौटना पड़ा जो मुझे कृत्रिम प्रतीत होती है लेकिन वह औरोंके कारण, और लोगों तथा वस्तुओंके साथ संसर्गके कारण और उन अनगिनत चीजोंके कारण जिन्हें करना जरूरी है। फिर भी, पृष्ठभूमिमें अनुभूति बनी रहती है। जीवनकी सभी जटिलताओंके लिये, एक विनोद-भरी मुस्कान रहती है — व्यक्ति अब जिस अवस्थामें है यह उसके अपने चुनावका तथ्य है, व्यक्तिके लिये चुनावकी स्वाधीनता है, लेकिन लोग इसे भूल गये हैं। यही बात इतनी मजेदार है।

मैंने एक ही समयमें समस्त मानव ज्ञानकी झांकी पायी (क्योंकि, मानव उपलब्धिकी उन अवस्थाओंमें सभी मानव ज्ञान उस नयी अवस्थाके सामने एक चित्रावलीके रूपमें आते हैं और हर एकको अपने-अपने स्थानपर रखा जाता है — हमेशा, हमेशा ही जब कोई अनुभूति आती है तो वह मानों सिंहावलोकनके रूपमें आती है)। मैंने सभी सिद्धांतों, सभी मान्यताओं, सभी दर्शनोंको देखा और देखा कि वे अपने-आपको नयी अवस्थाके साथ कैसे संलग्न करते हैं। वह मजेदार था।

और इसके लिये आरामकी जरूरत नहीं होती। ये अनुभूतियां इतनी ठोस, इतनी सहज और इतनी वास्तविक होती हैं (वे किसी प्रयास तो क्या, संकल्पका परिणाम भी नहीं होतीं) कि उनके लिये आरामकी जरूरत नहीं होती।

लेकिन जिन लोगोंमें मानसिक या दार्शनिक तैयारी नहीं थी और उन्होंने किसी-न-किसी कारण इस अनुभूतिको पा लिया (संत या ऐसे सब लोग जो आध्यात्मिक जीवन बिताते थे), उन्हें जीवनकी अवास्तविकताकी, जीवनके भ्रमकी बहुत तीव्र अनुभूति हुई। लेकिन यह बहुत संकीर्ण दृष्टि है। यह ऐसा नहीं है — यह ऐसा नहीं है। **हर चीज** एक चुनाव है! हर चीज, हर एक चीज चुनाव है! भगवान्‌का चुनाव, लेकिन **हमारे अंदर**के भगवान्‌का : वहांके (ऊपरकी ओर संकेत) भगवान्‌का नहीं : यहींके। और हम नहीं जानते, यह हमारे अपने हृदयोंमें है। और जब हम जानते हैं तो चुनाव कर सकते हैं — हम अपनी पसंद चुन सकते हैं, यह अद्‌भुत है।

और इस प्रकार सत्ताकी नियति, बंधन और कठोरता, सब गायब हो

चुकी हैं। सब गायब। वह पारदर्शक नीला था, पारदर्शक गुलाबी था, बिलकुल ज्योतिर्मय, पारदर्शक और हल्का।

मैं भली-भांति समझ सकती हूं कि यह कोई निरपेक्ष चीज नहीं है; यह सत्ताकी एक विधि-भर थी, लेकिन थी बहुत ही मोहक विधि...। सामान्यतः, जिन लोगोंमें पर्याप्त बौद्धिक तैयारी नहीं होती उन्हें जब इस प्रकारकी अनुभूति हो जाती है तो वे मान बैठते हैं कि उन्होंने "एकमात्र" सत्य पा लिया है। और उसपर वे सिद्धांत गढ़ने लगते हैं। लेकिन मैंने भली-भांति देखा है कि यह वह नहीं है : यह सत्ताका एक तरीका है, यद्यपि यह सत्ताका बहुत अच्छा तरीका है यहां जो है उससे कहीं अधिक श्रेष्ठ। उसे यहां पाया जा सकता है : मैं पा चुकी हूं। मैंने उसे बहुत ठोस रूपमें अनुभव किया था। यहां हमेशा कुछ-न-कुछ ऐसा होता है जो ठीक नहीं है, यहां-वहां, इसमें या उसमें कुछ गलती होती है और फिर ऐसी परिस्थितियां होती हैं जो ठीक नहीं होतीं। हमेशा कठिनाइयां होती हैं — यह सब ... रंग बदल लेता है। वह हल्का, हल्का — हल्का और नमनीय हो जाता है। सब कठोरता और कड़ापन गायब हो जाते हैं।

और यह भाव भी, कि अगर तुम ऐसे होनेका चुनाव करो तो ऐसे बने रह सकते हो। और यह सच है। गलत आदतें ही, स्पष्टतः, धरतीपर करोड़ों आदतें ऐसी हैं जो तुम्हें रोकती हैं; लेकिन यह कोई कारण नहीं है कि यह अवस्था स्थायी न हो पाये। क्योंकि इससे सब कुछ बदल जाता है! सब कुछ बदल जाता है! ... यह स्पष्ट है कि अगर व्यक्ति उस अवस्थाका स्वामी बन जाय तो वह अपने चारों ओरकी सभी परिस्थितियोंको बदल सकता है।

इन दिनों (काफी लंबे समयसे), शरीरके साथ यही कठिनाई थी। यह शरीर, जैसा कि साधारणतः होता है, सीमित और अपने ही शंखमें बंद नहीं है, जो सहज रूपसे "ग्रहण करने" की अनुभूतिके बिना भी ग्रहण करता रहता है, जिसमें उसके चारों तरफकी सभी चीजोंके स्पंदन **आते रहते हैं**; और तब, मानसिक या नैतिक दृष्टिकोणसे, उसे चारों ओरसे घेरे रहनेवाली सभी चीजें बंद और न समझनेवाली हों तो चीज जरा मुश्किल हो चली है, यानी, वे ऐसे तत्त्व होते हैं जो आते हैं और उनका रूपांतर करना जरूरी होता है। यह एक प्रकारकी पूर्णता है — एक ऐसी पूर्णता जो बहुविध और बहुत अस्थायी है — यह तुम्हारी चेतना और क्रिया-के क्षेत्रका प्रतिनिधित्व करती है, सामंजस्यको, कम-से-कम सामंजस्यको फिरसे स्थापित करनेके लिये तुम्हें इसपर क्रिया करनी होगी; और जब

साधारण विचारके अनुसार तुम्हारे इर्द-गिर्द कोई चीज "गलत" हो जाती है तो काम जरा ज्यादा कठिन हो जाता है। वह एक ही साथ मोटा, निरंतर और दुराग्रही होता है। मुझे याद है, अनुभूतिसे ठीक पहले शरीरमें 'सामंजस्य' के लिये, 'प्रकाश' के लिये, एक प्रकारकी सुखद शांतिके लिये अभीप्सा थी। शरीर सबसे बढ़कर सामंजस्यके लिये अभीप्सा कर रहा था। शायद यह उन सब चीजोंके कारण होगा जो पीसती और खुरचती हैं। संभवतः यह अनुभूति अभीप्साके उत्तरमें थी।

मैंने यह देखा है कि इस शरीरके जीवनमें कोई भी अनुभूति मुझे दूसरी बार नहीं हुई — मुझे उसी प्रकारकी अनुभूतियां हो सकती हैं, ज्यादा ऊंचे स्तरपर, ज्यादा विशाल क्षेत्रमें हो सकती हैं, लेकिन वह-की-वही दोबारा नहीं होतीं। और मैं किसी अनुभूतिको रख नहीं छोड़ती, मैं सारे समय, सारे समय (आगेकी ओर संकेत), सारे समय आगे बढ़ती रहती हूं। हां, चेतनाके रूपांतरका काम इतना तेज है, इतना तेज होना चाहिये कि बैठकर किसी अनुभूतिका मजा लेनेका, किसी अनुभूतिका विस्तारपूर्वक निरूपण करनेका या कुछ समयके लिये संतोष करनेका समय न रहे। यह संभव है। यह जोरसे, बड़े जोरसे आता है। यानी, वह सब कुछ बदल डालता है और फिर कोई नयी चीज आती है। कोषाणुओंके रूपांतरके बारेमें भी यही बात है: सब प्रकारकी छोटी-मोटी गड़बड़ें आती हैं, पर वे स्पष्ट रूपसे चेतनाके लिये रूपांतरकी गड़बड़ें होती हैं। तब व्यक्ति एक बिंदुपर व्यस्त हो जाता है, फिरसे व्यवस्था स्थापित करना चाहता है; और साथ ही कोई ऐसी चीज होती है जो निरंतर जानती है कि यह गड़बड़ इसलिये आयी है कि सामान्य यंत्रवत् क्रिया-कलापकी जगह परम प्रभुके सीधे 'प्रभाव' और 'मार्ग-दर्शन' में सचेतन कार्यके लिये मार्ग खुल जाय। स्वयं शरीर यह जानता है (वह जानता तो है, पर यहां दर्द हो, वहां दर्द हो, इसमें या उसमें गड़बड़ी हो जाय — इस सबमें कोई मजा नहीं आता, लेकिन वह **जानता है**)। और जब यह बिंदु किसी हदतक रूपांतरके पास जा पहुंचता है तो व्यक्ति अगले बिंदुपर चला जाता है, फिर अगलेपर चला जाता है, फिर अगलेपर; और होता कुछ भी नहीं, कोई भी काम निश्चित रूपसे नहीं होता जबतक कि . . . तबतक नहीं होता, जबतक सब कुछ तैयार न हो जाय। और तब फिर उसी कामको जरा ऊंचे स्तरपर या विशाल क्षेत्रमें, अधिक तीव्रताके साथ या ज्यादा विस्तारमें करना पड़ता है। यह व्यक्तिपर निर्भर है। यह सब तबतक चलता रहता है जबतक "समग्र" एक रूपमें, समानान्तर नहीं हो जाता।

जैसा कि मैं देखती हूं, यह भरसक तेजीसे आगे बढ़ रहा है, लेकिन

इसमें बहुत समय लगता है। सारा प्रश्न अभ्यासको बदलनेका है। हजारों सालोंके समस्त यांत्रिक अभ्यासको सीधे परम 'चेतना' के पथ-प्रदर्शनमें सचेतन क्रियामें बदलना होगा।

यहां यह कहनेकी इच्छा होती है कि यह काम बहुत ज्यादा समय लेता है और बहुत कठिन है, क्योंकि यह शरीर लोगोंसे घिरा हुआ है और इसे दुनियामें काम करना पड़ता है, लेकिन अगर यह इन परिस्थितियोंमें न होता तो बहुत, बहुत-सी चीजें भुला दी जातीं। बहुत-सी चीजें न की जातीं। बहुत प्रकारके ऐसे स्पंदन हैं जिनका इस समुच्चयके साथ (माताजीके कोषाणुओंके समुच्चयके साथ) कोई संबंध नहीं और अगर मेरा लोगोंके साथ संपर्क न होता तो इन स्पंदनोंको कभी रूपांतरकारी 'शक्ति'-का स्पर्श भी न मिलता।

यह बहुत स्पष्ट है — बहुत ही स्पष्ट है — कि जब व्यक्ति सचाईसे चाहता है तो वह अच्छे-से-अच्छी अवस्थाओंमें और कार्यके लिये अधिक-से-अधिक संभावनाओंमें स्थान पाता है।

१८ मई, १९६६

क्या तुमने इन स्वापक औषधियोंके बारेमें सुना है ?[1] ... तुमने कुछ चित्र देखे हैं ? ... मैंने चित्र देखे हैं। लोग बिना किसी सुरक्षाके निम्नतम प्राणमें फेंक दिये जाते हैं और अपनी प्रकृतिके अनुसार उसे भयानक या अद्‌भुत पाते हैं। उदाहरणके लिये, कोई गद्दी या कुरसी-पोश अचानक अद्‌भुत रूपसे सुन्दर बन जाता है। यह दो-तीन घंटोंतक रहता है। वे सारे समय स्वभावतः, होशमें नहीं रहते। खेदकी बात तो यह है कि लोग इसे "आध्यात्मिक अनुभूति" कहते हैं और ऐसा कोई नहीं जो उनसे कह सके कि इसका आध्यात्मिक अनुभूतिसे कोई संबंध नहीं।

कुछ समय पहले मेरे पास किसीकी चिट्ठी आयी थी। उसने लिखा था : "मैंने ये स्वापक औषधियां ली थीं और उससे बड़े भयंकर अंतर्दर्शन हुए, कमरेकी दीवारें हजारों अशुभ और निराशाजनक चेहरोंसे सजीव हो उठीं और राततक तंग करती रहीं।" तो यह हाल है !

---

[1] माताजी एल० एस० डी० की बात कर रही थीं।

लेकिन आखिर, इसने मुझे एक और प्रमाण दिया . . .। मैंने "लाइफ" पत्रिकामें कुछ चित्र देखे। देखकर ऐसा लगता था मानों तुम पागलखानेमें आ गये हो। ये अवचेतनामें अंकित बिंब होते हैं — विचारोंके बिंब, संवेदनोंके बिंब, भावनाओंके बिंब जो अवचेतनामें अंकित रहते हैं — वे यथार्थ हो उठते हैं, जो ऊपरी तलपर आकर यथार्थ बन जाते हैं। इस भांति वे अंदर जो हैं उसका ठीक-ठीक चित्रण करते हैं।

उदाहरणके लिये, अगर तुम्हारे अंदर यह विचार या यह भाव हो कि अमुक व्यक्ति दुष्ट या हास्यास्पद है या तुम्हें नहीं चाहता, संक्षेपमें कहें तो इसी प्रकारकी चीजें साधारणतः स्वप्नमें सिर उठाती हैं। लेकिन यहां तुम सोये हुए नहीं होते, फिर भी, स्वप्न आते हैं! वे तुम्हारे सोचे हुए खेलको खेलनेके लिये आ जाते हैं। तुमने उनके बारेमें जो सोचा है वह तुम्हारे ऊपर उन्हींके रूपमें आकर गिरता है। यह एक सूचक है: जो लोग, प्रसन्न, सौम्य, सुन्दर बिंब देखते हैं उसका मतलब यह होता है कि उनके अंदर प्राणकी दृष्टिसे सब कुछ ठीक चल रहा है, लेकिन जो भयानक या अशुभ चीजें या इसी प्रकारकी और चीजें देखते हैं उनके लिये इसका मतलब होता है कि उनका प्राण सुखद नहीं है।

हां, लेकिन क्या कोई तटस्थ प्राण नहीं होता जहां इन अंतर्दर्शनोंका हमारी अपनी अवचेतनाके साथ कोई संबंध नहीं होता?

हां, है तो, पर उसके गुण ऐसे ही नहीं होते।

ऐसे ही गुण नहीं होते?

व्यक्ति उसे तबतक नहीं जान सकता जबतक कि वह प्राणमें **पूरी तरह सचेतन रूपसे** न जाय — अपने प्राणके बारेमें सचेतन हो और प्राणिक जगत्के बारेमें भी उसी तरह सचेतन हो जैसे भौतिक जगत्के बारेमें सचेतन होता है। व्यक्ति वहां सचेतन रूपसे जाता है। यह स्वप्न नहीं होता, उसकी प्रकृति स्वप्नकी नहीं होती; यह एक क्रियाकी तरह है, एक अनुभूतिकी तरह है और यह बिलकुल भिन्न है।

लेकिन ऐसे प्राणिक जगत् भी तो हैं जहां व्यक्तिको यंत्रणा दी जाती है, भयानक, उत्पीड़क लोक भी तो होते हैं न?

९०% आत्मनिष्ठ।

९०% आत्मनिष्ठ। एक वर्षसे अधिकतक मैं नियमित रूपसे हर रात एक निश्चित समयपर, एक ही तरहसे कोई विशेष काम करनेके लिये प्राणमें प्रवेश किया करती थी। यह मेरी अपनी इच्छाका परिणाम नहीं था। यह करना मेरे लिये नियत था। यह एक ऐसा काम था जिसे मुझे करना ही था। उदाहरणके लिये, प्राणके इस प्रवेशका वर्णन प्रायः किया गया है; एक रास्ता है जहां सत्ताएं खड़ी की गयी हैं ताकि वे तुम्हें अंदर घुसनेसे रोकें (गुह्यविद्याकी पुस्तकोंमें इनके बारेमें बहुत कुछ कहा गया है)। हां तो, मैं (सरसरे अनुभवसे नहीं), बार-बार अनुभवसे जानती हूं कि यह विरोध या दुर्भावना नब्बे प्रतिशत मनोवैज्ञानिक है। यानी, अगर तुम पहलेसे इसके बारेमें न सोचो, या उससे न डरो, तुम्हारे अंदर कोई ऐसी चीज न हो जो अज्ञातसे डरती है, आशंका और भयकी गतियां न हों तो यह चित्रपर छायाकी स्याहीं या किसी बिंबके प्रक्षेपणके जैसा होता है। इसमें कोई ठोस वास्तविकता नहीं होती।

यह सच है कि किसी भटके हुए व्यक्तिको बचानेके लिये मुझे दो-एक बार सच्चे प्राणिक युद्ध करने पड़े थे। और दो बार मुझे चोटें लगी थीं और अगले दिन जब मैं जागी तो एक निशान भी था (माताजी दाहिनी आंख दिखाती हैं)। हां, तो इन दो घटनाओंमें, मेरे अंदर ही कोई चीज थी; डर नहीं; क्योंकि मैं कभी नहीं डरी, मैंने पहलेसे इसकी प्रत्याशा की थी। यह विचार कि "ऐसा हो सकता है", यह तथ्य कि मैं उसकी आशा कर रही थी, यही कारण था कि मुझे आघात लगा। मुझे यह निश्चित रूपसे मालूम था। अगर मैं अपनी आंतरिक निश्चितिकी "सामान्य स्थिति" में होती तो यह मुझे छू भी न पाती, यह हर्गिज न कर पाती। मुझे यह आशंका थी क्योंकि मैं एक गुह्यवादी महिलाको जानती थी, उसने मुझे बतलाया था कि एक प्राणिक युद्धमें उसकी एक आंख जाती रही थी और इस तरह (हंसते हुए) मेरे अंदर यह विचार आया कि चूंकि उसके साथ ऐसा हो चुका है, इसलिये ऐसा हो सकता है। लेकिन जब मैं स्वयं अपनी स्थितिमें होती हूं — मैं ठीक यह भी नहीं कह सकती, यह "व्यक्तिगत" नहीं है, यह सत्ताकी एक अवस्था है — जब व्यक्ति सच्ची स्थितिमें होता है, जब वह सचेतन सत्ताकी सच्ची चेतनामें होता है तो यह चीज उसे छू भी नहीं "सकती"।

यह ऐसा अनुभव है जैसे तुम शत्रुसे मिलो और उसपर प्रहार करना चाहो और तुम्हारी चोटें उसे छूतक न पायें, तुम जो कुछ भी करो उसका

कोई असर न हो — यह हमेशा आत्मनिष्ठ होता है। मेरे पास इसके पूरे प्रमाण हैं, पूरे प्रमाण हैं।

लेकिन वस्तुनिष्ठ बात क्या है ?

जगत् हैं, सत्ताएं हैं, शक्तियां हैं, उनका अपना अस्तित्व है, लेकिन मैं जो कह रही हूं उसका मतलब यह है कि मनुष्यकी चेतनाके साथ उनका संबंध, वे जो रूप लें, इस मानव चेतनापर निर्भर है।

देवोंके साथ भी यही बात है, मेरे बालक, एक ही बात है। अधिमानसकी ये सब सत्ताएं, ये सभी देवता, उनके साथ संबंध, इन संबंधोंके रूप मानव चेतनापर निर्भर होते हैं। हो सकता है...यह कहा गया है: "मनुष्य देवोंके लिये पशु हैं।" लेकिन तभी जब मनुष्य उनका पशु होना "स्वीकार करे"। मानव प्रकृतिके सारतत्त्वमें सभी वस्तुओंपर प्रभुता होती है, यह तब सहज और स्वाभाविक होती है जब कुछ विचार और तथाकथित ज्ञान उसे झुठला न दें।

हम कह सकते हैं कि मनुष्य अपनी प्रकृतिकी सत्ताकी सभी अवस्थाओंका सर्वशक्तिमान स्वामी है, लेकिन वह यह होना भूल गया है।

सर्वशक्तिमान होना उसकी स्वाभाविक स्थिति है— लेकिन वह सर्वशक्तिमान होना भूल गया है।

इस विस्मृतिकी अवस्थामें हर चीज ठोस बन जाती है, हां, इस अर्थमें कि वह आंखपर एक निशान छोड़ सकती है। वह अपने-आपको इस रूपमें अनूदित कर सकता है — लेकिन यह इसलिये क्योंकि...व्यक्तिने ऐसा होने दिया है।

देवताओंके साथ भी यही बात है। वे तुम्हारे जीवनपर शासन कर सकते हैं और तुम्हें बहुत कष्ट दे सकते हैं (वे तुम्हारी बहुत सहायता भी कर सकते हैं), लेकिन "तुम्हारे संबंधमें", मानव सत्ताके संबंधमें उनकी शक्ति वही है जो तुम उन्हें देते हो।

यह ऐसी चीज है जिसे मैंने धीरे-धीरे बरसोंमें सीखा है, लेकिन अब मैं इसके बारेमें निश्चित हूं।

स्वभावतः विकास-चक्रके लिये यह जरूरी था कि मनुष्य अपनी सर्वशक्तिमत्ताको भूल जाय, क्योंकि इसके कारण वह गर्व और मिथ्याभिमानसे फूल उठा था और इस तरह पूर्णतया विकृत हो गया था। यह जरूरी था कि उसे यह अनुभव कराया जाय कि बहुत-सी चीजें उससे ज्यादा बलवान्, उसे ज्यादा शक्तिशाली हैं। लेकिन यह तत्त्वतः सत्य नहीं है। यह विकास-क्रमकी एक आवश्यकता है। बस।

मनुष्य अपनी संभाव्यतामें देवता है। उसने अपने-आपको वास्तविक देव मान लिया। उसे यह सीखनेकी जरूरत थी कि वह धरतीपर रेंगते हुए एक बेचारे कीड़ेसे बढ़कर कुछ नहीं है। इसलिये जीवन उसे घिसता, घिसता गया, घिसता गया, हर प्रकारसे घिसता गया जबतक कि वह.. समझा तो नहीं, पर कम-से-कम इस बातको उसने थोड़ा अनुभव तो कर लिया। लेकिन जैसे ही वह ठीक वृत्ति अपनाता है, वह जान लेता है कि वह संभाव्यतामें देवता है। केवल उसे देवता बनना है, यानी, जो कुछ दैव नहीं है उसपर विजय पानी है।

देवोंके साथ यह संबंध बड़ा ही मज़ेदार है...। जबतक मनुष्य इन दैवी सत्ताओंके आगे उनकी शक्ति, सौंदर्य, प्रवीणता, उपलब्धि आदिके लिये अहंभावके साथ चौंधियाया हुआ खड़ा रहता है तबतक वह उनका दास रहता है। लेकिन जब वह इन्हें परम पुरुषकी भिन्न प्रकारकी सत्ताएं — इससे बढ़कर कुछ नहीं—मान लेता है और अपने-आपको भी परम पुरुषकी एक और प्रकारकी सत्ता मानता है और यह जान लेता है कि मुझे भी वही बनना है तो संबंध बदल जाते हैं। उसके बाद वह देवोंका दास नहीं रहता — वह उनका दास **नहीं** है।

तब तो केवल परम पुरुष ही वस्तुनिष्ठ है।

बिलकुल ठीक, तुमने ठीक बात कही है, वत्स। ठीक ऐसा ही है।

अगर वस्तुनिष्ठताका अर्थ किया जाय "वास्तविक स्वतंत्र अस्तित्व" — स्वतंत्र, सत्य, स्वयंभू — तो परम पुरुषके सिवाय कुछ भी नहीं है।

फिर भी इस पूर्ण वस्तुनिष्ठताके बारेमें कोई चीज परेशान करनेवाली है।

ओह! क्यों?

हमें आश्चर्य होता है कि आखिर वास्तविक है क्या? हमें किसके साथ सचमुच पाला पड़ता है? क्या सब कुछ कल्पना-का ताना-बाना नहीं है? यह जरा परेशान करनेवाली बातें हैं?

लेकिन जब परम पुरुषके एक और एकमात्र अस्तित्वका निश्चयात्मक अनु-

भव हो और यह मालूम हो जाय कि सब कुछ अपने साथ ही खेलनेवाले परम पुरुष ही हैं तो यह अनुभूति परेशान करनेवाली, अप्रिय या कष्टकर न रहकर, इसके विपरीत, एक प्रकारकी संपूर्ण सुरक्षा बन जाती है।

एकमात्र सद्वस्तु हैं परम पुरुष और यह सब वही हैं जो अपने साथ खेल रहे हैं। मैं तो इससे उल्टी दृष्टिकी अपेक्षा इसे बहुत अधिक सांत्वना देनेवाली बात मानती हूं।

और फिर, यही एकमात्र निश्चिति है कि यह सब एक दिन अद्‌भुत वस्तु बन जायगा, अन्यथा . . .

और यह भी उस स्थितिपर निर्भर है जिसे तुम स्वीकार करते हो। शायद शुरूमें, अच्छी तरह खेलनेके लिये यह जरूरी है कि खेलके साथ, खेलके रूपमें, स्वयंभू और स्वतंत्र वस्तुके रूपमें, पूर्ण तादात्म्य आवश्यक है। लेकिन एक ऐसा क्षण होता है जब मनुष्य ठीक उस वैराग्यतक जा पहुंचता है और अस्तित्वके मिथ्यात्वके लिये ऐसी घृणा-सी हो जाती है कि उसे प्रभुको अपने अंदर, अपने लिये आंतरिक लीलाके रूपमें न देखे तो वह असह्य हो उठता है।

और तब तुम उस निरपेक्ष और संपूर्ण स्वाधीनताका अनुभव करते हो जो अधिक-से-अधिक अद्‌भुत संभावनाओंको यथार्थ बनाती है, और जो सभी कल्पनीय उदात्त चीजोंको प्राप्त कर सकती है।

(माताजी ध्यानमें चली जाती हैं)

तुम देखोगे कि एक ऐसा समय होता है जब यदि तुम यह वृत्ति न अपनाओ कि प्रभु ही सब कुछ हैं तब अपने-आपको या जीवनको सह पाना असंभव हो जाता है। देखो, हमारे इन प्रभुमें कितनी चीजें हैं, वे इन सबके साथ खेलते हैं — वे खेलते हैं, अपनी स्थिति बदल-बदलकर खेलते हैं। इसलिये, जब तुम यह समग्रता देखते हो, यह सब, तुम्हारे अंदर असीम आश्चर्यका भाव आता है, तुम्हें लगता है कि तुम्हारी अभीप्साके अद्‌भुत लक्ष्य बिलकुल संभव हैं, बल्कि उनके भी आगे जाया जा सकता है। तब तुम्हें सांत्वना मिलती है अन्यथा अस्तित्व . . . सांत्वनासे परे शोकाकुल रहता है। लेकिन इस भांति वह मोहक हो जाता है। मैं किसी दिन तुम्हें इसके बारेमें बताऊंगी।

जब तुम्हें जीवनकी अवास्तविकताका अनुभव होता है — एक ऐसी वास्तविकता या सद्वस्तुकी तुलनामें अवास्तविक जो निश्चय ही परे, ऊपर होनेके साथ-ही-साथ जीवनके "भीतर" भी है, तो उस क्षण . . . हाश !

आखिर यह तो सत्य है—आखिर यह तो सत्य है और सत्य होनेका अधिकारी है। यह समस्त संभव भव्यताओं, समस्त संभव आश्चर्यों, समस्त संभव आनंद, हां, समस्त संभव सौंदर्य, फिर भी यह, अन्यथा...

मैं यहां आ पहुंची हूं।

और फिर, मुझे लगता है मानों मेरा एक पांव यहां है, एक पांव वहां है—और यह बहुत सुखद स्थिति नहीं है, क्योंकि... क्योंकि, तब यह इच्छा होती है कि बस एक तत्‌के सिवाय और कुछ न हो।

स्थितिकी वर्तमान अवस्था भूतकालीन है जिसे अब न रहना चाहिये। जब कि दूसरी, हाश! आखिर! आखिर! इसीके लिये तो यह संसार बना है।

और हर चीज वैसी ही ठोस और वैसी ही वास्तविक बनी रहती है, सब कुछ धुंआं नहीं हो जाता! वह उतनी ही ठोस और उतनी ही वास्तविक बनी रहती है... क्योंकि... वह दिव्य बन जाती है, क्योंकि, ... क्योंकि वह भगवान् ही "है"; वह लीलामय भगवान् है।

२८ सितंबर, १९६६

दुःख क्यों है? दुःखका उपाय क्या है?

बहुत समयसे, अभी हाल ही में, यानी, कई दिनोंसे एक बहुत तीक्ष्ण, बहुत तीव्र और बहुत स्पष्ट बोध आता रहा है कि शक्तिकी क्रिया ही बाह्य रूपमें तथाकथित "दुःख-कष्ट" के रूपमें अनूदित होती है, क्योंकि यही एकमात्र स्पंदन है जो जड़-द्रव्यको उसके तमस्‌मेंसे बाहर खींच सकता है।

परम शांति और परम स्थिरता ही विकृत और विरूपित होकर निश्चेष्टता, जड़ता और "तमस्" बन जाती है और ठीक इसी कारण कि यह सच्ची शांति और स्थिरताका ही विरूपण था इसे बदलनेकी जरूरत न थी। इस "तमस्" मेंसे निकल आनेके लिये जाग्रतिके या यूं कहें, पुनर्जागरणके कुछ स्पंदनोंकी जरूरत थी। उसके लिये सीधा "तमस्" मेंसे शांतिमें आना संभव न था इसलिये किसी ऐसी चीजकी जरूरत थी जो "तमस्" को झकझोर दे, और इसी चीजने बाहरी तौरपर कष्ट और पीड़ाका रूप लिया।

मैं यहां शारीरिक कष्टकी बात कह रही हूं क्योंकि और सब कष्ट — प्राणिक, मानसिक और संवेगात्मक कष्ट — मनकी गलत क्रियाके कारण होते हैं, और इन्हें . . . एक साथ मिथ्यात्वमें गिना जा सकता है। बस। लेकिन शारीरिक कष्टसे मुझे ऐसा लगता है मानों किसी बच्चेको यंत्रणा दी जा रही हो, क्योंकि यहां, भौतिक द्रव्यमें, मिथ्यात्व अज्ञान बन गया है, यानी, इसमें कोई दुर्भावना नहीं है — भौतिक द्रव्यमें कोई दुर्भावना नहीं है। सब कुछ जड़ता और अज्ञान है: सत्यके बारेमें पूरा-पूरा अज्ञान, मूल स्रोतके बारेमें अज्ञान, संभावनाके बारेमें अज्ञान, यहांतक कि इस विषयमें भी अज्ञान कि शारीरिक पीड़ा न पानेके लिये क्या करना चाहिये। यह अज्ञान कोषाणुओंमें हर जगह है और केवल अनुभूति — वह अनुभूति जो प्राथमिक चेतनामें दुःख-कष्टके रूपमें अनूदित होती है — ही उसे जगा सकती है, जानने और उपचार करनेकी आवश्यकताको सामने ला सकती है और अपने-आपको रूपांतर करनेके लिये अभीप्सा पैदा कर सकती है।

यह एक निश्चिति बन गयी है क्योंकि सभी कोषाणुओंमें अभीप्सा उत्पन्न हो गयी है और वह ज्यादा-से-ज्यादा तीव्र होती जा रही है और उसे प्रतिरोधपर आश्चर्य होता है। लेकिन देखा गया है कि जब कभी क्रियामें कोई भूल हो जाती है (अर्थात्, सुनम्य, सहज, स्वाभाविक होनेकी जगह क्रिया कष्टसाध्य प्रयास बन जाती है, किसी ऐसी चीजके विरुद्ध संघर्ष बन जाती है जो दुर्भावनाका रूप ले लेती, परंतु सचमुच एक ऐसी चुप्पी होती है जो समझ नहीं पाती), उस समय अभीप्सा और पुकारकी तीव्रता दसगुनी बढ़ जाती है और वह निरंतर चलती रहती है। लेकिन उस तीव्रताकी अवस्थामें रहना कठिन है; सामान्यतः हर चीज, मैं तंद्रा तो नहीं कह सकती, हां, शिथिलतामें जा गिरती है। तुम चीजोंको आसान मान बैठते हो; केवल जब आंतरिक अव्यवस्था कष्टदायक हो उठती है तब तीव्रता बढ़ती और निरंतर हो जाती है। घंटों, घंटोंतक, बिना किसी ढीलके पुकार और अभीप्सा, भगवान्‌के साथ एक होनेका, भगवान् बन जानेका संकल्प अपने उच्चतम रूपमें बना रहता है। क्यों? क्योंकि वह वह चीज थी जिसे बाह्य रूपसे शारीरिक गड़बड़ी या पीड़ा कहते हैं। अन्यथा, जब कोई पीड़ा नहीं रहती तो समय-समयपर आदमी ऊंचा उठता है, फिर उसके बाद ढीलमें जा गिरता है, फिर एक बार ऊपर उठता है और फिरसे . . . इसका अंत नहीं आता। यह हमेशा चलता रहता है। अगर हम चाहते हैं कि चीजें तेजीसे चलें (हमारे जीवनकी लयके साथ-साथ, अपेक्षया तेजीसे चलें), तो चाबुककी मार जरूरी है। मुझे इसके

बारेमें विश्वास है क्योंकि जैसे ही तुम अपनी आंतरिक सत्तामें होते हो तुम इसे (अपने प्रति) तिरस्कारकी दृष्टिसे देखते हो।

लेकिन फिर, अचानक भागवत प्रेमकी सच्ची करुणा आती है और व्यक्ति इन सब चीजोंको देखता है जो इतनी भयंकर, इतनी असामान्य, इतनी बेतुकी दिखती हैं, यह महान् पीड़ा जो सभी सत्ताओंपर, सभी वस्तुओंपर छायी हुई है... तब इस भौतिक सत्तामें शमनके लिये, उपचारके लिये, इस चीजको हटानेके लिये अभीप्सा पैदा होती है। प्रेमके मूल रूपमें कुछ ऐसी चीज है जो अनवरत रूपसे भागवत कृपाके हस्तक्षेप, शक्ति, मधुरता, प्रशमनके स्पंदनके जैसी चीज बनकर फैली है। लेकिन प्रदीप्त चेतना उसे अमुक बिंदुओंकी ओर भेज सकती या उनपर केंद्रित कर सकती है। और मैंने देखा कि यहां, हां, यहीं मनुष्य अपने विचारका सच्चा उपयोग कर सकता है: विचारको जहां कहीं जरूरत हो एक स्थानसे दूसरे स्थानतक ले जानेके लिये एक प्रकारकी प्रणालीका काम दे सकता है। यह शक्ति, मधुरताका यह स्पंदन सारे जगत्पर अचल रूपमें छाया हुआ है, वह ग्रहण किये जानेके लिये दबाव डालता है। लेकिन यह निर्वैयक्तिक क्रिया है। विचार — प्रदीप्त विचार, सर्मपित विचार, केवल एक यंत्रके रूपमें विचार जो चीजोंका आरंभ करनेकी और कोशिश नहीं करता, जो एक उच्चतर चेतनाद्वारा परिचालित होनेसे ही संतुष्ट है, — विचार एक माध्यमके रूपमें काम करता है और इस निर्वैयक्तिक शक्तिके साथ संपर्क स्थापित करने, नाता जोड़ने और जहां कहीं जरूरत हो वहां निश्चित बिंदुओंपर क्रिया करने योग्य बनाता है।

यह निरपेक्ष रूपसे कहा जा सकता है कि हर अशुभ हमेशा अपना उपचार अपने साथ लिये रहता है। हम कह सकते हैं कि किसी भी पीड़ाका उपचार पीड़ाके साथ-ही-साथ रहता है। इसलिये जैसा सामान्यतः समझा जाता है, अशुभको "बेकार" और "मूर्खतापूर्ण" माननेकी जगह तुम उस प्रगति और विकासको देखो जिसने इस पीड़ाको जरूरी बना दिया, जो इस पीड़ाका कारण है और उसके अस्तित्वका हेतु है। वांछित परिणामपर पहुंचो और साथ ही पीड़ा गायब हो जायगी — यह उनके लिये है जो अपने-आपको खोल सकते हैं और ग्रहण कर सकते हैं। तीन चीजें हैं: प्रगतिके साधनके रूपमें पीड़ा, प्रगति और पीड़ाका उपशमन, ये तीनों सहवर्ती और युगपत् हैं, अर्थात्, एक-दूसरेके बाद नहीं आतीं, एक ही समयमें, एक साथ रहती हैं।

जब रूपांतर करनेवाली क्रिया पीड़ा उत्पन्न करती है, उस समय यदि जिसे पीड़ा हो रही है उसमें आवश्यक अभीप्सा, उद्घाटन हो तो उसके

साथ-ही-साथ उपचार भी आ जाता है और प्रभाव पूरा-पूरा, संपूर्ण होता है : रूपांतर, उसे प्राप्त करनेके लिये आवश्यक क्रिया होती है और साथ ही प्रतिरोधद्वारा पैदा किये गये मिथ्या संवेदनका उपचार हो जाता है। पीड़ाका स्थान एक ऐसी चीज लेती है... जो धरतीपर अज्ञात है पर वह हर्ष, कल्याण, विश्वास, सुरक्षासे मिलती-जुलती है। यह परम शांतिमें अति संवेदन है और स्पष्ट है कि यही एक चीज है जो चिरस्थायी हो सकती है।

यह विश्लेषण बहुत ही अपूर्ण रूपसे उस चीजको प्रकट करता है जिसे हम आनन्दका "सारांश" कह सकते हैं।

मेरा ख्याल है कि यह एक ऐसी चीज है जिसे युग-युगान्तरसे, आंशिक रूपमें उड़ता हुआ-सा अनुभव किया जा चुका है, लेकिन उसने अभी हालमें ही धरतीपर केंद्रित होना, लगभग ठोस रूप लेना शुरू किया है। लेकिन हम यह नहीं कह सकते कि भौतिक पदार्थमें, उसके कोषाणु-रूपमें भय या चिन्ता होती है, लेकिन उसमें नये स्पन्दनोंके प्रति एक प्रकारकी आशंका होती है और स्वभावत: यह आशंका कोषाणुओंसे उनकी ग्रहणशीलता हर लेती है और व्याकुलताका रूप ले लेती है (यह पीड़ा नहीं व्याकुलता होती है)। लेकिन अगर इस आशंकाको व्यर्थ कर देनेके लिये, शांत करनेके लिये अभीप्सा हो और संपूर्ण समर्पणके लिये संकल्प हो, संपूर्ण समर्पणकी क्रियासे इस प्रकारकी आशंका लुप्त हो जाती है और परम कल्याण बन जाती है।

यह सब चेतनाके व्यापारके बहुत ही सूक्ष्म अध्ययन हैं और मनके हस्त-क्षपसे मुक्त हैं। अपने-आपको शब्दोंके द्वारा व्यक्त करनेकी आवश्यकता मानसिक हस्तक्षेपको ले आती है, लेकिन अनुभूतिमें वह नहीं रहता। और यह बहुत मजेदार है क्योंकि शुद्ध अनुभूतिमें सत्यका, सद्वस्तुका सारांश होता है जो मनके हस्तक्षेपके साथ-ही-साथ लुप्त हो जाता है। सच्ची सद्वस्तुका एक स्वाद होता है जो इसी कारण समस्त अभिव्यक्तिसे बच निकलता है। यह वही फर्क है जो किसी व्यक्ति और उसके चित्रमें, एक तथ्य और सुनायी गयी कहानीमें होता है। बात ऐसी है, लेकिन है इससे बहुत ज्यादा सूक्ष्म।

और अब, हम उसी बातपर वापिस आते हैं, जब व्यक्ति इस चेतनाके बारेमें सचेतन होता है — इस शक्ति, तात्त्विक सद्वस्तुके रूपमें इस भागवत करुणाके बारेमें सचेतन होता है — और यह देखता है कि वह सचेतन व्यक्तिके द्वारा कैसे कार्य करती है तो उसे समस्याकी चाबी मिल जाती है।

३० सितंबर, १९६६

श्रीअरविंदका एक अप्रकाशित पत्र पढ़कर :

> "...यद्यपि संत पालको विलक्षण गुह्य अनुभूतियां हुई थीं और निश्चय ही उन्हें गहरा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त था (मेरा ख्याल है विस्तृत नहीं, गहरा), मैं यह प्रतिज्ञा नहीं करूंगा कि वे अतिमानसीकृत शरीर (अतिमानसीकृत भौतिक शरीर) की बात कह रहे हैं। शायद अतिमानसिक शरीर, या किसी अपने ही लोक और अपने ही द्रव्यके ज्योतिर्मय शरीरकी बात है जिसे उन्होंने अपने-आपको लपेटे हुए पाया जो इस भौतिक आवेष्टन या मर्त्य शरीरको रद करता था। अन्य बहुत-सी पंक्तियों-की तरह इन पंक्तियों (कोरिंथियन्स ५३, ५४) के भी कई अर्थ हो सकते हैं और इनमें बिलकुल अतिभौतिक अनुभूतिका वर्णन हो सकता है। शरीरके रूपांतरकी बात विभिन्न परं-पराओंमें आयी है, लेकिन मुझे कभी इस बातका पूरा विश्वास नहीं हुआ कि उसका मतलब इसी भौतिक द्रव्यके परिवर्तनसे है। इन प्रदेशोंमें एक योगी था जो किसी समय इसकी शिक्षा देता था, पर वह आशा करता था कि जब परिवर्तन पूर्ण हो जायगा तो वह प्रकाशमें लुप्त हो जायगा। वैष्णव एक दिव्य शरीरकी बात करते हैं जो पूर्ण सिद्धि प्राप्त होनेपर इस शरीर-का स्थान ले लेगा। लेकिन यह दिव्य भौतिक शरीर होगा या अति-भौतिक शरीर? लेकिन साथ ही यह माननेमें कोई बाधा नहीं है कि ये सब विचार, अंतर्भास, अनुभूतियां यदि सीधा-सीधा भौतिक रूपांतरका निर्देशन नहीं करते तो उसकी ओर संकेत तो करते ही हैं।"
>
> २४.१२.१९३०

अजीब बात है, इन दिनों मेरे ध्यानोंका विषय भी यही था (जान-बूझकर नहीं, ऊपरसे आरोपित किया गया था), क्योंकि वनस्पतिसे पशु और पशुसे मनुष्य (विशेषकर पशुसे मनुष्य), तककी सारी यात्रामें, रूपमें तात्त्विक परिवर्तन बहुत ही कम है। सच्चा रूपांतर चेतनाके किसी और ही माध्यमके हस्तक्षेपसे होगा। पशु जीवन और मानव जीवनके सभी भेद

मनके हस्तक्षेपसे आते हैं, परंतु द्रव्य तत्त्वतः वह-का-वही है और रचना और विधानके उन्हीं नियमोंका अनुसरण करता है। उदाहरणके लिये, गायके गर्भाशयमें बनते हुए बछड़े और मांके गर्भाशयमें रूप लेते हुए बालक-में बहुत फर्क नहीं होता। जो फर्क है वह मनके हस्तक्षेपके कारण होता है। लेकिन अगर हम **भौतिक** सत्ताको देखें, अर्थात्, ऐसी सत्ताको जो उसी तरह दिखायी देती हो जैसे यह भौतिक शरीर दिखायी देता है, जिसकी घनता इसीके समान हो, उदाहरणके लिये, एक ऐसे शरीरको देखें जिसमें रक्त-संचारकी आवश्यकता न हो, जिसमें हड्डियां न हों (विशेष रूपसे यह दो: अस्थिपंजर और रक्त-संचार), तो ऐसे शरीरकी कल्पना करना बहुत मुश्किल है। और जबतक स्थिति ऐसी है, यह कल्पना की जा सकती है कि रक्त-संचारके बारेमें, हृदयकी क्रियाके बारेमें —यह कल्पना की जा सकती है—हम यह मान सकते हैं कि उनके स्थानपर आत्माकी शक्ति आ जाय, भोजनसे भिन्न अन्य उपायोंसे बल और ऊर्जाका नवीकरण किया जाय, इसकी कल्पना की जा सकती है। लेकिन फिर शरीरकी कठोरता, उसका ठोसपन—यह अस्थिपंजरके सिवा कैसे संभव है?...यह पशुसे मानवतकके रूपांतरकी तुलनामें अनन्तगुना बड़ा रूपांतर होगा। यह मानवसे एक ऐसी सत्ताकी ओर यात्रा होगी जो अब उसी तरह क्रिया नहीं करेगी, जो उसी तरहसे निर्मित नहीं होगी, जो किसी "ऐसी चीज"का मूर्त्त रूप और घनत्व होगी जिसे हम नहीं जानते...। हमने अभीतक जितनी चीजें भौतिक रूपसे देखी हैं यह उनमेंसे किसीके साथ मिलती-जुलती न होगी; अगर वैज्ञानिकोंने कोई ऐसी चीज पा ली है, तो उसके बारेमें मैं नहीं जानती।

> **हम यह कल्पना कर सकते हैं कि प्रकाश या नयी शक्ति कोषाणुओंको एक प्रकारका सहज जीवन और सहज-शक्ति प्रदान करे।**

हां, यही तो मैंने कहा, खाद्य गायब हो सकता है, इसकी कल्पना की जा सकती है।

> **लेकिन सारा शरीर इस शक्तिसे अनुप्राणित हो सकता है, उदा-हरणके लिये, शरीर सुनम्य रह सकता है। अस्थिपंजरको बनाये रखते हुए भी सुनम्य रह सकता है, बालककी सुनम्यता रख सकता है।**

इसी कारणसे तो बालक खड़ा नहीं रह सकता! वह प्रयास नहीं कर सकता। तो उदाहरणके लिये, अस्थिपंजरका स्थान कौन-सी चीज लेगी?

वही तत्त्व हो सकते हैं, पर ज्यादा नमनीय, ऐसे तत्त्व जिनकी दृढ़ता उनके कड़ेपनसे नहीं, प्रकाशकी शक्तिसे आयेगी, है न?

हां, यह संभव है...। बस, मेरे कहनेका मतलब यह है कि शायद यह चीज बहुत बड़ी संख्यामें नयी जातिके प्राणियोंके द्वारा की जायगी। उदाहरणके लिये, मनुष्यसे इस सत्तातक पहुंचनेके लिये बहुत सारे मध्यवर्ती जीव होंगे। मुझे यह लंबी कूद बहुत बड़ी लगती है, समझे?

मैं भली-भांति ऐसी सत्ताकी कल्पना कर सकती हूं जो आध्यात्मिक शक्ति, अपनी आन्तरिक सत्ताकी शक्तिद्वारा अपने-आपको नया करनेके लिये आवश्यक शक्तियोंको आत्मसात् कर सके और हमेशा युवा रहे। यह कल्पना भली-भांति की जा सकती है, आवश्यकता हो तो रूप बदलने लायक नमनीयता भी आ सकती है; लेकिन इस रचना-पद्धतिका तुरन्त लोप — एकसे दूसरेमें तुरंत बदल जाना... लगता है इसमें कई कदमोंकी जरूरत होगी...।

स्पष्ट है कि जबतक कोई विशेष घटना न हो (जिसे हम "चमत्कार" कहनेके लिये बाधित हैं, क्योंकि हम यह नहीं समझते कि यह कैसे हुई), तबतक हमारे जैसा शरीर एक ऐसे शरीरमें कैसे बदल सकता है जो बिना किसी भौतिक सहारेके पूरी तरह उच्चतर शक्तिसे निर्मित और परिचालित हो? यह (माताजी अपनी त्वचाको उंगलियोंसे पकड़ती हैं), यह उस दूसरी चीजमें कैसे बदल सकती है?... यह असंभव प्रतीत होता है।

यह चमत्कार लगता है परंतु...

हां, अपने सारे अनुभवोंमें भोजनकी आवश्यकता न रहनेकी संभावनाको समझ सकती हूं, इस सारी प्रक्रियाका गायब हो जाना (उदाहरणके लिये, आत्मसात् करनेके तरीकेका बदलना संभव है), परंतु ढांचेको कैसे बदला जाय?

लेकिन यह मुझे असंभव नहीं लगता।

यह तुम्हें असंभव नहीं लगता?

नहीं, शायद यह कल्पना हो, पर मैं भली-भांति यह कल्पना कर सकता हूं कि कोई आध्यात्मिक शक्ति शरीरमें प्रवेश करे और एक प्रकारकी ज्योतिर्मय स्फूर्ति पैदा करे और अचानक सब कुछ फूलकी तरह खिल उठे। यह शरीर स्वयं अपनी ओर खुलकर कांतिमय, नमनीय और ज्योतिर्मय बन जाय।

लोचदार, नमनीय, हां, इसकी कल्पना की जा सकती है। यह नमनीय बन सकता है, यानी, रूप अबके जैसा सुदृढ़ नहीं होगा, इस सबकी कल्पना की जा सकती है, परंतु . . .

लेकिन मैं इसे एक प्रकारके ज्योतिर्मय प्रस्फुटनके रूपमें भली-भांति देख सकता हूं: प्रकाशमें यह शक्ति अवश्य होगी और वह वर्तमान ढांचेको किसी प्रकार नष्ट नहीं करता।

लेकिन दिखायी देगा? हम उसे छू सकेंगे?

हां, मात्र उद्‌घाटन है। जो बंद था वह फूलकी भांति खिलता है। बस इतना ही, लेकिन फिर भी फूलकी संरचना हमेशा वही है; मात्र वह पूरी तरह खुल गया है और ज्योतिर्मय है, है न?

(माताजी अपना सिर हिलाती हैं और कुछ देर चुप रहती हैं) मुझे अनुभव नहीं है, मैं नहीं जानती।

मुझे पूरा विश्वास है (मुझे ऐसे अनुभव हो चुके हैं जिन्होंने इस बातको प्रमाणित किया है) कि इस शरीरके जीवन — वह जीवन जो इसे हिलाता-डुलाता और बदलता है — के स्थानपर एक शक्ति आ सकती है; यानी, एक प्रकारकी अमरता पैदा की जा सकती है और जीर्णता भी गायब हो सकती है। ये दो चीजें संभव हैं: जीवनी शक्ति आ सकती है और जीर्ण-शीर्णता जा सकती है। और यह आ सकती है मनोवैज्ञानिक ढंगसे, भागवत आवेशके प्रति पूर्ण आज्ञाकारितासे। इससे व्यक्ति इस योग्य बनता है कि हर क्षण जो कुछ करना चाहिये उसे करनेकी शक्ति मिलती रहे — यह सब, यह सब, यह निश्चिति है; यह कोई आशा नहीं है, यह कल्पना नहीं है, यह निश्चिति है। हां, पहले शिक्षित करना होगा, धीरे-धीरे रूपांतरित करना होगा, अपनी आदतें बदलनी होंगी। यह

संभव है, यह सब संभव है। लेकिन अस्थि-पंजरकी आवश्यकताको बदलनेमें ही कितना समय लग जायगा (पहले हम इसी समस्याको लें) ? मुझे लगता है कि यह मामला अभी बहुत दूर है। यानी, बहुत-सी बीचकी अवस्थाओंकी जरूरत होगी। श्रीअरविंदने कहा है कि जीवनको अनिश्चित रूपमें लंबाया जा सकता है। हां, यह हो सकता है। लेकिन अभीतक हम किसी ऐसी चीजसे नहीं बने हैं जो विलयन और विलयनकी आवश्यकतासे पूरी तरह बच निकले। हड्डियां, बहुत टिकाऊ हैं। अगर अनुकूल परिस्थितियां हों तो वे हजार वर्ष भी रह सकती हैं। यह तो मानी हुई बात है लेकिन इसका अर्थ "सिद्धान्त"में अमरता नहीं है। तुम मेरा मतलब समझे ?

नहीं, आपको लगता है कि यह कोई अ-भौतिक द्रव्य होना चाहिये ?

मुझे नहीं मालूम यह अ-भौतिक है या नहीं, लेकिन यह ऐसा भौतिक है जिसे मैं नहीं जानती ! और यह ऐसा द्रव्य नहीं है जिसे हम अब जानते हैं। कम-से-कम यह रचना तो नहीं, जिसे हम अभीतक जानते हैं।

मैं ठीक नहीं कह सकता लेकिन यह होना चाहिये कोई भौतिक शरीर (जैसा कि श्रीअरविंदने कहा है), मुझे लगता है (पर शायद यह दिवा स्वप्न हो) कि, उदाहरणके लिये, यह कमलकी कलीकी तरह हो। हमारा वर्तमान शरीर कमलकी कलीकी तरह है, बहुत छोटा, बंद और कठोर लेकिन कली खिलती है, खिलकर फूल बन जाती है।

हां, वत्स, लेकिन यह . . .

यह प्रकाश इन तत्त्वोंको लेकर क्या नहीं कर सकता ? ये वही चीजें हैं, वही तत्त्व लेकिन बदले हुए रूपमें।

लेकिन वनस्पति अमर नहीं होती।

नहीं, यह तो केवल तुलना थी।

बिलकुल ठीक !

यही तो प्रश्न है। सतत परिवर्तन, मैं कल्पना करती हूं, मैं ऐसे फूल-की भी कल्पना कर सकती हूं जो कभी न मुरझाये; लेकिन अमरताका यह तत्त्व . . . यानी, सार रूपमें एक ऐसा जीवन जो अपने-आपको नया करते रहनेकी आवश्यकतासे मुक्त हो : वह शाश्वत शक्ति हो सकती है जो अपने-आपको सीधे सतत रूपमें प्रकट करती रहती है, पर साथ ही उसे यह, भौतिक शरीर भी होना चाहिये (माताजी उंगलियोंसे त्वचाको छूती हैं)।

मैं उत्तरोत्तर परिवर्तनकी बात भली-भांति समझ सकती हूं और इस पदार्थका कुछ ऐसा रूप बन सकता है जो अपने-आपको अंदरसे बाहरकी ओर सतत नूतन करता रहे और यही अमरता होगी; लेकिन मुझे लगता है कि अभी जो है, हम जैसे हैं, और जीवनके इस दूसरे रूपके बीच बहुत-सी अवस्थाएं होनी चाहिये। हां तो, ये कोषाणु, जिन्हें इतनी चेतना और इतना अनुभव प्राप्त है, उदाहरणके लिये, अगर तुम उनसे पूछो : "क्या कोई ऐसी चीज है जो तुम नहीं कर सकते ?" वे पूरी सचाईके साथ उत्तर देंगे : "नहीं, जो कुछ प्रभु चाहें, उसे मैं कर सकती हूं।" उनकी चेतनाकी यह अवस्था है। परंतु बाह्य रूपमें चीज उल्टी है। व्यक्तिगत अनुभव यह है : मैं जो कुछ भगवान्‌की उपस्थितिमें करती हूं, बिना प्रयासके, बिना कठिनाईके, बिना थकानके, बिना किसी क्षतिके कर लेती हूं (माताजी एक विशाल सामंजस्यपूर्ण लय बनाती हैं)। लेकिन अभी यह बाहरके सभी प्रभावोंके प्रति खुला हुआ है और शरीरको ऐसी चीजें करनी पड़ती हैं जो सीधी परम पुरुषकी प्रेरणाकी अभिव्यक्ति नहीं हैं और परिणाम स्व-रूप थकान, रगड़ . . .। अतः, एक ऐसे जगत्‌में जो धरती नहीं है, लटका हुआ अतिमानसिक शरीर। यह वह नहीं है !

नहीं।

किसी ऐसी चीजकी जरूरत है जो छूतका प्रतिरोध कर सके। मनुष्य पशुकी छूतका प्रतिरोध नहीं कर सकता। वह उसके हमेशा संपर्कमें रहता है। इसलिये वह प्रतिरोध नहीं कर सकता। तो, यह सत्ता कैसे प्रति-रोध करेगी ? . . . ऐसा लगता है कि लंबे समयतक — काफी लंबे समय-तक — वह छूतके नियमोंके अधीन रहेगी।

मैं नहीं जानता, लेकिन यह मुझे असंभव नहीं लगता।

नहीं ?

मुझे लगता है कि ज्योतिकी शक्ति हो तो उसे कौन छू सकता है?

लेकिन सारी दुनिया गायब हो जायगी! ऐसी बात है, है न?

जब तत् आये, जब प्रभु हों तो हजारमें एक भी ऐसा नहीं है जो डर न जायगा। और वह भी बुद्धिमें नहीं, विचारमें नहीं, ऐसे : इस द्रव्यमें। तब यह स्वीकार करते हुए, यह मानते हुए कि बात ऐसी है, कि सत्ता परम शक्ति, परम प्रकाशका घन रूप और अभिव्यक्ति, एक सूत्र है — तब क्या होगा?

हां तो, यही तो सारी समस्या है।

हां।

मैं स्वयं रूपांतरकी कोई कठिनाई नहीं देखता, मुझे लगता है है कि यह संसारकी कठिनाई है।

अगर हर चीज साथ-ही-साथ रूपांतरित की जा सकती तो वह ठीक होता, लेकिन प्रत्यक्ष रूपमें ऐसा नहीं है। और अगर एक सत्ता अकेली ही रूपांतरित हो जाय तो...

हां, शायद वह असह्य हो।

हां।

मुझे लगता है (यह एक प्रकारका संवेदन-सा है), कि मध्यवर्ती अवस्थाएं होनी चाहिये।

और जब तुम देखते हो कि मनुष्यको अपना अस्तित्व बनाये रखनेके लिये सारी प्रकृतिके विरुद्ध लड़ना पड़ा, तो तुम्हें लगता है कि वे सत्ताएं जो उन्हें समझ सकेंगे, उनकी सहायता करेंगी, उनके साथ उनका संबंध भक्ति, आसक्ति और सेवाका होगा, जैसा पशुओंका मनुष्योंके साथ है। लेकिन जिन्हें उनके साथ प्रेम न होगा... वे भयानक सत्ताएं होंगी। मुझे याद है, एक बार मुझे इन नयी सत्ताओंकी खतरनाक स्थितिका अंतर्दर्शन हुआ था और मैंने कहा था (यह १९५६ के अतिमानसिक अवतरणसे पहलेकी बात है), मैंने कहा था: "अतिमानस पहले-पहल अपने शक्ति-

रूपमें प्रकट होगा, क्योंकि सत्ताओंकी सुरक्षाकी दृष्टिसे यह अनिवार्य होगा।" और वास्तवमें पहले शक्तिका ही अवतरण हुआ — शक्ति और प्रकाश। ऐसा प्रकाश जो ज्ञान और शक्ति देता है।

यह एक ऐसी चीज है जिसे मैं अधिकाधिक अनुभव कर रही हूं: मध्यवर्ती अवधियोंकी आवश्यकता . . . यह बिलकुल स्पष्ट है कि कोई चीज होनेकी प्रक्रियामें है। लेकिन यह "ऐसी चीज" नहीं है जिसे देखा जा चुका हो, जिसका पूर्वदर्शन हो चुका हो और जो परिणति होगी: यह शायद परिणति नहीं, आनेवाली अवस्थाओंमेंसे **एक** होगी।

श्रीअरविंदने भी कहा है कि सबसे पहले जीवनको अपने संकल्पके अनुसार लंबा करनेकी शक्ति आयेगी (बात इससे बहुत अधिक सूक्ष्म और अद्‌भुत है), लेकिन यह, यह चेतनाकी एक स्थिति है जो प्रतिष्ठित की जा रही है: यह परम प्रभुके साथ एक प्रकारका संबंध, एक नित्य स्थिर संपर्क है। यह घिसाई और क्षतिके भावका उन्मूलन करके उसकी जगह असाधारण लचीलेपन और असाधारण सुनम्यताको लाता है। लेकिन **सहज** अमरताकी स्थिति संभव नहीं है — कम-से-कम अभी तो संभव नहीं है। इस ढांचेको इससे भिन्न किसी चीजमें बदलना होगा और जैसे चीजें हो रही हैं किसी और चीजमें बदलते बहुत समय लगेगा। हो सकता है कि भूतकालकी अपेक्षा अब ज्यादा तेजीसे हो। अगर हम यह मान भी लें कि गति बहुत तेज हो रही है, तो भी (हमारी समयकी वर्तमान धारणाके अनुसार), उसमें समय लगेगा। और इसके अतिरिक्त, ध्यान देने योग्य बात यह है कि यदि व्यक्ति चेतनाकी उस अवस्थामें रहना चाहे जहां अपव्ययका अस्तित्व नहीं है, उसे अपने समयके भावको बदलना होगा: तब तुम्हें ऐसी अवस्थामें जाना होगा जहां समयकी वही वास्तविकता नहीं रह जाती। यह एक और चीज है। यह बहुत विशेष है, यह एक असंख्य वर्तमान है। यह पहलेसे सोचनेकी आदत, या जो होनेवाला है उसका पूर्वदर्शन, यह भी मार्गका रोड़ा है; यह सत्ताके पुराने ढंगके साथ चिपका रहता है।

इतनी सारी, इतनी सारी आदतें बदलनी हैं।

संपूर्ण सिद्धि तभी होगी जब व्यक्ति सहज रूपमें दिव्य हो सके। ओह! सहज रूपसे दिव्य होना, यह देखनेके लिये मुड़नातक नहीं कि हम दिव्य हो गये हैं या नहीं, उस अवस्थाको पार कर लेना जिसमें व्यक्ति दिव्य बनना चाहता है।

प्रासंगिक (११ जनवरी, १९६७)

किसी शिष्यने यह शिकायत की कि कुछ लोग माताजीका समय प्रायः व्यर्थके प्रश्नोंमें नष्ट करते हैं और ज्यादा जरूरी दीखनेवाले कामोंके लिये कम ही समय बचता है।

यह ऐसा ही **होना चाहिये,** क्योंकि यह ऐसा है।

शायद यह एक पाठ है (यह एक सूचना है), लेकिन इसका कुछ उद्देश्य है।

मुझे जो पाठ समझना चाहिये उसे मैं समझनेकी कोशिश कर रही हूं। मैं धीरज रखना सीख रही हूं, ओह! कितना धीरज... हमेशा ही विद्रोह, अपमान आदि होते रहते हैं। ये मेरे लिये एकदम शून्यके समान हैं, और कभी-कभी ये बहुत मजेदार भी होते हैं। जब मैं स्वयं अपनी स्थितिमें, करुणाकी सच्ची स्थितिमें होती हूं तो इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। यह ऊपरी सतहपर एक लहरी भी नहीं पैदा करता, कुछ भी नहीं।

कल मुझसे यह पूछा गया था; मुझसे पूछा गया था कि अपमान, अपमानित अनुभव करना, स्वमानका साधनामें कोई स्थान है। सचमुच इसके लिये कोई स्थान नहीं है, यह तो जानी हुई बात है! लेकिन मैंने इस गतिको देखा है, वह बहुत स्पष्ट थी, मैंने देखा कि अहंकारके बिना, जब अहंकार न हो तब सत्ताके अंदर यह लहर **नहीं रह सकती।** मैं भूतकालमें काफी पीछे गयी, एक ऐसे समयमें जब मुझे यह चीज लगती थी (इसे बहुत वर्ष बीत गये), लेकिन अब यह किसी परायी चीजके रूपमें भी नहीं है, अब यह असंभव है। मेरी सारी सत्ता, यहांतक कि शरीर भी यह नहीं समझ पाता कि यह चीज क्या है (यह अजीब बात है); यह वैसी ही चीज है जब भौतिक रूपमें कोई धक्का लगता है (माताजी अपनी कोहनीपर एक खेंच दिखाती हैं), उदाहरणके लिये, इस तरह, इससे अब ऐसा नहीं लगता जैसा चोटसे लगता है, अब यह उस तरह नहीं लगता। बहुधा कुछ भी नहीं होता, यह दिखायी दिये बिना ही समग्रमें जा मिलता है; लेकिन जब कुछ लगता भी है तो वह केवल एक संस्कार होता है — अपने-आपको अनुभव करानेवाली किसी सहायताका, एक ऐसे पाठका जिसे सीखना है, एक बहुत अधिक कोमल, एक घनिष्ठ संस्कार। लेकिन वह ऐसा नहीं होता जैसा कि मानसिक रीतिसे होता है जिसमें हमेशा एक

खिचाव-सा होता है; यह वैसी चीज नहीं होती। यह कुछ सीखनेके लिये अपने-आपको देनेवाली सत्ताके आत्म-निवेदनकी तरह होता है। मैं सभी कोषाणुओंकी बात कर रही हूं। यह बहुत मजेदार होता है। स्पष्टतः, अगर तुम इसे मानसिक रूप दो तो तुम्हें यह कहना होगा कि यह सभी वस्तुओंमें भागवत सत्ताकी चेतना या प्रतीति है और इसकी पद्धति — संपर्ककी पद्धति — उस स्थितिपर निर्भर है जिसमें तुम हो।

हां, यह शरीरकी अनुभूति है।

और व्यक्तियोंमें, जब कभी धक्का लगे, या चोट लगे या कुछ ऐसा हो तो अहंकारका, अपने-आपको प्रकट करते हुए अहंकारका स्पष्ट दर्शन होता है — वे कहते हैं : "यह दूसरा व्यक्ति है।" मैं यह न कहूंगी : "ओह ! वह गुस्सेमें है," या "यह व्यक्ति . . ." नहीं, उसका अहंकार है; नहीं, उसका अहंकार भी नहीं, स्वयं अहंकार, **अहंकार** तत्त्व — अहंकार तत्त्व जो अभीतक हस्तक्षेप करता है। यह बहुत मजेदार है क्योंकि अहंकार मेरे लिये एक प्रकारकी निर्वैयक्तिक सत्ता बन गया है, जब कि औरोंके लिये वह उनके व्यक्तित्वकी तीव्र अनुभूति होता है! उसकी जगह यह सत्ताकी एक प्रणाली है (तुम उसे पार्थिव या मानव कह सकते हो) जो यहां, वहां, उधर न्यूनाधिक मात्रामें हर एकको व्यक्तित्वकी भ्रांति देती है। यह बहुत मजेदार है।

हां, लेकिन मुश्किल यह है कि दूसरे लोग अपना पाठ नहीं सीखते, तब . . .

ओह ! अगर वे पाठ सीख लेते तो सब कुछ जल्दीसे बदल जाता।

तो परिणाम यह है कि आपपर हमला होता है, आपको निगला जाता है।

असंभव !

आपका सारा समय ले लिया जाता है, आपका सारा . . .

वे मुझे निगल नहीं सकते ! (हंसते हुए) मैं बहुत बड़ी हूं !

फिर भी भौतिक दृष्टिसे आप अभिभूत हो जाती हैं।

मैंने देखा है कि अगर मैं प्रतिरोध करूं तो चीज बिगड़ जाती है। अगर मेरे अंदर तरलताका भाव हो तो टक्करें नहीं लगतीं। यह वही बात है जो इस खरोंचके बारेमें है (माताजी अपनी कोहनी दिखाती हैं)। अगर तुम कड़े हो जाओ और चीजें प्रतिरोध करें तो तुम्हें चोट लगती है। यह ऐसी ही बात है : जैसे लोग गिरना जानते हैं वे गिरते हैं, और उनका कुछ भी नहीं टूटता; जब कि जो लोग गिरना नहीं जानते, वे जरा-सा गिरते ही कुछ तोड़-फोड़ लेते हैं। यहां वही बात है। तुम्हें सीखना पड़ता है कि कैसे . . . पूर्ण ऐक्य। ठीक करना, सीधा करना, फिर भी यह प्रतिरोध है। तो तुम जिसे आक्रमण कहते हो वह जारी रहे तो क्या होगा? बात मजेदार होगी, देखें! (माताजी हंसती हैं), चूंकि दूसरे लोग उसी स्थितिमें नहीं हैं, इसलिये वे शायद तंग आ जायंगे, परंतु मैं असहाय हूं! (माताजी हंसती हैं)।

व्यक्तिको हमेशा हंसना चाहिये, हमेशा। प्रभु हंसते हैं और हंसते रहते हैं। उनका हास्य इतना अच्छा है, इतना अच्छा है, प्रेमसे इतना परिपूर्ण है। यह एक ऐसा हास्य है जो तुम्हें असाधारण मधुरताके साथ अपनी भुजाओंमें भर लेता है!

मनुष्योंने उसे भी विकृत कर दिया है — उन्होंने हर चीज विकृत कर दी है। (माताजी हंसती हैं)।

२१ जनवरी, १९६७

एक ऐसी बात हुई है जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती।

शरीरको अपनी क्रियाएं स्वाभाविक रूपमें, यंत्रवत् करते रहनेकी आदत थी। यानी, उसके लिये उसके महत्त्व या उपयोगिताका कोई सवाल न था। उदाहरणके लिये, उसके लिये वस्तुओंका मानसिक या प्राणिक अभिप्राय न था। उसके लिये यह प्रश्न न था कि क्या "महत्त्वपूर्ण" है और क्या नहीं, क्या "रुचिकर" है और क्या नहीं। इसका अस्तित्व न था। और फिर, अब जब कि ये कोषाणु सचेतन हो रहे हैं, वे मानों पीछे हटते हैं (माताजी पीछे हटनेकी क्रिया करती हैं) : वे अपने-आपको देखते हैं, वे अपने-आपको कार्य करते हुए देखना शुरू कर रहे हैं और प्रश्न-पर-प्रश्न कर रहे हैं कि यह सब किसलिये, यह सब? और तब, एक अभीप्सा : "कैसे, सत्य रूपमें

यह कैसे होना चाहिये ? हमारा कार्य, हमारी उपयोगिता, हमारा आधार क्या है ? हां, हमारा आधार और हमारे जीवनका "मानदण्ड" क्या है ? उनकी बातको फिरसे मानसिक भाषामें यूं कहा जा सकता है : "दिव्य होनेपर यह कैसा होगा ? उसमें क्या फर्क होगा ? होनेकी दिव्य पद्धति क्या है ?" और वहां जो बोलता है वह इस प्रकारका समस्त भौतिक आधार है जो हजारों छोटी-छोटी चीजोंसे मिलकर बना है, जो अपने-आपमें बिलकुल उदासीन-सी हैं, समग्रको, पूर्णताको छोड़कर उनके रहनेका कोई कारण नहीं। वे किसी अन्य क्रियामें सहायक भले हों, पर ऐसा लगता है कि अपने-आपमें उनका कोई अर्थ नहीं। और फिर, फिरसे वही चीज : एक प्रकारकी ग्रहणशीलता, एक मौन उद्‌घाटन जो वस्तुको प्रवेश करने देता है; एक प्रकाशमय, सामंजस्यपूर्ण होनेवाली सत्ताका एक बहुत सूक्ष्म दर्शन।

सत्ताकी इस प्रकारकी कोई व्याख्या नहीं की जा सकती; लेकिन इस खोजमें बहुरंगे प्रकाशका सतत प्रत्यक्ष दर्शन (अंतर्दर्शनके रूपमें) होता है जिसमें सब रंग— हां, सब रंग होते हैं, लेकिन परतोंमें नहीं, बल्कि (बिन्दु लगानेकी मुद्रा) ऐसा मानों बिन्दुओंके द्वारा सारे रंगोंका समूह हो। दो वर्ष हुए (शायद कुछ ज्यादा ही, मुझे याद नहीं), जब मुझे कुछ तांत्रिक मिले थे। मेरा उनके साथ संपर्क था और मैंने यह प्रकाश देखना शुरू किया। मैंने सोचा कि यह "तांत्रिक प्रकाश" है, भौतिक जगत्‌को देखनेका तांत्रिक तरीका है। लेकिन अब मैं उसे हमेशा ही देखती हूं और यह हर चीजके साथ जुड़ा रहता है। ऐसा लगता है कि शायद इसे "भौतिक द्रव्यका सच्चा प्रत्यक्ष दर्शन" कहा जा सकता है। सभी संभव रंग आपसमें मिले बिना एक-दूसरेके साथ जुड़े रहते हैं (उसी तरह बिन्दु बनानेकी मुद्रा), और प्रकाशमय बिन्दुओंके रूपमें आपसमें जुड़े रहते हैं। सभी चीजें उसीसे बनी होती हैं। और यही, होनेकी सच्ची विधि मालूम होती है — मुझे अभीतक पूरा निश्चय नहीं है, लेकिन, बहरहाल, यह बहुत अधिक सचेतन होनेका एक तरीका है।

और मैं इसे हमेशा, खुली आंखोंसे, बंद आंखोंसे हमेशा देखती हूं। और इससे (शरीरके लिये) एक अजीब-सा प्रत्यक्ष दर्शन होता है। एक ही साथ सूक्ष्मता, भेद्यता, अगर यह कहा जा सके तो, रूपका लचीलापन, निश्चित रूपसे उन्मूलन नहीं, रूपोंके ठोसपनमें कमी (ठोसपनका उन्मूलन, रूपका उन्मूलन नहीं) : रूपोंका लचीलापन। और स्वयं शरीर, जब पहली बार उसने किसी-न-किसी अंगमें यह अनुभव किया तो उसे लगा . . . वह मानों चकरा-सा गया, उसे ऐसा लगा मानों कोई चीज बचकर

निकली जा रही हैं। लेकिन अगर आदमी शांत रहे और चुपचाप प्रतीक्षा करे तो उसके स्थानपर एक प्रकारकी नमनीयता, तरलता आ जाती है। यह कोषाणुओंके लिये एक नयी जीवन-पद्धति मालूम होती है।

शायद यह भौतिक दृष्टिसे वह चीज हो जो भौतिक अहंकारका स्थान लेगी; यानी, ऐसा लगता है कि रूपकी कठोरता इस नये संभवनके तरीकेके लिये जगह करती जा रही है। लेकिन हम जानते हैं कि पहला संपर्क हमेशा बहुत "आश्चर्यजनक" होता है, लेकिन धीरे-धीरे शरीर अभ्यस्त हो जाता है। एक विधिसे दूसरीमें जानेका संक्रमणकाल जरा कठिन होता है। वह बहुत धीरे-धीरे क्रमशः किया जाता है, फिर भी, एक क्षण होता है (संक्रमणका क्षण), कुछ सेकेंड जो . . . जो, कम-से-कम यही कह सकते हैं कि "अप्रत्याशित" होते हैं।

इस प्रकार सभी आदतें मिटा दी जाती हैं और सभी क्रियाओंके बारेमें भी यही बात है: रक्त-संचारके लिये, पाचनके लिये, श्वासोच्छ्वासके लिये — सभीके लिये यही बात है। और संक्रमणके समय एक दूसरेका स्थान अचानक नहीं ले लेता, लेकिन दोनोंके बीच एक तरल अवस्था होती है और वह कठिन है। केवल एक दृढ़ श्रद्धा जो पूर्णतया अडिग, प्रकाशमान, नित्य, निर्विकार हो — परम प्रभुकी वास्तविक सत्तामें, परम प्रभुकी "एकमात्र" वास्तविक सत्तामें श्रद्धा ही सबको इस योग्य बनाती है कि वे वह-के-वही दीखते हुए चलते चले जायं।

ये सभी सामान्य गतिविधियोंकी बड़ी लहरोंकी तरह हैं, सत्ताकी सामान्य विधियां और सामान्य आदतें, इन्हें पीछे धकेल दिया जाता है और वे वापिस आकर लील जाना चाहती और फिरसे धकेली जाती हैं। मैंने देखा है कि पिछले वर्षोंमें शरीर और समस्त शारीरिक चेतना, सुरक्षाके लिये, फिरसे पुराने मार्गपर जा गिरे। यह सुरक्षाके लिये, बच निकलनेके लिये था। लेकिन अब वह आगेसे ऐसा न करनेके लिये, स्वीकार करनेके लिये राजी है। इसके विपरीत, वह कहता है: "अच्छा, अगर विघटन होना है तो विघटन ही सही।" जो कुछ भी हो उसे स्वीकार होगा।

मनमें, जब यह चीज भौतिक मनमें होती है (यह बरसों पहलेकी बात है, मैंने तब भी इसे देखा था), यही चीज लोगोंको यह डर दिखाती है कि वह पागल हुए जाते हैं। इससे वह डर जाते हैं (और डरके मारे चीजें होती भी हैं), और तब, वे झपटकर उससे बचनेके लिये साधारण बुद्धिमें लौट आते हैं। उसीके तुल्य है — भौतिक शरीरमें जो होता है यह वही नहीं, उसीके तुल्य है: तुम्हें लगता है कि सामान्य स्थिरता गायब हो रही है। हां, लंबे अरसेतक — लंबे अरसेतक — यह स्वाभाविक पीछे

हटनेका भाव रहता था; फिर तुम बिलकुल सामान्य हो जाते हो और फिरसे शुरू करते हो। और, अब वे बिलकुल नहीं चाहते: "जो भी हो, देख लेंगे" — महान् साहसिक कार्य।

यह सब कैसा होगा ? — यह कैसे होगा ? कैसे . . . हां, कोषाणु कहते हैं: "हमें क्या होना चाहिये ? हम कैसे होंगे ?"

यह मजेदार है।

४ मार्च, १९६७

रूपांतरकी यह समस्या, मैं ज्यादा-ज्यादा स्पष्ट रीतिसे देख रही हूं कि इसके लिये तीन उपाय हैं, आगे बढ़नेके तीन रास्ते हैं और पूर्ण होनेके लिये तीनोंको मिलाना चाहिये।

एक, स्वभावत:, सबसे महत्त्वपूर्ण मार्ग है जिसे हम "आध्यात्मिक" कह सकते हैं। वह है 'चेतना' के साथ संपर्क — प्रेम-चेतना-शक्ति, हां, यही, यही हैं तीन रूप: परम प्रेम-चेतना-शक्ति, और संपर्क, तादात्म्य: सारी चीजका अर्थ हुआ सभी भौतिक कोषाणुओंको उस (तत्) के ग्रहण करने योग्य, उसे अभिव्यक्त करने योग्य — वह बन जाने योग्य "बनाना"।

सभी साधनोंमें यह सबसे ज्यादा सशक्त और सबसे ज्यादा अनिवार्य है।

एक गुह्य मार्ग है जो सभी मध्यवर्ती लोकोंका हस्तक्षेप लाता है। इसमें सभी शक्तियों और सभी व्यक्तित्वों और सभी मध्यवर्ती क्षेत्रोंका विस्तृत ज्ञान होता है और वह (मार्ग) इन सबका उपयोग करता है। वहां व्यक्ति अधिमानसके देवोंका उपयोग करता है। यह दूसरा मार्ग है। शिव, कृष्ण, श्रीमांके समस्त रूप इस दूसरे मार्गके अंश हैं।

और फिर, उच्चतर बुद्धिका मार्ग है। यह वैज्ञानिक भावसे परेके भाव-का प्रक्षेपण है। यह समस्याको नीचेसे पकड़ता है। इसका भी महत्त्व है। विस्तृत व्यवहारकी दृष्टिसे यह मार्ग मोटे अनुमानोंको कम कर देता है और ज्यादा प्रत्यक्ष तथा ज्यादा यथार्थ क्रिया लाता है।

अगर तीनोंको मिलाया जा सके तो स्पष्ट है कि चीज ज्यादा तेज चलेगी।

पहलेके बिना, कुछ भी संभव नहीं है, बल्कि पहलेके बिना बाकी दोनों अवास्तविक रहते हैं: वे कहीं नहीं पहुंचाते। तुम अनिश्चित कालतक घूमते रहते हो। लेकिन अगर तुम पहलेको दूसरे दोसे लैस कर दो तो

मेरा ख्याल है कि क्रिया बहुत अधिक यथार्थ, अधिक सीधी और अधिक तेज हो जाती है।

इन दिनोंके "अध्ययन" का यही निष्कर्ष है।

प्रासंगिक (७ मार्च, १९६७)

मृत्युके प्रसंगमें :

मेरे पास बड़े विद्यार्थियोंसे (छोटे बच्चोंसे नहीं, बड़ोंसे) "मृत्यु" के बारेमें कुछ प्रश्न आये हैं, मृत्युकी अवस्थाएं, इस समय इतनी दुर्घटनाएं क्यों हो रही हैं आदि। मैं दो व्यक्तियोंको उत्तर दे चुकी हूं। स्वभावतः उत्तर मानसिक स्तरसे था, लेकिन उसमें परे जानेका प्रयास था।

इस प्रकारके मानसिक तर्कके लिये, हां, यह जरूरत होती है कि चीजोंका तर्कके अनुसार एकसे दूसरेकी ओर निगमन हो; इसलिये ऐसे प्रश्न किये जाते हैं... जो असंभव होते हैं।[1]

---

[1]**क्या अंतरात्मा मृत्युका समय और तरीका नहीं चुनती? जब मानव जातिपर बड़ी-बड़ी विपदाएं आती हैं, बंबारी, बाढ़, भूकंप आदि तो क्या सब-की-सब आत्माएं एक ही समय मृत्यु चुनती हैं?**

मनुष्योंकी बहुत बड़ी संख्याकी सामूहिक नियति होती है। उनके बारेमें कोई प्रश्न नहीं उठता।

जिसमें व्यक्तित्व-प्राप्त चैत्य पुरुष है वह, यदि उसकी अंतरात्मा यह चाहे, सामूहिक विनाशमेंसे भी बच सकता है।

मृत्युके बाद अंतरात्मा अपने मन और प्राण और भौतिक सत्तासे जुदा हो जाती है। तब वह अपने अस्तित्वके बारेमें सचेतन कैसे रहती है?

अंतरात्मा परम प्रभुकी एक चिनगारी है; मुझे नहीं लगता कि प्रभुको अपने अस्तित्वके बारेमें सचेतन होनेके लिये शरीरकी जरूरत है।

यह कोई बहुत नयी चीज नहीं है, परंतु यह चेतनाका विस्तार है, और अभी हालमें ये सब प्रश्न वातावरणमें आये और सबसे पहले ऐसा लगा कि मनुष्य मृत्युके बारेमें कुछ नहीं जानता — यह नहीं जानता कि यह क्या है, वह यह नहीं जानता कि क्या होता है, उसने बहुतेरी धारणाएं बना रखी हैं, परंतु कुछ भी निश्चित नहीं है। इसे इसी तरह आगे बढ़ाते हुए, इस तरह आग्रह करते हुए मैं इस निष्कर्षपर आयी हूं कि वास्तवमें मृत्यु जैसी कोई चीज है ही नहीं।

केवल एक आभास है, एक सीमित दृष्टिपर आधारित आभास, लेकिन चेतनाके स्पंदनमें कोई मौलिक फर्क नहीं पड़ता। यह एक प्रकारकी चिंताके उत्तरमें आया (कोषाणुओंमें सचमुच मृत्यु क्या है यह न जाननेके कारण एक चिंता-सी होती है—उस प्रकार चिंता), और उत्तर बहुत स्पष्ट और दृढ़तापूर्ण था, क्योंकि सिर्फ चेतना ही जान सकती है क्योंकि . . . स्थितिके अंतरको जो महत्त्व दिया गया है वह ऊपरी महत्त्व है जो स्वयं तथ्यके बारेमें अज्ञानपर आधारित है। जो व्यक्ति संचारणका साधन बनाये रख सके वह कह सकता है कि मेरे लिये इसमें कोई विशेष फर्क नहीं पड़ता।

लेकिन दूसरी बात ऐसी है जिसपर अभी काम चल रहा है, ऐसे स्थान हैं जो बिलकुल यथार्थ नहीं हैं, अनुभूतिके कुछ ब्योरे हैं जो नहीं मिल रहे। इसलिये ऐसा लगता है कि जबतक ज्ञान अधिक पूर्ण न हो जाय तबतक ठहरना ज्यादा अच्छा होगा। क्योंकि कल्पना-मिले अनुमानसे, कुछ कहनेकी जगह समग्र अनुभूतिके साथ संपूर्ण तथ्य कहना ज्यादा अच्छा होगा। इसलिये इसे आगेके लिये स्थगित रखें।

लेकिन आप कहती हैं कि कोई भेद नहीं . . . . जब व्यक्ति दूसरी तरफ होता है तो क्या वह भौतिक जगत्का बोध पा सकता है ?

हां, हां, यह होता है।

उन सत्ताओंका बोध, उन . . . .

हां, यह ऐसा ही है।

केवल बोध होनेकी जगह . . . तुम एक भ्रांतिमूलक स्थितिसे, एक ऐसे बोधसे जो आभासोंका बोध है बाहर निकल आते हो, लेकिन तुम्हें एक बोध होता है; यानी, कुछ ऐसे क्षण थे जब मुझे बोध हुआ था, मैं अंतर

देख सकती थी; लेकिन यह अनुभूति समग्र नहीं थी (इस अर्थमें समग्र नहीं थी कि बाह्य परिस्थितियां उसमें बाधा देती थीं)। इसलिये ज्यादा अच्छा यह है कि उसके बारेमें बोलनेसे पहले कुछ प्रतीक्षा की जाय।

लेकिन बोध तो है।

बिलकुल एक ही नहीं, लेकिन कभी-कभी अपने-आपमें अधिक समर्थ; लेकिन इसे सचमुच दूसरी ओरसे नहीं देखा गया था। मालूम नहीं इसे कैसे कहा जाय। मुझे एक उदाहरण मिला — उदाहरण नहीं बल्कि जीती-जागती चीज, पूर्णबोध — यह एक ऐसे आदमीके बारेमें है जो बरसों मेरे साथ रहा था, वह शरीरके बाहर जानेके बाद (एकदम भौतिक रूपमें शरीरसे बाहर जानेके बाद) भी पूर्णतया सचेतन संपर्कमें रहा, वह विलीन हुए बिना, एक और जीवित व्यक्तिके साथ बहुत निकटके संपर्कमें था। इस मेलमें वह स्वयं **अपनी ही चेतना**का जीवन जीता रहा। और यह सब — मैं नाम या तथ्य नहीं दे सकती, यह सब इतना ठोस था जितना हो सकता है। और यह जारी है।

यह सब देखा जा चुका है — मैंने इसे बहुत पहले देखा था, लेकिन आज सवेरे ही यह नयी चेतनाके एक उदाहरणके रूपमें फिरसे आया। यह ("मेल") अपने प्रभाव में असाधारण रूपसे ठोस था: दूसरेकी चेतनाकी क्षमताओं और गतियोंमें सचेतन रूपसे परिवर्तन ला सकता था, यह पूरी तरह सचेतन जीवन था। यह वही चेतना थी जो उस समय सचेतन थी जब शरीर बिलकुल न था और उसका अस्तित्व केवल रातको अंतर्दर्शनमें दिखायी देता था।

और भी हैं।

यह बहुत निकट और घनिष्ठ है इसलिये मैं उसकी गतिविधिको पूरे विस्तारसे देख सकी।

लेकिन यह नयी दृष्टिके साथ ही स्पष्ट, यथार्थ और **प्रत्यक्ष** था। क्योंकि कैसे कहूं? .... मैं जानती थी — मैं इसे पहले जानती थी, मैं जानती थी — लेकिन मैंने इसे फिरसे नयी चेतनाके साथ देखा; देखनेके नये तरीके-से देखा, और तब पूरी तरह समझमें आ गया, पूरा-पूरा बोध हो गया, बिलकुल ठोस, जिसमें वे तत्त्व भी थे जो पूरी तरह गायब थे — पहले बोधमें जो मानसिक और प्राणिक ज्ञान था। ये तत्त्व पूरा विश्वास करानेवाले थे। यह कोषाणुओंकी चेतनाका ज्ञान था।

लेकिन यह सब तभी मजेदार होगा जब सभी तथ्य हों (जो नहीं दिये जा सकते)। अब मैं एक अधिक पूर्ण, अधिक "निर्वैयक्तिक" अनुभूति चाहती हूं जिसे, यूं कह लें, जिसे तथ्योंद्वारा निर्देशित नहीं किया जाता,

जिसे प्रक्रियाकी समग्रताका अंतर्दर्शन हो। उसके बाद ही मैं बोल सकूंगी।
वह आयेगी।

प्रासंगिक (२४ मई, १९६७)

कल किसीने मुझसे पूछा :

"आखिर भगवान् क्या है?"

मैंने उत्तर दिया।

मैंने उससे कहा कि मैं उसकी सहायता करनेके लिये एक उत्तर दे रही हूं, लेकिन ऐसे सैंकड़ों उत्तर हो सकते हैं जिनमें हर एक दूसरेके जितना अच्छा होगा।

"भगवान्‌को जिया जा सकता है,
इनकी व्याख्या नहीं की जा सकती....।"

और मैंने यह जोड़ दिया : लेकिन, चूंकि तुमने प्रश्न किया है इसलिये मैं उत्तर देती हूं :

"भगवान् पूर्णताकी चरम अवस्था हैं,
जो कुछ है उसका नित्य स्रोत हैं;
नित्यतामें सारे समय वही होते हुए
जिनके बारेमें हम क्रमशः सचेतन होते हैं।"

एक बार मुझसे किसीने कहा कि भगवान् उसके लिये सर्वदा अचिन्त्य हैं। तो मैंने उसे उत्तर दिया : "नहीं! इस तरह तुम्हें कोई मदद नहीं मिलती। तुम्हें केवल यही सोचना चाहिये कि भगवान् सब कुछ हैं (अपनी चरम सीमापर)। वह सब जो हम अपनी उच्चतम और अधिक-से-अधिक प्रदीप्त अभीप्सामें बनना चाहते हैं, हम जो कुछ बनना चाहते हैं वह भगवान् है।" वह खुश हो गया। उसने कहा : "ओह! इस तरह यह आसान हो गया!"

लेकिन जब तुम देखते हो — अपने मानसिक क्रिया-कलापसे बाहर निकलते हो और तुम्हें जो अनुभूति हुई है उसे देखते हो — और अपने-आपसे कहते हो : इसे कैसे कहा जाय? कैसे समझाया जाय? तब जो

चीज सबसे नजदीक, सबसे सुलभ है ,वह यह है : हम जो "चीज" बननेके लिये अभीप्सा करते हैं उसमें हम सहज और स्वाभाविक रूपसे वह सब मिला देते हैं जो हम चाहते हैं कि हो, वह सब जिसे हम सबसे अद्‌भुत मानते हैं, वह सब जो तीव्र अभीप्साका विषय है (और अज्ञानपूर्ण), वह सब कुछ। और इस सबके साथ हम "इस चीज" के निकट जाते हैं और ....। तत्त्वतः संपर्क विचारद्वारा नहीं होता; संपर्क होता है सत्ताकी किसी **समान** चीजके द्वारा, जो अभीप्साकी तीव्रतासे जाग उठती है। और तब, जैसे ही यह संपर्क — यह संयोजन — प्राप्त हो जाता है, चाहे वह एक सेकेंडके लिये ही क्यों न हो, व्याख्या करनेकी कोई जरूरत नहीं रहती : यह ऐसी चीज है जो निरपेक्ष रूपसे अपने-आपको आरोपित करती है और यह हर प्रकारकी व्याख्याके बाहर और परे है।

लेकिन वहां पहुंचनेके लिये, हर एक व्यक्ति वही चीज डालता है जो सबसे सहज रूपसे उसका निर्देशन करती हो।

और जब तुम्हें यह अनुभूति होती है, उस संयोजनके, उस संकलनके समय, चेतनाके लिये यह स्पष्ट होता है कि समान ही समानको जान सकता है और परिणामस्वरूप यह इसका प्रमाण है कि तत् यहां है (माताजी हृदयके केंद्रकी ओर संकेत करती हैं)। यह इस बातका प्रमाण है कि **तत्** यहां है। और अभीप्साकी तीव्रताके द्वारा वह जाग्रत् होता है।

जब मुझे प्रश्न मिला तो यह ठीक ऐसा था मानों यह व्यक्ति मुझसे कह रहा हो : "हां, हां, यह सब बहुत अच्छा है, लेकिन आखिर भगवान् हैं क्या !" तब मैंने उसकी चिट्ठी पढ़ी, एक नीरवता आ गयी, पूर्ण नीरवता, और मानों एक निगाह, **एक ही** निगाह जो सब कुछ घेर लेती हो और जो देखना चाहती हो ...। मैं इस तरह देखती चली गयी जबतक कि शब्द नहीं आये, तब मैंने लिखा : "यह लो **एक** उत्तर; सैंकड़ों उत्तर हो सकते हैं, सभी समान रूपसे अच्छे।"

और साथ ही जब इस "चीज"पर नजर डाली जिसकी परिभाषा करनी थी तो सब जगह विशाल नीरवता और तीव्र अभीप्सा थी (लौ उठनेकी मुद्रा), और इस अभीप्साने जितने रूप लिये वे सब थे। यह बहुत मजेदार था....। हम जो बनना चाहते हैं उस अज्ञात अद्‌भुतके प्रति पृथ्वीकी अभीप्साकी कहानी ...

और हर एक—हर एक व्यक्ति जिसकी नियतिमें यह संयोजन करना लिखा है — अपनी सरलतामें विश्वास करता है कि उसने जिस पुलका अनुसरण किया है वही एकमात्र पुल है। परिणाम : धर्म, दर्शन, सिद्धांत, मत—युद्ध।

संपूर्ण रूपसे देखा जाय तो यह बहुत मजेदार है, बहुत मोहक है, एक

ऐसी 'मुस्कान' के साथ जो देखती है... ओह! यह 'मुस्कान'... जो देखती है। यह 'मुस्कान' ऐसी है मानों कह रही हो: "तुम जटिलता पैदा कर रहे हो! और यह कितना सरल होगा!"

इसे साहित्यिक रूपसे अभिव्यक्त करना हो तो हम कह सकते हैं: "इतनी सरल चीजके लिये इतनी जटिलताएं: अपने-आप बनना।"

(मौन)

और तुम, तुम क्या सोचते हो कि भगवान् क्या हैं?

मुझे नहीं मालूम, यह ऐसा प्रश्न है जो मैंने अपने-आपसे कभी नहीं पूछा।

मैंने भी नहीं! मैंने कभी अपने-आपसे यह प्रश्न नहीं किया क्योंकि जसे ही जाननेकी जरूरत होती थी, वैसे ही सहज भावसे उत्तर मिल जाता था। और उत्तर भी कैसा? शब्दोंमें नहीं, जिनपर बहस की जाती है: एक उत्तर... कुछ-कुछ स्पन्दनके जैसा। यह एक ऐसी चीज है जो अब हमेशा रहती है।

स्वभावतः, लोग कठिनाइयां पैदा करते हैं (मुझे लगता है कि ये लोगोंको बहुत अच्छी लगती हैं क्योंकि ...), क्योंकि हर चीजके लिये, **छोटी-से-छोटी** चीजके लिये कठिनाइयोंका एक जगत् रहता है। इसलिये आदमी अपना समय यह कहते हुए गुजारता है: "अचंचल रहो, अचंचल, अचंचल —शांत रहो।" और स्वयं शरीर कठिनाइयोंके बीच रहता है (ऐसा लगता है कि उसे भी ये पसंद हैं!), लेकिन अचानक कोषाणु सहज रूपसे 'ओ३म्' का गान करने लगते हैं... और जब इन सब कोषाणुओंमें बच्चेका आनन्द होता है, वे कहते हैं (माताजी, आश्चर्यभरी आवाजमें): "हां, हां, हम यह भी कर सकते हैं? हमें यह करनेका अधिकार है!" यह बड़ा मर्मस्पर्शी होता है।

और इसका प्रभाव तुरंत होता है: महान् शांतिमय 'स्पंदन', सर्वशक्तिमान 'स्पंदन'।

जहांतक मेरा सवाल है, अगर मैं सारे समय आसपासके सभी संकल्पोंके सतत दबावमें न होती तो कहती: "तुम यह क्यों जानना चाहते हो कि भगवान् क्या हैं? इससे तुम्हें मतलब? तुम्हें केवल वह बन जाना चाहिये।" लेकिन वे मजाक नहीं समझते।

—मैं जानना चाहता हूं कि भगवान् क्या हैं।

—नहीं, यह बिलकुल बेकार है।

— आह!

वे क्षुब्ध होकर पूछते हैं: "आह! क्या यह जानना मजेदार न होगा?"

—तुम्हें जाननेकी कोई जरूरत नहीं: तुम्हें बन जाना चाहिये।

उनके लिये, मेरा मतलब है, अधिकतर बुद्धिजीवियोंके लिये यह कल्पना करना असंभव है कि तुम किसी चीजको जाने बिना वह बन या कर सकते हो। अगर कोई मजाक पसंद करता है तो यह भी कह सकता है:

"केवल तभी, जब तुम नहीं जानते, तुम अधिक-से-अधिक भगवान् होते हो।"

(माताजी ध्यानमें चली जाती हैं)

जो लोग व्याख्याएं चाहते हैं उनके लिये "भगवान् क्या है?" ... का उत्तर देनेका एक और तरीका है ... एक मुस्कराती हुई और ज्योतिर्मयी विशालता।

वह है, नहीं है क्या? **वह** है।

कुछ दिनोंके बाद:

हमने उस दिन भगवान्के बारेमें जो कहा था उसमें मुझे कुछ और जोड़ना है। किसीने मुझसे पूछा है:

"और भगवान् क्या है? ...."

यह श्रीअरविंदके उद्धरणके बारेमें है। वे कहते हैं:

> **"प्रेम हमें विभाजनकी पीड़ासे पूर्ण ऐक्यके आनंदकी ओर ले जाता है, लेकिन एकताकी क्रियाके आनंदको खोये बिना। यह अंतरात्माकी सबसे बड़ी खोज है और सृष्टिका जीवन उसके लिये एक लंबी तैयारी है। अतः प्रेमके द्वारा भगवान्के निकट जानेका अर्थ है अपने-आपको बड़ी-से-बड़ी संभाव्य आध्यात्मिक उपलब्धिके लिये तैयार करना।"**
>
> (योग-समन्वय)

इसमें अंतिम वाक्यके प्रसंगमें मुझसे पूछा गया है: "भगवान् क्या है?" इसलिये मैंने कहा (मैंने "भगवान्" शब्द ले लिया):

"यह वह नाम है जो मनुष्यने उस सबको दिया है जो उससे बढ़-चढ़कर

है और उसपर शासन करता है, उस सबको जिसे वह जान तो नहीं सकता पर उसके सामने झुक जाता है।"

इसमें "उस सबको जो उससे बढ़-चढ़कर है" कहनेकी जगह "उसको जो उससे बढ़-चढ़कर है" कह सकते हैं, क्योंकि बौद्धिक दृष्टिकोणसे "उस सब" विवादास्पद है। यानी, "कोई एक चीज" है—कोई ऐसी चीज जिसकी व्याख्या नहीं की जा सकती, जिसे समझाया नहीं जा सकता—और यह कुछ चीज ऐसी है कि मनुष्यने हमेशा अनुभव किया है कि वह उसपर शासन करती है। वह सभी संभव समझदारीसे परे है और वही उसपर शासन करती है। और फिर, धर्मोंने उसे एक नाम दिया है; मनुष्यने उसे "भगवान्" कहा है; अंगरेज उसे "गॉड" कहते हैं; किसी और भाषामें उसका और नाम है, लेकिन अंततः यह वही है।

मैं जानबूझकर कोई व्याख्या नहीं देती क्योंकि मेरे सारे जीवनकी यही अनुभूति है कि यह एक शब्द है और ऐसा शब्द जिसके पीछे लोगोंने बहुत-सी अवांछनीय चीजें रख दी हैं...। उदाहरणके लिये, यह विचार कि भगवान् वह है जो एकमेव ही रहना चाहते हैं, जैसा कि लोग कहते हैं: "भगवान् एकमेवाद्वितीयम्" हैं। लेकिन वे अनुभव करते हैं और अनातोल फ्रांसकी तरह कहते हैं, शायद यह "देवदूतोंका विद्रोह" में है: "यह भगवान् जो एकमात्र और अकेले ही **सब कुछ** होना चाहते हैं।" यह ऐसी चीज है जिसने मुझे बचपनमें, यदि ऐसा कहा जा सके, एकदम नास्तिक बना दिया था; मैं ऐसी सत्ताको स्वीकार न करती थी, वह **कोई क्यों न हो**, जो अपने-आप एकमेव और सर्वशक्तिमान् होनेकी घोषणा करती हो। यदि वह एकमेव और सर्वशक्तिमान् हो भी तो (हंसते हुए) उसे इस बातकी घोषणा करनेका अधिकार नहीं है! मेरे मनमें ऐसी बात थी। मैं इस विषयपर पूरे घंटे-भरतक भाषण दे सकती हूं कि हर धर्मने उसका किस तरह सामना किया है।

बहरहाल, मैंने ऐसी व्याख्या की जो मुझे सबसे अधिक वस्तुनिष्ठ मालूम हुई। उस दिन "भगवान् क्या है?" के उत्तरकी तरह मैंने 'वस्तु' का संस्कार देनेकी कोशिश की, यहां मैं उस शब्दके प्रयोगके विरुद्ध लड़ना चाहती थी जो मेरी दृष्टिमें खोखला, किंतु भयंकर रूपसे खोखला है।

मुझे 'सावित्री' का एक प्रसंग याद आता है जिसमें यह सारी बात अद्भुत ढंगसे एक पंक्तिमें कही गयी है। वहां कहा है 'अनाम' ने भगवान्को जन्म लेते देखा...

"अशरीर, अनाम जिसने भगवान्को जन्म लेते देखा...वह मर्त्य मन और अंतरात्मासे एक अमर शरीर और दिव्य नाम प्राप्त करना चाहता है।"

२४ जून, १९६७

कहनेके लिये बहुत-सी चीजें हैं, लेकिन . . . अन्ततक पहुंचना ज्यादा अच्छा है। यह एक वक्राकार है। अंततक पहुंचना ज्यादा अच्छा है। अभीसे बोलना जल्दबाजी होगी।

(कुछ देर मौन) शरीरकी गतियां, लगभग पूर्ण रूपसे, अभ्यासगत गतियां होती हैं। उनके पीछे, भौतिक मनकी चेतना होती है (जिसे मैं कोषाणुगत मन कहती हूं), जो अपने-आप भागवत उपस्थितिके बारेमें हमेशा सचेतन रहता है और उसे आग्रह होता है कि उस उपस्थितिके सिवाय और किसीको स्वीकार न करे। इस प्रकार परिवर्तनके लिये, गतिविधिके मूलस्रोतको बदलनेके लिये पूरा-पूरा काम हो रहा है। मेरे कहनेका आशय यह है कि महज यंत्रवत् आदत गतिकी प्रेरक न हो बल्कि दिव्य सत्ता और चेतना सहज प्रेरक हों। (माताजी शरीरमें दिव्य चेतनाको प्रविष्ट करानेकी मुद्रा करती हैं)।

लेकिन इसे समझाना बिलकुल, एकदम असंभव है, यानी, जैसे ही तुम इसे व्यक्त करना शुरू करो कि वह मानसिक चीज बन जाती है, अपने-आप नहीं रह पाती। इसीलिये इसे व्यक्त करना बहुत कठिन है। मैं उसके बारेमें नहीं बोल सकती।

फिर भी, अभी बहुत दिन नहीं हुए, मैंने शायद तुम्हें अत्यधिक भौतिक चेतनामें नाटकके लिये रुचि और आदतके बारेमें अपना अवलोकन बताया था। वह आरंभ-बिंदु था। जैसे ही वह आदत सचेतन हुई कि मानों वह विजातीय बन गयी, सत्य चेतनाके लिये विजातीय और तबसे स्थानान्तरणका कार्य शुरू हो गया।

यह बहुत नाजुक और कठिन काम है।

इसका अर्थ है हजारों वर्ष पुरानी आदतसे लड़ना। भौतिक चेतनाकी यांत्रिकता बहुत नाटकीय है, लगभग विनाशकारी, कभी-कभी नाटकीय, कभी ऐसे काल्पनिक निष्कर्षके साथ नाटकीय जो नाटकको मिटा देता है। लेकिन व्यक्त करते ही यह सारा-का-सारा बहुत अधिक ठोस बन जाता है। उसके बारेमें न बोलना ही अच्छा है।

जैसे ही उसे कहा जाय वह कृत्रिम बन जाता है।

यह लगभग ऐसा है जैसे एक आदत हटानेके लिये उसकी जगह और एक आदतको बिठानेका प्रयास किया जाय (!) क्या चेतनाकी यह अवस्था, होनेका यह तरीका, अस्तित्वका यह मार्ग, प्रतिक्रिया करने या अभिव्यक्त करनेका यह

तरीका भागवत अभिव्यक्तिकी ओर संकेत करता या अभिमुख होता है? क्या यह भागवत अभिव्यक्तिकी ओर प्रवृत्तिका समर्थन करता है? . . . विचार मौन, अचल है, कल्पना काम नहीं करती (यह सब स्वेच्छापूर्वक), और गति भागवत उपस्थितिके प्रभावके अधीन जितना हो सके सच्ची और सहज बननेकी कोशिश कर रही है। . . . शब्द हर चीजको बिगाड़ देते हैं।

समय-समयपर — समय-समयपर अचानक : ठोस अनुभूति, बिजलीकी चमककी तरह, भागवत उपस्थितिकी अनुभूति, तादात्म्य। परंतु यह कुछ सेकंडोंके लिये रहता है और फिर पहलेकी तरह शुरू होता है।

इसे व्यक्त नहीं किया जा सकता।

माताजी श्रीअरविंदके दो उद्धरणोंका अनुवाद
लेती हैं जिन्हें वे अगले बुलेटिनमें छपाना
चाहती हैं।

> **"यह साधनाका एक महान् रहस्य है — सब कुछ अपने मनके प्रयाससे करनेकी जगह ऊपर या पीछे स्थित शक्तिके द्वारा काम करवानेकी तरकीब जानना।"**

ठीक यही है।

> **"शरीरका महत्त्व स्पष्ट है। मनुष्य पशुसे ऊपर उठा है क्योंकि उसने एक ऐसा शरीर विकसित किया है, या एक ऐसा शरीर और मस्तिष्क पाया है जो प्रगतिशील मानसिक प्रकाशको ग्रहण करने और उसकी सेवा करने योग्य है। इसी तरह, एक ऐसा शरीर विकसित करके या कम-से-कम भौतिक यंत्रकी क्षमताको और भी उच्चतर प्रकाशको ग्रहण करने और उसकी सेवाके योग्य बनाकर वह अपनेसे ऊंचा उठेगा और केवल विचारों और अपनी आंतरिक सत्तामें ही नहीं, जीवनमें पूर्णतया दिव्य मानवको चरितार्थ कर सकेगा। अन्यथा या तो जीवनकी प्रतिज्ञा रद्द हो जाती है, उसका अर्थ व्यर्थ हो जाता है, पार्थिव सत्ता अपने-आपको खोकर ही सच्चिदानन्दको पा सकती है, अपने अंदरसे मन, प्राण और शरीरको छोड़कर शुद्ध अनंतमें जाकर ही उसे पा सकती है; या फिर, मनुष्य भागवत यंत्र नहीं है। सचेतन**

रूपसे प्रगतिशील शक्ति जो उसे समस्त पार्थिव सत्ताओंमें विशेष स्थान देती है, उसकी भी कोई नियत सीमा है। जैसे मनुष्यने उन्हें हटाकर अगली पंक्तिमें स्थान लिया है, उसी तरह किसी औरको उसका स्थान लेना और उसके उत्तराधिकारको संभालना होगा।"

मैं समझती हूं! मैं सारे समय इसमें व्यस्त थी।

(मौन)

लेकिन श्रीअरविंदका निष्कर्ष है कि यह (शरीर) नहीं बदल सकता। कोई नयी ही सत्ता होगी।

नहीं, वे कहते हैं 'अगर' यह न बदल सके तो कोई नयी सत्ता होगी।

नहीं, मेरा मतलब यहां, इस उद्धरणमें नहीं; मेरा मतलब है बादकी लिखी हुई चीजोंमें।

?...

इसके अतिरिक्त, बात तो एक ही है, क्योंकि...। क्या शरीर बदल सकता है?... फिर भी यह बहुत कठिन मालूम होता है। यह असंभव नहीं है। यह असंभव नहीं है, लेकिन... यह इतना अधिक परिश्रम है और जीवन इतना संक्षिप्त है; और फिर भी, कुछ चीज बदलनी है, हां, घिस जानेकी यह आदत एक भयंकर चीज है।

हां, परंतु 'नयी सत्ता' कहांसे आयेगी? क्या आकाशसे टपकेगी!

नहीं, हर्गिज नहीं, यही तो बात है! हम जितना अधिक देखते हैं... वह इस तरह नहीं आयगी (माताजी हंसती हैं)। स्पष्ट है कि वह भी उसी तरह आयेगी जैसे पशुसे मनुष्य आया। लेकिन पशु और मनुष्यके बीचकी अवस्थाएं नहीं मिलतीं। हम उनके बारेमें सोचते हैं, कल्पना करते हैं, हमने कुछ चीजें फिरसे ढूंढ ली हैं, लेकिन सच पूछो तो हम वहांपर उपस्थित

न थे! हम नहीं जानते कि यह कैसे हुआ। लेकिन इसका महत्त्व नहीं है।... कुछ लोगोंके अनुसार, हम बालकके निर्माणमें सचेतन रूपसे रूपांतरका कार्य अपने अंदर शुरू कर सकते हैं। यह संभव है, मैं ना नहीं करती। यह संभव है। और तब, उसे अधिक रूपांतरित सत्ता तैयार करनी होगी और इस तरह चलता चलेगा। इस तरह कई अवस्थाएं होंगी जो उसी तरह गायब हो जायंगी जैसे वानर और मनुष्यके बीचकी अवस्थाएं गायब हो गयीं?

हां, मानव-पूर्णताकी प्रक्रियाकी यही तो संपूर्ण कहानी है।

तुम जो चाहे नाम दे लो। पर एक **नयी सत्ता**... जहांतक हमारा संबंध है, हम यह कल्पना करते हैं कि जैसा तुम कहते हो, एक नयी पूर्वनिर्मित सत्ता तैयार मालकी तरह उतर आयेगी... यह शुद्ध रूपसे अतिरंजन है।

श्रीअरविंद भी ठीक यही कहते हैं, उसे बनाना होगा।

यह तो दो, तीन, चार या दस-बीस, मुझे नहीं मालूम कितनी मध्यवर्ती सत्ताओंके बाद नयी विधि आयगी, वह निर्माणकी अतिमानसिक विधि होगी।... लेकिन क्या बच्चे पैदा करना जरूरी होगा? जिन लोगोंका अन्त आ जायगा उनका स्थान लेनेके लिये बच्चोंकी जरूरत समाप्त न हो जायगी, क्योंकि तब लोग अनिश्चित कालतक बने रहेंगे? वे नयी जरूरतों-को पूरा करनेके लिये अपने-आपको काफी रूपांतरित कर लेंगे।

सुदीर्घ भविष्यमें इस सबकी भली-भांति कल्पना की जा सकती है।

हां, सुदूर।

लेकिन आप ठीक इसीलिये हैं ताकि दूरीको छोटा कर दें।

नहीं, श्रीअरविंदने उसे निकट भविष्यमें नहीं देखा।

हां, पर यह आपको ही करना होगा। चाहे सुदूर भविष्य

हो या निकट भविष्य, करना आपको ही होगा। इसी जीवन और इसी शरीरमें।

लेकिन, मैं...

मैं उसे करनेकी कोशिश कर रही हूं — किसी मनमाने संकल्पसे नहीं, इस प्रकारकी कोई चीज नहीं है। केवल 'कोई चीज', या 'कोई सत्ता' या 'चेतना', या कोई और चीज ऐसी है (मैं उसके बारेमें बात नहीं करना चाहती), जो इसका (माताजीका शरीर) उपयोग कर रही है और इसमें-से कुछ बनाना चाहती है। इसका मतलब यह हुआ कि एक ही समयमें मैं कर भी रही हूं और साक्षी भी हूं। और 'मैं', मुझे नहीं मालूम कि वह कहां है: वह यहां, अंदर नहीं है, वहां ऊपर नहीं है, वह...! मुझे मालूम नहीं कि वह कहां है, यह भाषाकी आवश्यकताके लिये है। "कोई चीज" है जो कार्य कर रही है और साक्षी भी है, और साथ-ही-साथ वह क्रिया भी है जो की जाती है: तीनों।

क्योंकि स्वयं शरीर अब सचमुच यथासंभव सहयोग देता है — यथा-संभव — सद्भावना और सहनशीलताकी बढ़ती शक्तिके साथ सहयोग और सचमुच अपनी ओर लौटना बिलकुल कम होता जाता है (वह उप-स्थित तो है लेकिन केवल एक ऐसी चीजके रूपमें जो कभी-कभी छूती-भर है और कुछ सेकेंडोंके लिये भी नहीं रहती)। वह, यानी, अपनी ओर मुड़ना, पूर्ण रूपसे एक ऐसा वातावरण है जो वीभत्स, घिनौना और विनाश-कारी है। वह ऐसा ही है, उसका **अनुभव** भी इसी तरह किया जाता है। और वह अधिकाधिक असंभव होता जा रहा है, मैं उसे देखती हूं। वह दृश्य है... लेकिन फिर भी बुरी आदतोंका हजार वर्ष पुराना भार है जिसे निराशावाद कहा जा सकता है। वह क्षति, विपत्ति आदि सब प्रकार-की चीजोंकी आशा करता है और इसे शुद्ध करना, पवित्र करना और वातावरणमेंसे निकाल फेंकना सबसे कठिन है। यह इतना **अंदर** धंसा हुआ है कि एकदम सहज बन गया है। अनिवार्य पतन या क्षतिकी भावना ही बहुत बड़ी, सबसे बड़ी रुकावट है।

स्वभावतः, मानसिक दृष्टिकोणसे सारा पार्थिव वातावरण ऐसा ही है, लेकिन मनमें इसका महत्त्व बहुत कम है। प्रकाशकी एक किरण आ जाय तो यह साफ हो जाता है। लेकिन **यहां, अंदर** (शरीर दिखाते हुए), यहां यह आदत — यह विनाशकारी आदत — बहुत भयंकर है। इसका प्रतिकार करना बहुत अधिक कठिन है। और यह **अनिवार्य** है कि यह गायब हो जाय ताकि दूसरी चीज अपने-आपको उसके स्थानपर प्रतिष्ठित कर ले।

तो यह हर क्षण, हर मिनट, सदा चलती रहनेवाली, सदा चलती रहनेवाली लड़ाई है।

और तब तुम्हें पता लगता है कि सत्ताको अलग नहीं कर दिया गया है, शरीर, अलग नहीं है। यह न्यूनाधिक रूपमें एक भीड़ है जिसमें सन्निकटताके स्तर हैं। इनमें सबसे निकट वे सब हैं जो यहां हैं, और समस्या वही है—वही समस्या। क्योंकि इस शरीरकी चेतनामें जो कुछ प्राप्ति हुई है वह दूसरोंकी चेतनामें जरा भी प्राप्त नहीं हुई है। इस कारण श्रम-भार बढ़ जाता है।

हम कह सकते हैं कि मानसिक और प्राणिक संक्रमणकी समस्या हल हो गयी है, पर भौतिक संक्रमणकी समस्या बाकी है।

और इस भौतिक चेतनामें भौतिक मन है जिसने इस अद्‌भुत रीतिसे यहां प्रत्युत्तर दिया है, (श्रीमांमें) लेकिन इसके अंदर वह शक्ति नहीं है जो सहज रूपमें बाहरसे आनेवाले संक्रमणका सामना कर सके। यह संक्रमण सदा, सर्वदा, हर क्षण होता रहता है।

(लंबा मौन)

जब अचानक संपर्क सचेतन हो जाता है और तादात्म्यका भाव आता है, जैसा मैंने कहा, यह कुछ सेकेंडोंके लिये ही होता है, लेकिन जब वह आता है. . . तो यह शरीरके कोषाणुओंका **स्तवगान** होता है जो कहते हैं: "हां, ठीक है, ठीक है, यह बात सच्ची है, हां, यह सत्य है।" . . .

यह शायद दिनमें सौ बार आता है, पर टिकता नहीं।

प्रासंगिक (२६ अगस्त, १९६७)

किसी शिष्यद्वारा पूछे गये एक प्रश्नके बारेमें।

> **"माताजी, कहा गया है कि हमेशा शुभ और सत्यकी विजय होती है, लेकिन जीवनमें प्रायः उल्टा ही दिखायी देता है। दुष्ट ही विजयी होते हैं और ऐसा लगता है कि किसी तरह पीड़ासे उनकी रक्षा होती रहती है।"**

(माताजी हंसती हैं, फिर मौन रहती हैं)। लोग प्रायः दो विचारोंमें गड़बड़ कर देते हैं।

वैश्व और आध्यात्मिक दृष्टिसे निश्चय ही, लोग जिसे "शुभ" समझते हैं वह नहीं, बल्कि जो 'सत्य' है, 'सत्य' ही विजयी होगा — यह निश्चित है। यानी, अन्तमें भगवान् विजयी होंगे। यही कहा जाता है। जिन लोगोंने आध्यात्मिक जीवन यापन किया है उन्होंने यही कहा है — यह एक निरपेक्ष तथ्य है। मनुष्य इसका भाव ग्रहण करते हुए कहते हैं: "मैं अच्छा बच्चा हूं, मैं जिसे सत्य समझता हूं उसके अनुसार जीता हूं, इसलिये सारी सृष्टिको मेरे लिये भला होना चाहिये।" (माताजी हंसती हैं) सबसे पहले, व्यक्तिका अपना मूल्यांकन हमेशा संदेहास्पद होता है। और फिर, जगत् जैसा अब है उसमें सब कुछ मिला-जुला है, यहां 'सत्य' का 'विधान' अपने-आपको खुले तौरपर मनुष्यकी आधी ऊंची चेतना-के आगे अभिव्यक्त नहीं करता — वह उसे समझ भी न पायेगी। मेरे कहनेका आशय यह है कि, यदि ज्यादा ठीक-ठीक रूपमें कहा जाय तो परम दृष्टि अपने-आपको निरन्तर चरितार्थ करती जा रही है, लेकिन मिश्रित भौतिक जगत्में उसकी उपलब्धि अज्ञान-भरी मानव दृष्टिको शुभकी विजय नहीं मालूम होती, यानी, उसकी विजय नहीं मालूम होती जिसे मनुष्य शुभ और सत्य कहते हैं। लेकिन (मजाकमें कहें तो), यह भगवान्का दोष नहीं है, मनुष्योंका दोष है! यानी, प्रभु जानते हैं कि वे क्या कर रहे हैं और मनुष्य नहीं समझते।

शायद सत्यके जगत्में सब कुछ वैसा ही होगा जैसा अब है, केवल वह अन्य प्रकारसे दिखायी देगा।

दोनों। एक फर्क होगा। जगत्में वर्तमान अज्ञान और अंधकार भागवत 'क्रिया' को विकृत रूप दे देते हैं; और स्वभावतः, यह लुप्त होनेकी ओर प्रवृत्त है; लेकिन यह भी सत्य है कि देखनेका एक तरीका है जो... कहा जा सकता है कि, प्रतीतिको एक और ही अर्थ दे देता है — दोनों इस तरह हैं (आपसमें मिले होनेकी मुद्रा)।

(मौन)

हम हमेशा इसी बातपर लौट आते हैं कि मनुष्यका मूल्यांकन गलत होता है — गलत, क्योंकि उसकी वस्तुओंको देखनेकी दृष्टि गलत होती है,

अधूरी होती है --- और अनिवार्य रूपसे इस मूल्यांकनके परिणाम गलत होते हैं।

संसार हमेशा बदलता रहता है, हमेशा, एक निमिष मात्रके लिये भी वह अपने जैसा नहीं रहता और सामान्य सामंजस्य अपने-आपको अधिकाधिक पूर्ण रूपमें प्रकट करता है; इसलिये कोई भी चीज जैसी-की वैसी नहीं बनी रह सकती। और विपरीत आभासोंके होते हुए **समग्र** हमेशा प्रगति करता रहता है : सामंजस्य अधिकाधिक सामंजस्यपूर्ण होता जा रहा है, और 'अभिव्यक्ति'में सत्य अधिकाधिक सत्य होता जा रहा है। लेकिन उसे देखनेके लिये तुम्हें समग्रको देखना चाहिये, जब कि मनुष्य केवल... मानव क्षेत्र भी नहीं, केवल अपना निजी क्षेत्र, बिलकुल छोटा, बिलकुल छोटा, बहुत ही छोटा भाग देखता है --- उसे भी वह समझ नहीं सकता।

यह एक दोहरी चीज है जो अपने-आपको पारस्परिक क्रियाके द्वारा पूर्ण करती जा रही है (वही मिलानेकी मुद्रा) : जैसे-जैसे 'अभिव्यक्ति' अपने बारेमें अधिक सचेतन हो जाती है, उसकी अभिव्यंजना अपने-आपको अधिक पूर्ण करती है, और वह अधिक सत्य होती जाती है। ये दोनों गतियां साथ-साथ चलती हैं।

(मौन)

उस दिन जब 'ज्ञानकी चेतना' थी, तो जो चीजें बहुत स्पष्ट रूपमें देखी गयी थीं उनमेंसे एक यह थी : जब दिव्य अभिव्यक्ति 'निश्चेतना'में-से पर्याप्त रूपसे निकल आयेगी ताकि संघर्षकी आवश्यकता, जो 'निश्चेतना'-की उपस्थितिके कारण है, अधिकाधिक व्यर्थ हो जायगी, वह बिलकुल स्वाभाविक रूपसे गायब हो जायगी, तब प्रगति प्रयास और संघर्षके द्वारा होनेकी जगह सामंजस्यके साथ होनी शुरू होगी। मानव चेतना इसीको धरतीपर दिव्य सृष्टिके रूपमें देखती है --- यह भी केवल एक कदम होगा। लेकिन अभीके पगके लिये यह एक प्रकारकी सामंजस्यपूर्ण उप-लब्धि है जो निरंतर वैश्व प्रगति, (जो अविरत है) को संघर्ष और पीड़ा द्वारा होनेवाली प्रगतिके स्थानपर, आनन्द और सामंजस्यद्वारा प्रगतिको लायेगी... लेकिन जो दिखायी दिया वह यह था कि यह अपर्याप्त, अधूरी और अपूर्ण चीज बहुत लंबे समयतक चलेगी --- यदि समयके बारेमें हमारी धारणा यही बनी रहे, इसके बारेमें मैं नहीं जानती। लेकिन सभी परिवर्तनों-में समय उपलक्षित होता है, है न; यह जरूरी नहीं है कि वह समयके

इसी रूपमें प्रस्तुत हो जैसा कि हम समझते हैं, लेकिन उसमें अनुक्रम तो रहता ही है।

हमारे सामने सारे समय, ये सब तथाकथित समस्याएं — मनके प्रश्न-पर-प्रश्न और समस्याएं आते रहते हैं ('अविद्या'की सभी समस्याएं, है न?) — केंचुएकी समस्याएं। जैसे ही तुम वहां ऊपर उठ जाओ, इन समस्याओंका अस्तित्व ही नहीं रहता, और न परस्पर विरोध ही रहता है। विरोध हमेशा दृष्टिकी अपर्याप्ततासे आते हैं, किसी वस्तुको एक ही समय सब दृष्टिकोणोंसे देख सकनेकी अक्षमतासे आते हैं।

बहरहाल, अपने प्रश्नपर वापस आनेके लिये, मेरा ख्याल है कि कभी किसी ज्ञानीने यह नहीं कहा होगा : तुम अच्छे बनो और बाह्य रूपमें सब कुछ ठीक हो जायगा — क्योंकि यह मूर्खता है। अव्यवस्थाके जगत्में, मिथ्यात्वके जगत्में इस प्रकारकी आशा करना बुद्धिसंगत नहीं है। लेकिन अगर तुम काफी सच्चे हो और अपनी सत्ताके तरीकोंमें संपूर्ण और समग्र हो, तो परिस्थितियां चाहे जैसी हों, तुम्हें आंतरिक आनन्द और पूर्ण संतोष मिल सकता है और उसे छूनेकी न किसी व्यक्तिमें और न किसी चीजमें शक्ति है।

३० अगस्त, १९६७

पिछली कई रातोंसे मैं प्रायः सारी रात, कई-कई घंटे एक ऐसे स्थानपर बिताती हूं जो निश्चय ही सूक्ष्म भौतिकमें होगा और जहां द्रव्यात्मक जीवन-का पुनर्गठन होता है। वह विशाल — बहुत विशाल — है और वहां अनगिनत भीड़ है। नहीं, यह भीड़ नहीं अनगिनत व्यक्तित्व हैं। यानी, मुझे उनमेंसे हर एकसे काम पड़ा। ऐसा लगता था मानों एक साथ लिखनेकी मेजें और दस्तावेज थे पर चारों ओर दीवारें न थीं! यह एक विचित्र-सी जगह थी, बड़ी विचित्र जगह थी।

मैंने अपने-आपसे कई बार पूछा कि क्या यह भौतिक चीजोंकी स्मृति है जो मुझे इस लोकको इस रूपमें दिखा रही थी, या सचमुच वह दुनिया थी ही ऐसी! कभी-कभी, उस समय कोई शंका न थी, क्योंकि उसके अपने विशिष्ट लक्षण थे, लेकिन अन्य समय शंका होती थी और मैं अपने-आपसे पूछती कि यह मेरी सक्रिय स्मृति तो नहीं! उस समय बहुत सचेतन

होती हूं और हर चीज बहुत स्वाभाविक और वास्तवमें स्थायी होती है: मैं उन्हीं चीजोंको उन्हीं स्थानोंपर देखती हूं। कभी-कभी जरा-सा हेर-फेर होता है, लेकिन ऐसा जो किसी क्रियाके कारण जरूरी हो। कहनेका मतलब यह कि यह एक सुसंगत जगत् है, अव्यवस्थित कल्पना नहीं। लेकिन ये रूप किस हदतक स्वाभाविक रूपोंकी छाया हैं, किस हदतक वे ऐसे हैं या हम उन्हें ऐसा **देखते** हैं? मुझे अभी इसके बारेमें पूरा विश्वास नहीं है। जब मैं अधिमानस जगत्में जाकर देवोंको देखा करती थी तब भी मेरे सामने यही समस्या थी; मुझे हमेशा एक प्रकारका संकोच-सा होता था कि क्या यह सत्य ज्ञान था कि वे सचमुच ऐसे हैं या हम अपनी भौतिक आदतों-के कारण उन्हें ऐसा देखते हैं...। वहां, कुछ समयके बाद, मैं निष्कर्षपर आ गयी, पर यहां, भौतिक रूपसे...

यह एक अजीब-सी बात है। कहीं दरवाजे खिड़कियां नहीं हैं, न फर्श है, न छत। हर चीज मानों अपने-आपमें स्थित है। वहां गुरुत्वा-कर्षणका नियम नहीं चलता, यानी, वहां धरतीका चुंबकीय आकर्षण नहीं है, फिर भी, लिखने लगो तो ऐसा लगता है (हंसते हुए) कि वहां कलम है, किसी चीजपर लिखो तो ऐसा लगता है कि कागज है; और जहां दस्ता-वेज हैं वे "डौकेट" में मालूम होते हैं....। ऐसा लगता है कि द्रव्य तो एक नहीं है पर देखनेमें एक जैसा है। और वह यह रूप है, और मैं अभीतक अपने-आपसे पूछती हूं: क्या सामान्य मस्तिष्ककी क्रिया उन चीजोंको यह रूप दे देती है या वे सचमुच ऐसी हैं?

वहां मैं प्रायः सभीसे मिलती हूं। मैंने तुमसे कहा था, तुम वहां बहुत नियमित रूपसे होते हो और हम काम करते हैं। तुम्हें याद नहीं रहता। दूसरे कुछ लोग हैं जिन्हें याद रहता है, लेकिन उनकी स्मृति (माताजी उंगली मरोड़कर दिखाती हैं) लकीरसे जरा खिसकी हुई है, यानी, ठीक वैसी नहीं है जैसा मैंने देखा था। जब वे मुझे उसके बारेमें बताते हैं तो मुझे लगता है कि उनके मस्तिष्कके प्रतिलेखनने उसे यह रूप दे दिया है...। वहां एक ही चीजको अगर दस बार देखा जाय तो भी वह जैसी-की-तैसी दीखती है, कुछ थोड़े-बहुत तर्कसंगत भेद भले हों और ये भेद, उदाहरणके लिये, अपव्ययके कारण हो सकते हैं, इससे वहां भौतिक जगत्की वस्तुनिष्ठ वास्तविकता मालूम होती है। अगर तुम ध्यानसे अध्ययन करो तो भौतिक जगत्में भी कोई दो व्यक्ति किसी चीजको ठीक एक ही रूपमें नहीं देखते। वहां भी ऐसा ही होता है, शायद जरा ज्यादा बलाघातके साथ। ...इसकी व्याख्या तब बहुत ज्यादा सीधी-सरल हो जाती है जब तुम उस चेतनामें प्रवेश करो जहां स्वयं द्रव्यात्मक सद्वस्तु ही एक भ्रम, एक भ्रांति बन जाती

है, वह यथार्थ नहीं होती : आंतरिक सद्वस्तु ही अधिक सत्य होती है। तब, उस दशामें बात बहुत सरल है। शायद हमारा मन ही आश्चर्य करता है।

उदाहरणके लिये लिखनेकी बात ले लो। मैंने विस्तारमें तो नहीं देखा पर ऐसा लगता है कि वहां लिखते समय बहुत ज्यादा आसानीसे लिखा जाता है। पता नहीं इसे कैसे समझाया जाय। वहां लिखनेमें बहुत कम समय लगता है; चीजें कागजपर लिखी जाती हैं, पर क्या वह सचमुच कागज होता है? वह कागज जैसा दीखता है, लेकिन चीजें बहुत ज्यादा सीधी लिखी जाती हैं...। शायद कुछ सादृश्य है, उदाहरणके लिये, जब तुम कलम या पेंसिलका उपयोग करते हो, वह कलम या पेंसिल न होकर उसके जैसी कोई चीज होती है, जो... कैसे कहा जाय? उस चीजका आदि प्रारूप या उसका तत्त्व होता है। यानी, अगर हम उस कालमें होते जब लोग परका, कलम या होल्डरका उपयोग करते थे और उसे किसी द्रवमें डुबा-डुबाकर लिखते थे तो शायद मैं वैसा ही देखती! ...वस्तुके **सारतत्त्व** या मूल तत्त्वको स्मृति एक सादृश्यमें अनूदित कर देती है।

लेकिन यह एक क्रिया है। मैं समय तभी जानती हूं जब वहांसे लौटती हूं। मैंने एक आदत बना ली है कि जब भी द्रव्यगत चेतनामें वापस आती हूं तो समय देखती हूं (बिस्तरपर मेरे पास घड़ी रहती है और मैं उसीको देखती हूं), और इस तरह मैं कह सकती हूं : इसमें एक घंटा लगा, वह दो घंटे चला; लेकिन वहां समयका भाव एकदम नहीं होता, समयका वही भाव नहीं होता — वहां क्रियाकी **विषयवस्तु**का महत्त्व होता है। और उन घंटोंमें बहुत-सी, बहुत-सी चीजें की जाती हैं, हां, बहुत-सी। तो मैं वहां तुमसे नियमित रूपमें मिलती हूं, और भी बहुतोंसे। मैं एक ही समय अनेक स्थानोंपर होती हूं! और जब कोई व्यक्ति मुझसे कहता है : "मैंने पिछली रात आपको देखा था। आपने यह किया और वह किया", और तब कहीं उस ओर ऊपर, मैं कहती हूं : "हां, यह सच है।" उसमें जरा, जरा-सा (माताजी ऐंठनेकी मुद्रा करती हैं) भेद है, लेकिन सारतत्त्व ठीक वही है।

और मैंने देखा है कि ये चीजें जो भौतिकके बिलकुल पास हैं अचानक जाग पड़ने, या विशेष रूपसे जागते ही कोई गति करने या करवट बदलने-पर एकदम गायब हो जाती हैं। बादमें अगर मैं बहुत चुपचाप रहूं और अपने अंदर प्रवेश करूं तो धीरे-धीरे इस अवस्थाके साथ संपर्क बन सकता है। इसलिये मुझे इस बातसे आश्चर्य नहीं होता कि अधिकतर लोग याद

नहीं रख पाते। प्राण और मनकी अनुभूतियां ज्यादा आसानीसे याद रहती हैं, लेकिन यह जो भौतिकके एकदम नजदीक हो...।

और उसका कुछ ऐसा लक्षण होता है कि अगर कोई जागनेपर उसकी चेतनाको बनाये रख सके तो वह पागल लगेगा। अभी दो दिन पहले ही मुझे इसकी अनुभूति हुई है और उसने मुझे बहुत कुछ सिखाया है — मैंने उसे देखा, अध्ययन किया और जबतक समझ न गयी तबतक अध्ययन किया। यह तीसरे पहरके आरामके समयकी बात है। (मैं तीसरे पहर सोया नहीं करती, लेकिन इस तरह आंतरिक चेतनामें चली जाती हूं), मैंने पहलेसे ही ठीक कर लिया था कि मैं इतने बजे जाग जाऊंगी, यानी, उठ बैठूंगी। जब समय हुआ तो मैं अपने कार्यकी गहराईमें थी और चेतनाकी वह अवस्था जारी रही यद्यपि मेरी आंखें खुली हुई थीं। और, चेतनाकी उस अवस्थामें... मैं नहीं कह सकती कि "मैं" थी क्योंकि यह वही "मैं" न थी। उस समय मैं बहुत सारे व्यक्ति होती हूं; लेकिन उस क्षणकी "मैं" को एक सोनेकी कलाईकी घड़ी (कलाईकी ओर संकेत) लिये रहनेकी आदत थी (यहां, भौतिक रूपमें नहीं, वहां ऊपर), वह घड़ी पहनना भूल गयी और उसे ढूंढ़ रही थी: "आह! मैं घड़ी पहनना भूल गयी। घड़ीका क्या हुआ? मैं क्यों भूली?" और जब मैं जागी (मैं घड़ी नहीं पहने थी), और अपने-आपमें लौट आयी तो दोनों चेतनाएं युगपत् विद्यमान थीं और मैंने जोरसे कहा: "मेरी घड़ी कहां है? मैं घड़ी पहनना भूल गयी।" और जब मैं यह कह चुकी (हंसी) तब मुझे होश आया! इसने मुझे सोचनेके लिये प्रेरित किया। मैंने भली-भांति अध्ययन किया, गौरसे देखा, नजदीकसे देखा कि उस समय दो चेतनाएं पूरी तरह पूरी-पूरी युगपत् थीं (माताजी एक हाथ दूसरेपर जोड़ देती हैं)।

यह बहुत मजेदार है। ओह! उस अनुभूतिके कारण बहुत सारी समस्याएं हल हो गयीं। उदाहरणके लिये, उन बहुत-से लोगोंकी समस्या जिन्हें पागल मान लिया जाता है, लेकिन वे इस सूक्ष्म चेतनामें होते हैं (उसी तरह एक हाथ दूसरेपर रखते हुए), जो अमुक क्षण उनपर अधिकार किये रहती है और इसके कारण वे ऐसी चीजें कहते हैं जिनका यहां कोई अर्थ नहीं होता, परंतु वहां बिलकुल स्पष्ट होते हैं और यह चेतना इस तरह होती है (जुड़े हुए हाथोंको एक-दूसरेके अंदर घुल-मिल जानेकी मुद्रा)। इससे बहुत-से तथाकथित पागलोंकी समस्या समझमें आ जाती है। ऐसे उदाहरण भी हैं जो देखनेमें कपट मालूम होते हैं। वे भी इसी तरहके होते हैं, क्योंकि इस क्षेत्रमें चेतना स्पष्ट देखती है और यह क्षेत्र इतना नजदीक है कि चीजोंको वह-के-वही नाम दिये जा सकते हैं।

ऐसा लगता है कि उनका रूप एक ही या एक जैसा है। लेकिन यह ठीक वही नहीं होता जिसे हम यहां "गोचर वास्तविकता" कहते हैं। बाहरी रूपमें, द्रव्यात्मक दृष्टिसे चीजें ठीक वही नहीं होतीं। और इस तरह तथाकथित कपटके उदाहरण होते हैं जिनमें सचमुच चेतनाकी दो लड़ें एक-दूसरीके साथ इतनी अधिक मिली रहती हैं, इतनी अधिक मिली रहती हैं कि उनमें सक्रिय भेद करना मुश्किल हो जाता है! ओह! इससे पूरा एक क्षेत्र स्पष्ट हो गया। केवल स्पष्ट ही नहीं हुआ, उसके उपचार या रूपांतरकी चाबी भी हाथ लग गयी। भीतरी मनोविज्ञानकी दृष्टिसे इसने चीजोंकी बहुत बड़ी हदतक, बहुत बड़ी हदतक व्याख्या कर दी। इससे सच्चे मानसिक पागलपन और वास्तविक कपटके उदाहरणोंकी संख्या बहुत कम हो जाती है, यानी, ऐसे उदाहरण बहुत कम रह जाते हैं जहां आदमी जान-बूझकर, सचेतन रूपसे ऐसी बात कहता है जो सच्ची बातसे विपरीत है — ये उदाहरण इतने अधिक नहीं हो सकते जितने माने जाते हैं। बहुत-से लोग यूं ही बातें कह देते हैं (उतरानेकी मुद्रा) जो अयथार्थ होती हैं, लेकिन जिन्हें वे शुद्ध रूपसे द्रव्यात्मक जगत्से भिन्न जगत्में देखते हैं, चीजें काफी मिली-जुली होती हैं और उनमें इतना विवेक नहीं होता कि वे मिश्रणका पता चला सकें।... श्रीअरविंद कहा करते थे कि वास्तविक दुर्भावना, वास्तविक विरोध और वास्तविक मिथ्यात्वके उदाहरण बहुत विरल होते हैं। यानी, "वास्तविक" अपने निरपेक्ष अर्थमें, जो अपने-आपमें सचेतन, जान-बूझकर — जान-बूझकर, निरपेक्ष, सचेतन — ऐसे उदाहरण विरल होते हैं; और उन्हींको विरोधी शक्तियां कहते हैं। बाकी सब तो एक प्रकारसे चेतनाकी भ्रांति हैं, ऐसी चेतना जो दखल देती है (माताजी दाएं हाथकी उंगलियां बाएं हाथकी उंगलियोंमें डालकर आगे पीछे करती हैं), और चूंकि उनमें यथार्थ विवेक नहीं होता और चेतनामें भेद नहीं कर सकते, इसलिये इसी तरह अंदर जाते, बाहर आते रहते हैं (फिर वही गति)।

(मौन)

परिणामस्वरूप समस्याकी विशालता दिखायी दी, जिस मार्गका अनुसरण करना है और जो रूपांतर लाना है वह दिखायी दिया...। अगर तुम शुद्ध रूपसे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोणसे देखो तो चीज अपेक्षया सरल और द्रुत हो जाती है, लेकिन जब तुम यहां पहुंचते हो (माताजी अपने शरीरको छूती हैं), बाहरी रूपमें आते हो जिसे द्रव्य कहा जाता है,

ओह! यह तो एक जगत् है। प्रत्येक पाठ — यह पढ़ाये गये पाठोंकी तरह है, बहुत मजेदार है! पाठोंके साथ निष्कर्ष और व्याख्याएं हैं; तुम एक बहुत छोटी, एकदम छोटी-सी खोज करनेमें एक दिन, दो दिन लगा देते हो। और तब तुम देखते हो कि शारीरिक चेतनामें, कामके इन दिनों या घंटोंके बाद प्रकाश है, वह बदल गयी है — वह बदल गयी है, प्रतिक्रिया पहले जैसी नहीं रही, लेकिन (माताजी संकेतसे दिखाती हैं कि बहुत बड़ा काम बचा हुआ है)।

और 'उपस्थिति', दिव्य उपस्थिति अधिकाधिक घनिष्ठ होती जाती है, ज्यादा-ज्यादा ठोस होती जाती है। उस समय यह (माताजी ऊपरकी ओर फूल उठनेकी क्रियाका संकेत करती हैं), यह इतना ठोस होता है कि बस पूर्ण मालूम होता है और फिर (ढकनेका संकेत), चेतनाकी एक और अवस्था आ जाती है और फिर सब कुछ फिरसे शुरू करना होता है।

यह मजेदार है।

यह तुम्हें बहुत कुछ सिखाता है... बड़े-बड़े शब्द, बड़ी-बड़ी वृत्तियां, बड़ी अनुभूतियां, ये सब बहुत अच्छी चीजें हैं, वहां, ऊपर, लेकिन यहां... कोई दर्शनीय चीज नहीं है — सब कुछ बहुत मर्यादित, बहुत शांत, अपने-आपको भुलाये हुए, बहुत ही विनम्र। और यही प्रगतिकी शर्त्त है, रूपांतरकी शर्त्त है।

लो वत्स,

१५ नवंबर, १९६७

ऐसा लगता है कि यदि कोई चमत्कारके जैसी बात न हुई, ऐसी चीज जिसे लोग चमत्कार मानते हैं, तब तो इसमें सदियां लग जायंगी।

लेकिन क्या तुमने कभी यह आशा की थी कि इसमें समय न लगेगा?

हां, स्पष्ट रूपमें।

परंतु मैंने कभी नहीं माना — मैंने कभी नहीं माना कि यह चीज जल्दी

आयगी। सबसे पहले तो स्वयं अपने शरीरपर परीक्षण करना है जैसे मैं कर रही हूं। भौतिक द्रव्य अभी जैसा है, शरीर जैसा है और फिर ...दिव्य सत्ताके बारेमें तुम जो सोच सकते हो — यानी, दिव्य, जो हर क्षण अर्ध-चेतन द्रव्यके अंधकारके साथ बंधी नहीं रहती ... इन दोनोंमें क्या भेद है? इसमें कितना समय लगेगा? पत्थरको वनस्पतिमें, वनस्पति-को पशुमें और पशुको ... बदलनेमें कितना अधिक समय लगा है...? हमें पता नहीं। लेकिन चीजें जिस तरह गति करती हैं... अब लोग गणना करनेमें इतने होशियार हो गये हैं, उनका क्या ख्याल है कि धरती कब बनी थी? कितने लाख, लाखों वर्ष पहले? और यह सब वहांतक पहुंच पानेके लिये, जहां हम आज हैं।

स्वभावतः, ज्यादा बढ़नेपर गति भी तेज हो जाती है, यह मानी हुई बात है, लेकिन जल्दी ... जल्दी?

अगर "प्राकृतिक" प्रक्रिया चली तब तो अनन्त काल लग जायगा।

नहीं, "प्राकृतिक" होनेका सवाल नहीं है। प्रकृतिने चीजोंको इस तरह व्यवस्थित किया है कि वे चेतनाको उत्तरोत्तर प्रकट कर सकें, यानी, सारा काम यही तो रहा है कि निश्चेतनाको इस भांति तैयार किया जाय कि वह सचेत बन जाय। स्वभावतः, अब, कम-से-कम चेतना एक बड़ी मात्रामें है। अब काम ज्यादा तेजीसे चल रहा है, यानी, अधिकांश कार्य पूरा हो चुका है, फिर भी जैसा कि मैंने कहा, जब हम देखते हैं कि वह किस दर्जेतक निश्चेतनाके साथ बंधा है, एक अर्ध, अस्पष्ट चेतनासे बंधा है और मनुष्य नहीं जानते, फिर भी, "नियति", "भाग्य" को अनुभव करते और उसे "प्रकृति" का नाम दे देते हैं जो अभिभूत करती और शासन करती है। हां, तो अंतिम परिवर्तन होनेके लिये इस सबको पूरी तरह सचेतन होना होगा और वह भी केवल मानसिक तरीकेसे नहीं — उतना काफी नहीं है — भागवत तरीकेसे! कितना कुछ करना बाकी है।

यह चीज मैं इस बेचारे छोटे-से शरीर और उसे घेरे हुए सभी चीजों, और इस द्रव्यमें रोज देखती हूं (चारों ओर भीड़ दिखानेका संकेत), आह! ... बस दुःख-दर्द, बीमारी, अव्यवस्थाके सिवा कुछ भी नहीं। ओह! — इसमें और भगवान्‌में कोई समानता नहीं है। एक निश्चेतन राशि है।

तो क्या तुम्हारा मतलब है: तबतक नहीं जबतक कोई चीज ऊपरसे आकर इसे **जबरदस्ती** बदल नहीं देती?

जी, हां।

लेकिन श्रीअरविंद कहते हैं (मैंने अभी दो दिन पहले ही पढ़ा है, मुझे पता नहीं उन्होंने कहां लिखा है, यह तो एक उद्धरण था) कि अगर भागवत चेतना, भागवत शक्ति, भागवत प्रेम, भागवत सत्य अपने-आपको धरतीपर बहुत तेजीसे प्रकट करे तो धरती लुप्त हो जायगी! वह उसे सह न सकेगी . . .।

मैं अनुवाद कर रही हूं, उनका भाव यही था।

लेकिन शायद उच्चतम दिव्य मात्रा नहीं, थोड़ी-सी दिव्य मात्रा।

(माताजी हंसती हैं)। छोटी मात्रा! वह तो हमेशा ही रहती है! छोटी मात्रा तो हमेशा रहती है। एक काफी जोरदार मात्रा भी रहती है, और अगर उसे देखा जाय, तो आश्चर्य होता है, लेकिन ठीक इसीके कारण, हम देखते हैं . . .। हम चीजोंको वैसा देखते हैं जैसी वे हैं।

तुम देखते हो न, ऐसा कोई दिन नहीं जाता जब यह न दिखायी देता हो कि एक मात्रा, पूरी मात्रा नहीं, जरा-सी मात्रा, **उसकी** एक नन्हीं-सी बूंद तुम्हें क्षण-भरमें स्वस्थ कर सकती है — वह "कर सकती" है, इतना ही नहीं कि वह "कर सकती" है, वह **स्वस्थ** कर देती है। तुम सारे समय उस स्थितिमें रहते हो, संतुलित रहते हो और जरा-सी असफलताका अर्थ होता है अव्यवस्था, उस सबका अंत। और उसकी जरा-सी बूंद . . . और प्रकाश और प्रगति आ जाते हैं। दो सिरे हैं। दोनों सिरे पास-पास हैं।

यह एक ऐसा अवलोकन है जिसे तुम दिनमें कई, कई बार करते हो।

लेकिन स्वभावतः, इस यंत्रको अवलोकन करने, समझाने, वर्णन करनेके लिये कहा जाता है तो यह अद्‌भुत चीजें कहता, लेकिन . . . मेरा ख्याल है — मुझे मालूम नहीं, लेकिन ऐसा लगता है कि पहली बार यंत्रसे "समाचार लाने", "अंतःप्रकाश लाने", संकेत देनेका काम लेनेकी जगह यह यंत्र उपलब्धिका प्रयास करनेके लिये . . . कार्य, अंधकारमय दुरूह कार्य करनेके लिये बनाया गया है। और फिर, वह अवलोकन तो करता है, पर अवलोकनके आनंदमें पागल नहीं हो जाता। वह हर क्षण यह देखनेके लिये बाधित होता है कि **उसके होते हुए** अभी कितना काम करना बाकी है . . . और फिर, अपने-आप तो वह तभी खुश हो सकता है जब काम पूरा हो जाय — परंतु "काम पूरा होने" का मतलब क्या है? . . . कुछ ऐसी चीज जो **स्थापित** हो गयी हो। यह दिव्य उपस्थिति, यह

दिव्य चेतना, यह दिव्य सत्य क्षण-भरकी चमककी तरह प्रकट होते हैं और फिर... । हर चीज अपनी सामान्य दुलकी चालसे चलती रहती है — परिवर्तन तो होता है, पर अदृश्य परिवर्तन। हां, तो उसके लिये (शरीर-के लिये यह एकदम ठीक है और मेरा ख्याल है कि यही चीज उसके अंदर साहस बनाये रखती है, और उसे एक प्रकारकी मुस्कराती हुई शांति प्रदान करती है और यह उस सबके बावजूद जो परिणामकी दृष्टिसे इतना कम संतोषप्रद है; लेकिन इससे उसे संतोष नहीं हो सकता। वह तो तभी संतुष्ट होगा जब... बात पूरी हो जायगी, यानी, जब वह चीज जो अभी अंतःप्रकाशके रूप — दीप्तिमान किंतु क्षणिक है वह — एक तथ्यके रूपमें स्थापित हो जायगी; जब सचमुच दिव्य शरीर होंगे, दिव्य सत्ताएं जगत्के साथ दिव्य विधिसे व्यवहार करेंगी, तब और केवल तभी वह कहेगा : हां, यह रहा; उससे पहले नहीं। मुझे नहीं लगता कि यह तुरंत किया जा सकता है।

चूंकि मैं भली-भांति देख सकती हूं, भली-भांति देखती हूं कि क्या काम हो रहा है, मैं तुमसे कह चुकी हूं ऐसी चीजें हैं, हां, हैं, जिन्हें मैं सुनाने और समझाने बैठूं और भविष्यवाणी करूं तो एक-एकमेंसे पूरी शिक्षा निकल सकती है। केवल **एक** अनुभूतिमेंसे पूरी शिक्षा निकल सकती है — और मुझे ऐसी अनुभूतियां दिनमें कई-कई बार होती रहती हैं। लेकिन मैं निश्चित रूपसे जानती हूं, उससे कुछ नहीं बनता...

और यह अधीरता नहीं है, न संतोषका अभाव है, ऐसी कोई बात नहीं है। यह एक ... 'शक्ति' है, एक 'संकल्प' है जो कदम-कदम करके आगे बढ़ता जाता है, वह कहानी सुनानेके लिये रुक नहीं सकता, जो हो चुका है उससे संतुष्ट नहीं रह सकता।

(मौन)

क्या समस्त पृथ्वीपर कोई ऐसी सत्ता है जो सचमुच दिव्य हो, अर्थात्, जिसपर निश्चेतनाके किसी नियमका शासन नहीं चलता? ... मुझे लगता है कि यह मालूम हो जाता। अगर ऐसी कोई सत्ता है और मैं उसे नहीं जानती तो मुझे कहना पड़ेगा कि ऐसी बातके हो सकनेके लिये यह जरूरी है कि मेरे अंदर कहींपर बहुत बड़ा कपट है।

सच्ची बात तो यह है कि मैं अपने-आपसे यह प्रश्न नहीं पूछती।

सब मिलाकर, हर एक जानता है कि जिस किसीने नये जगत्के रहस्यो-द्घाटनका या नये जीवनकी उपलब्धिका दावा किया है उसमें, हर एकमें,

अमुक प्रतिशत निश्चेतना जरूर रहती है जो मेरी निश्चेतनासे बहुत अधिक है। तब... लेकिन यह सब तो सार्वजनिक रूपसे मालूम है: क्या कहीं-पर कोई ऐसा व्यक्ति है, पर लोग उसे नहीं जानते?... मुझे आश्चर्य होगा यदि उसका कोई ऐसा संवाद न हो। मुझे नहीं मालूम।

हां, बहुत-से लोग हैं, बहुत-से, ईसामसीहों, कल्कियों और अतिमानवों-की बाढ़-सी है। हां! ऐसे बहुत-से हैं। साधारणतः, किसी तरह संपर्क रहता है, किसी तरह उनके अस्तित्वका पता चल जाता है। हां, उन सब-में जिनके साथ मैं दृश्य या अदृश्य रूपसे संपर्कमें आयी हूं, एक भी ऐसा नहीं है... कैसे कहूं, एक भी ऐसा नहीं है जिसमें इस शरीरसे कम निश्चेतना हो — लेकिन मैं जानती हूं कि अभी बहुत हैं, उफ!

मैं नहीं देखता कि किस प्रक्रियासे इस तमस्, इस निश्चेतनासे बाहर निकला जाय।

प्रक्रिया, कौन-सी प्रक्रिया? रूपांतरकी।

जी, कहा गया है कि चेतनाको जागकर उस सबको जगाना चाहिये।

लेकिन, वह यही कर रही है।

जी हां, वह कर रही है पर...

वह करना बंद नहीं करती!

उत्तर यह है: अचानक एक प्रत्यक्ष दर्शन होता है (ये सब बहुत सूक्ष्म, बहुत सूक्ष्म चीजें हैं, लेकिन यथार्थ रूपमें चेतनाके लिये बिलकुल मूर्त्त चीजें हैं), एक प्रकारकी अव्यवस्थाकी अनुभूति होती है मानों अव्यवस्थाकी एक धारा हो, तब शारीरिक रचनाका द्रव्य पहले अनुभव करना शुरू करता है, फिर प्रभाव देखकर सारी चीज ही अव्यवस्थित हो जाती है। यह अव्यवस्था कोषाणुओंकी उस संसक्तिको रोकती है जो व्यक्तिगत शरीर बनानेके लिये जरूरी है। तब यह पता लग जाता है (विघटनका संकेत), अब यह खतम होनेवाला है। तब कोषाणु अभीप्सा करते हैं और फिर शरीरकी केंद्रीय चेतना जैसी कोई चीज उसके लिये जितना संभव है "समर्पण" के साथ तीव्र अभीप्सा करती है: "प्रभो, तुम्हारी इच्छा, तुम्हारी इच्छा, तुम्हारी इच्छा," और तब एक प्रकारका — कोई जोरका धमाका

नहीं, कोई चकाचौंध पैदा करनेवाली चमक नहीं, बल्कि एक प्रकारकी... हां, उसे लगता है कि अव्यवस्थाकी यह धारा सघन होती जा रही है। तब कुछ चीज रुक जाती है: पहले शांति, तब प्रकाश, तब दिव्य सामंजस्य — और अव्यवस्था गायब हो जाती है। और, जब अव्यवस्था गायब हो जाय तो, "कोषाणुओं" को तुरंत ऐसा लगता है कि वे शाश्वत तत्त्व जी रहे हैं, शाश्वतताके लिये जी रहे हैं।

और इसी प्रकार ठोस सद्वस्तुकी पूरी तीव्रताके साथ वह चीज रोज नहीं, दिनमें कई-कई बार होती है। कभी-कभी यह बहुत सशक्त होती है, यानी, बड़ी राशिकी तरह। कभी केवल एक चीज ही छूती है; फिर शरीरकी चेतनामें वह अपने-आपको इस तरह, एक प्रकारके कृतज्ञता-ज्ञापनके रूपमें अनूदित कर लेती है: यह निश्चेतनामेंसे एक और वास्तविक प्रगति। हां, ये गूंजती हुई घटनाएं नहीं होतीं, मानव पड़ोसी इनके बारेमें कुछ नहीं जानता; वह शायद बाहरी क्रिया-कलापमें एक प्रकारका विराम, एक प्रकारकी घनता देखता है। लेकिन बस इतना ही। इसलिये इस मामलेपर बातचीत नहीं होती, इसके बारेमें किताबें नहीं लिखी जा सकतीं, इसके बारेमें प्रचार नहीं होता...। तो ऐसा है यह काम।

सभी मानसिक अभीप्साएं, सभी इससे संतुष्ट नहीं होतीं।

यह बहुत ही अस्पष्ट कार्य है।

(माताजी लंबे ध्यानमें चली जाती हैं)

अभी दो-एक दिन हुए हैं, मुझे मालूम नहीं। ऐसा था मानों धरतीके दिव्य बननेके प्रयासका एक संपूर्ण दर्शन था और ऐसा लगता था मानों कोई कह रहा हो (वह 'कोई' नहीं है, वह साक्षी चेतना है, वह चेतना जो अवलोकन करती है, लेकिन वह अपने-आपको शब्दोंमें रूपायित कर लेती है। प्रायः, अधिकतर वह अपने-आपको अंगरेजीमें रूपायित करती है और मुझे ऐसा लगता है कि यह श्रीअरविंद हैं, श्रीअरविंदकी सक्रिय चेतना है, लेकिन कभी-कभी यह केवल मेरी चेतनामें शब्दोंमें अनूदित होता है)। तो उस 'किसी' ने कहा: "हां, घोषणाओंका, अन्तःप्रकाशोंका समय चला गया — अब क्रियाकी ओर ...।"

वास्तवमें घोषणाएं, अंतःप्रकाश, भविष्यवाणियां बहुत मोहक होती हैं। इससे "मूर्त वस्तु" की अनुभूति होती है; अब सब कुछ अस्पष्ट है, ऐसा लगता है कि यह बहुत अस्पष्ट है, अदृश्य है (यह लंबे, लंबे समयके बाद दृश्य होगी), समझमें नहीं आती।

यह एक ऐसे क्षेत्रकी चीज है जो अभीतक समझाये जानेके लिये, शब्दोंमें प्रकट होनेके लिये तैयार नहीं है।

और वास्तवमें किसी हदतक सचमुच नयी है, अबोधगम्य है। मैं जो बात कह रही हूं यह मेरी बातको पढ़नेवालेके किसी अनुभवके साथ मेल नहीं खाती।

और मैं भली-भांति देखती हूं, मैं अच्छी तरह देख सकती हूं, इस तरहके (उल्टा करनेका संकेत) कितने थोड़े-से कामकी जरूरत होगी जो इसे पैगम्बरी अन्तःप्रकाश बना देगा। थोड़ा-सा काम, मनमें जरा-सी उल्टी क्रिया — यह अनुभूति मनके बिलकुल बाहर है और फिर इसके बारेमें जो कहा जायगा . . . (माताजी सिर झुकाती हैं)। ठीक इसीलिये कि यह मन नहीं है, चीज लगभग अबोधगम्य है और सारी चीज (ओह! वह दृश्य है), सारी चीजके पहुंचके अंदर आनेके लिये मनमें जरा-से उलट-फेरकी जरूरत होगी (वही मुद्रा) और वह पैगंबरी बन जायगी। और वह . . . वह संभव नहीं है। वह अपना सत्य खो बैठेगी।

तो यह बात है, वह रास्तेमें है।

प्रासंगिक (२२ नवंबर, १९६७)

कुछ प्रगति हुई है।

दूसरी दिसंबरको शारीरिक शिक्षाके प्रदर्शनके अंतमें सब बच्चे एक साथ मिलकर प्रार्थना करनेवाले हैं और मैंने उनके लिये प्रार्थना लिखी है। मैं तुम्हें अभी बतानेवाली हूं। लेकिन मैंने उसके बारेमें सोचा न था, मुझसे प्रार्थना मांगी गयी और मैंने लिख दी।

शायद उन्होंने बुलेटिन पढ़ा होगा इसलिये उन्होंने एक प्रार्थना मांगी — एक ऐसी प्रार्थना जो सचमुच शरीरकी हो। मैंने उत्तर दिया:

शरीरके कोषाणुओंकी प्रार्थना

अब जब भागवत कृपाके प्रभावसे
हम धीरे-धीरे निश्चेतनामेंसे निकल रहे हैं
और एक सचेतन जीवनके प्रति जाग रहे हैं

हमारे अंदरसे अधिक प्रकाश और अधिक चेतनाके लिये
एक प्रबल प्रार्थना उठती है :

"हे विश्वके परम प्रभो,
हम तुझसे याचना करते हैं, हमें वह
बल और सुन्दरता, सामंजस्यमय पूर्णता दे,
जो धरतीपर तेरा दिव्य यंत्र बननेके लिये जरूरी है।"

यह एक घोषणा-सी है।

वे प्रदर्शनके बाद इसे बोलनेवाले हैं; कहते हैं कि वे शारीरिक प्रशिक्षण-का पूरा इतिहास दिखायेंगे और अंतमें कहेंगे : हम अन्ततक नहीं पहुंचे हैं। हम अभी किसी चीजके आरंभमें हैं और यह हमारी प्रार्थना है।

मैं बहुत खुश हुई।

आपने कहा कुछ प्रगति हुई है ?

प्रगति ! बहुत बड़ी प्रगति ! उन्होंने कभी सोचातक न था, कभी नहीं; उन्होंने इस शरीरमें रूपांतर प्राप्त करनेके बारेमें कभी न सोचा था : वे संसारके सबसे अच्छे व्यायामी बननेकी सोचते थे, और ऐसी ही घिसी-पिटी मूर्खताभरी बातें।

शरीर, उन्होंने शरीरके लिये प्रार्थना मांगी है। वे अब यह समझने लग गये हैं कि अब शरीरको अपने-आपको किसी और चीजमें रूपांतरित करना शुरू कर देना चाहिये। इससे पहले वे सभी देशोंमें शारीरिक प्रशिक्षणके सारे इतिहाससे भरे रहते थे, इसमें लगे रहते थे कि किस देशमें यह सबसे अधिक उन्नत है, और शरीर, जैसा वह है, का उपयोग कैसे किया जाय... आदि। हां, यह औलिम्पिक्सका आदर्श था। अब वे उसके परे कूदे हैं : वह भूतकाल था। अब वे रूपांतर चाहते हैं।

लोग अपने मन और प्राणमें दिव्य बनना चाहते थे। यह तो आध्या-त्मिकताकी पुरानी कहानी है जिसकी सदियोंसे जुगाली होती आयी है। नहीं, अब शरीरकी बात है। शरीर इसमें भाग लेना चाहता है। यह पूर्ण रूपसे प्रगति है।

हां, परंतु मनमें आदमी देख सकता है कि अभीप्सा अपने-आपको कैसे पुष्ट करती है, कैसे अपने-आपको जीती है। आदमी हृदयमें भी भली-भांति देख सकता है कि अभीप्सा कैसे

रहती है। लेकिन शरीरमें? शरीरमें अभीप्साको कैसे जगाया जाय?

लेकिन यह पहलेसे ही पूर्णतया जाग्रत् है, मेरे अंदर महीनोंसे है! उन्होंने इसे अनुभव किया होगा और वे अनुभव करते हैं।

यह कैसे किया गया है? — यह किया जा रहा है।

लेकिन अपने अंदर कैसे? ....

नहीं, नहीं, नहीं, अगर यह किसी एक शरीरमें भी किया जा सका है तो सब शरीरोंमें किया जा सकता है।

लेकिन मैं पूछता हूं कैसे? ... हां, कैसे?

यह तो मैं महीनोंसे समझानेकी कोशिश कर रही हूं। सबसे पहले कोषाणुओंमें चेतना जगायी जाय। ...

जी, हां!

हां, अवश्य, लेकिन यह एक बार हो जाय तो हो जाता है: चेतना अधिकाधिक जागती है। कोषाणु ज्यादा सचेतन रूपमें जीते हैं, सचेतन रूपसे अभीप्सा करते हैं। हे भगवान्, मैं महीनोंसे यह बात समझानेकी कोशिशमें लगी हूं। मैं महीनोंसे यह समझानेकी कोशिश कर रही हूं। और यही बात है जिससे मैं इतनी खुश हूं कि उन्होंने कम-से-कम इसकी संभावनाको तो समझ लिया।

वही चेतना जिसे प्राण और मनपर एकाधिकार है, उसीने शरीरपर एकाधिकार पा लिया है: शरीरके कोषाणुओंमें चेतना काम कर रही है।

शरीरके कोषाणु सचेतन चीज बन रहे हैं, पूर्णतया सचेतन।

एक ऐसी चेतना जो स्वतंत्र है, जो मानसिक या प्राणिक चेतनापर जरा भी निर्भर नहीं है: वह है शारीरिक चेतना।

(मौन)

और यह भौतिक मन जिसके बारेमें श्रीअरविंदने कहा था कि वह एक

असंभावना है, कि वह एक ऐसी चीज है जो हमेशा गोल-गोल घूमती रहती है और हमेशा गोल-गोल घूमती ही रहेगी — ठीक चेतनाविहीन यंत्रकी तरह, वह मन भी परिवर्तित हो गया है, वह नीरव हो गया है और उस नीरवतामें उसने दिव्य चेतनासे अंतःप्रेरणा पायी है। उसने प्रार्थना करना शुरू कर दिया है : प्रार्थनाएं वही हैं जो पहले मनमें थीं।

मैं भली-भांति समझ सकता हूं कि आपके अंदर क्या हो सकता है, पर . . .

चूंकि यह एक शरीरमें हो रहा है इसलिये यह सभी शरीरोंमें हो सकता है! मैं दूसरोंसे भिन्न पदार्थसे नहीं बनी हूं। फर्क सिर्फ चेतनामें है, बस इतना ही। यह ठीक उसी चीजसे बना है, उन्हीं चीजोंसे बना है। मैं वही चीजें खाती हूं। यह उसी तरहसे बना था, एकदम उसी तरह।

मेरा शरीर भी उतना ही मूढ़, उतना ही अंधकारमय, उतना ही निश्चेतन, उतना ही हठी था जितना संसारका कोई और शरीर।

और यह आरंभ तब हुआ जब डाक्टरोंने कह दिया कि मैं बहुत अधिक बीमार थी। यह आरंभ था। क्योंकि सारा शरीर अपनी आदतों और शक्तियोंसे खाली कर दिया गया और तब धीरे, धीरे, धीरे कोषाणु एक नयी ग्रहणशीलताके प्रति जागे और उन्होंने अपने-आपको प्रत्यक्ष रूपमें भागवत प्रभावकी ओर खोला।

अन्यथा कोई आशा न होती और यह द्रव्य जिसने आरंभ किया . . . कंकरमें भी एक संगठन आ चुकता है — वह निश्चय ही कंकरसे भी गया-बीता था : निश्चेतन, जड़, निरपेक्ष, वह थोड़ा-थोड़ा करके, जरा-जरा करके जाग उठा। वह देखता है, हां, वह देखता है, देखनेके लिये उसे बस अपनी आंखें खोलनी होती हैं। हां, यही चीज होती है : पशुसे मनुष्य बननेके लिये उसे और किसी चीजकी जरूरत नहीं हुई, केवल चेतनाका प्रवेश, मानसिक चेतनाका निषेचन। और अब उस चेतनाका जागरण तलीमें, एकदम तलीमें, इस तरह। मनने अपने-आपको हटा लिया, प्राणने भी हटा लिया। सब हट गये; जब यह कहा गया कि मैं बीमार हूं तो मन हट गया था, प्राण हट गया था। जानबूझकर शरीरको अपने-आपपर छोड़ दिया गया। हां, यही बात है, चूंकि मन और प्राण उसे छोड़ गये थे, इसलिये गंभीर रोग का आभास होता था। लेकिन तब अपने-आपपर छोड़े गये शरीरमें थोड़ा-थोड़ा करके कोषाणुओंने चेतनाके

प्रति जागना शुरू किया (उठती हुई अभीप्साका संकेत), जब वह चेतना जिसे प्राणने शरीरमें प्रविष्ट किया था (मनसे प्राणमें और प्राणसे शरीरमें), जब ये दोनों चेतनाएं चली गयीं तो धीरे-धीरे चेतनाने उठना शुरू किया। उसका आरंभ हुआ प्रेमके विस्फोटसे जो उच्चतम शिखरपर हैं, अंतिम चरम ऊंचाईपर है और तब जरा-जरा करके, जरा-सा शरीरमें उतरा। और तब यह भौतिक मन, यानी, ऐसी चीज जो एकदमसे बिलकुल ही मूढ़ थी, मन जो गोल-गोल घूमता था, जो एक ही चीजको बार-बार, एक ही चीज-को सैंकड़ों बार दोहराता था, वह जरा-जरा करके प्रकाशित हो उठा, सचे-तन हुआ, संगठित हुआ और फिर, नीरवतामें डूब गया और तब नीवरता-में, अभीप्साने अपने-आपको प्रार्थनाका रूप दिया।

(मौन)

यह सभी प्राचीन आध्यात्मिक स्थापनाओंका खण्डन है: "अगर तुम पूरी तरह दिव्य जीवनसे सचेतन होकर रहना चाहते हो तो शरीर त्याग दो — शरीर इसका अनुसरण नहीं कर सकता।" ठीक, पर श्रीअरविंदने आकर कहा: "शरीर, इतना ही नहीं कि वह अनुसरण कर सकता है, बल्कि वह भगवान्‌की अभिव्यक्तिका आधार बन सकता है।"

अभी कार्य करना बाकी है।

लेकिन अब एक निश्चिति है। परिणाम अभी दूर — बहुत दूर है। अंदर जो कुछ हो रहा है (आध्यात्मिक गहराइयोंके अंदर नहीं, शरीरके अंदर), उसे बाह्यतम स्तरपर, अपनी परतकी अनुभूतिमें व्यक्त करनेके लिये बहुत कुछ करना बाकी है। जो अंदर है उसे बाहर प्रकट करनेके योग्य बनानेके लिये . . .। यह अंतमें आयेगा, और यह इसी तरह अच्छा है क्योंकि अगर वह समयसे पहले आ जाय तो कामकी अवहेलना होगी; आदमी इतना संतुष्ट हो जायगा कि काम पूरा करना ही भूल जायगा। सब कुछ अंदर करना चाहिये। वह अच्छी तरह किया जाना चाहिये, पूरी तरहसे बदल जाना चाहिये, तब बाह्य अपने-आप बोलेगा।

लेकिन यह सारा एक ही द्रव्य है: सब जगह एक जैसा और वह हर जगह निश्चेतन था; और फिर विचित्र बात यह है कि चीजें **अपने-आप** होने लगती हैं (संसार भरमें फैले हुए बिन्दु दिखाते हुए), एकदम अप्रत्या-शित रूपमें, इधर-उधर, उन लोगोंमें जो कुछ भी नहीं जानते।

(मौन)

द्रव्यात्मक कोषाणुओंको चेतनाको ग्रहण करने और उसे अभिव्यक्त करनेकी क्षमता प्राप्त करनी चाहिये; और फिर जो चीज आमूल रूपांतरको संभव बनाती है वह यह है — हम कह सकते हैं कि शाश्वत और अनिश्चित आरोहणके स्थानपर एक नया प्रकार दिखायी देता है — और वह है ऊपरसे अवतरण। इससे पहलेका अवतरण मानसिक अवतरण था और इसे श्रीअरविंदने अतिमानस अवतरण कहा है। ऐसा लगता है कि परम दिव्य चेतनाका अवतरण हो रहा है। वह किसी ऐसी चीजमें घुल-मिल रही है जो उसे ग्रहण करने और अभिव्यक्त करनेमें समर्थ हो। और तब जब वह अच्छी तरह पिस जाय (पता नहीं, इसमें कितना समय लगेगा)। तब इसमेंसे एक नया रूप जन्म लेगा जिसे श्रीअरविंद अतिमानसिक रूप कहते हैं — जो . . . पता नहीं, मुझे नहीं मालूम ये सत्ताएं क्या कहलायेंगी।

ये अपने-आपको कैसे अभिव्यक्त करेंगी, वे अपनी बात कैसे समझायेंगी . . . . और यह सब . . . ? मनुष्यमें यह चीज बहुत धीरे-धीरे विकसित हुई थी। केवल मनने बहुत अधिक परिश्रम किया था और अंतमें चीजोंको तेजीसे चलाया है।

वहांतक कैसे पहुंचा जाय? . . . अभिव्यक्तिमें निश्चय ही अवस्थाएं होंगी, शायद एक नमूना आयेगा और कहेगा: यह ऐसा है (माताजी सामने देखती हैं)। आदमी उसे देखता है।

जब पशुसे मानवका विकास हुआ तो अभिलेखनका कोई साधन न था — सारी प्रक्रियाको लिख रखनेकी व्यवस्था न थी — अब स्थिति बिलकुल भिन्न है। अब चीज ज्यादा मजेदार होगी।

(मौन)

लेकिन वर्तमान अवस्थामें अधिकतर लोग — मानवजातिके बुद्धिवादी वर्गकी बहुत बड़ी संख्या — अपने-आपमें लगे रहनेसे और अपनी प्रगतिके टुकड़ोंसे बहुत संतुष्ट है (माताजी एक छोटा-सा चक्र बनाती हैं)। उसके अंदर और किसी चीजके लिये कोई, कोई इच्छा भी नहीं है।

इसका मतलब है कि अतिमानव सत्ताका आगमन... अलक्षित और अज्ञात ही रह सकता है। कुछ कहा नहीं जा सकता क्योंकि इसका कोई सादृश्य नहीं है; स्पष्ट है कि अगर कोई बंदर, बड़े बंदरोंमेंसे कोई बंदर पहले मनुष्यसे मिलता तो उसे बस यही लगता कि यह कोई अजीब-सा प्राणी है . . .। परंतु अब चीज और ही है, क्योंकि मनुष्य सोचता और तर्क करता है।

लेकिन जो कुछ मनुष्यसे श्रेष्ठतर है...। मनुष्यने यह सोचनेकी आदत डाल ही है कि वे सत्ताएं, दिव्य सत्ताएं हैं...यानी, उनके शरीर नहीं हैं, वे प्रकाशमें प्रकट होती हैं। संक्षेपमें कहें तो उनकी कल्पना की गयी है —लेकिन यह सब ऐसा है नहीं।

(लंबा मौन)

तो ?
तुम्हें विश्वास नहीं हुआ ?
तुम कोशिश क्यों नहीं करते ?

अवश्य! इसीलिये तो मैंने आपसे पूछा था। मैं किसी बात-पर अविश्वास नहीं कर रहा। मैंने आपसे प्रश्न किया। मैंने पूछा था कि यह कैसे किया जाय? मुझे नहीं मालूम यह कैसे किया जाता है...। उदाहरणके लिये, सवेरेके समय, मैं दाढ़ी बनाता हूं, सवेरेके समय आदमी प्रायः मूढ़ और थका-सा होता है, मन काम करनेसे इंकार करता है, प्राण भी काम करनेसे....

हां, यह अच्छा मौका है।

निश्चय ही, यही तो मैं करता हूं। मैं कहता हूं: नहीं, मैं नहीं देखता। मैं नहीं जानता कि उसे कैसे चलाया जाय— वह हिलता भी नहीं। जबतक कि मैं अपना मन या प्राण या हृदय न लगाऊं तबतक यह नहीं हिलता।

उफ !

मैं संदेह नहीं कर रहा। मेरा कहना है कि मेरा शरीर गधा है, बहुत संभव है, मुझे संदेह नहीं है।

यह गधा नहीं है, बेचारा! (माताजी हंसती हैं)

संदेह तो मेरे अंदर नहीं है, पर कैसेका प्रश्न तो है ही। मैं नहीं जानता।

मेरे लिये यह प्रश्न कभी उठा ही नहीं, क्योंकि...संगीत बजाते समय या चित्र बनाते समय हम भली-भांति देख सकते हैं कि चेतना कोषाणुओंमें प्रवेश करती है और ये कोषाणु सचेतन हो जाते हैं। उदाहरणके लिये, यह अनुभव लो: बक्समें कुछ चीजें हैं। हाथसे कहा जाता है: (बिना गिने, यूं ही) "बारह निकालो"। हाथ बारह निकालकर तुम्हें दे देता है। मुझे यह अनुभव बहुत पहले हुआ था; इक्कीस वर्षकी अवस्थामें मुझे ऐसे अनुभव होने लगे थे, इसलिये मैं जानती हूं; मैं जानती थी कि चेतना कैसे काम करती है। हां, पियानो या चित्रकारी असंभव है यदि चेतना हाथमें प्रवेश न करे और हाथ, मस्तिष्कसे **स्वतंत्र रूपमें** सचेतन न हो। मस्तिष्क कहीं और व्यस्त रह सकता है। उसका कोई महत्त्व नहीं। इसके अतिरिक्त, यही बात उन लोगोंमें होती है जो नींदमें चलते हैं: उनके शरीरमें एक चेतना होती है जो मन और प्राणसे बिलकुल अलग-थलग, शरीरको हिलाती-डुलाती और उससे चीजें करवाती है।

मेरा मतलब यह है कि जब मैं हजामत बनानेके लिये आईनेके सामने होता हूं उस समय अगर मैं अपने अंदर कोई मंत्र या हृदयसे उठती हुई कोई अभीप्सा न रखूं तो एक जड़ कुंदा हजामत करता रहता है, और उसके साथ होता है घूमता हुआ भौतिक मन। लेकिन, अगर मैं कोई मंत्र या मानसिक संकल्प...

लेकिन नहीं! अंतमें तो **शरीर** ही मंत्र बोलता है! और वह भी सहज रूपसे, इतने सहज रूपसे कि अगर तुम अचानक और चीजोंके बारेमें सोचने भी लगो तो भी शरीर मंत्र बोलता रहता है। तुम्हें ऐसा अनुभव नहीं है?

नहीं।

और शरीर ही अभीप्सा करता है, शरीर ही मंत्र बोलता है, शरीर ही प्रकाश चाहता है, शरीर ही चेतना चाहता है — तुम, तुम भले और चीजों-के बारेमें सोचते रहो: पीटर या पॉलके बारेमें या किसी पुस्तकके बारेमें, उसका कोई महत्त्व नहीं।

अब मैं बहुत अच्छी तरह समझती हूं, बहुत अच्छी तरह; शुरूमें मैं नहीं समझती थी। मैं यह मानती थी कि मुझे इसलिये बीमार किया गया है

ताकि मैं वह जीवन समाप्त कर दूं जो मैं नीचे रहते हुए जी रही थी।[1] मैं नीचेके जीवनकी अपेक्षा अधिक व्यस्त जीवन बिताती हूं इसलिये... मैंने अपने-आपसे पूछा : क्यों ? क्या यह संक्रमणकाल था ? लेकिन अब मैं समझती हूं : अलग होकर, मैं मूर्छित हो जाती थी। इसीलिये डाक्टरने फैसला कर दिया कि मैं बीमार थी, कि मैं मूर्छित हुए बिना एक कदम भी नहीं चल सकती। मैं यहांसे वहांतक चलना चाहती थी, रास्तेमें ही पट ! मैं मूर्छित हो गयी; मुझे पकड़कर रखना पड़ता था ताकि शरीर कहीं गिर न पड़े। पर जहांतक मेरा सवाल है, मैंने क्षण-भरके लिये भी अपनी चेतना नहीं गंवायी; मैं मूर्छित हुई, पर थी सचेतन। मैं अपने शरीरको देख रही थी, मैं जानती थी कि मैं मूर्छित हो गयी हूं। मैंने चेतना नहीं गंवायी और शरीरने भी चेतना नहीं गंवायी, मैं अब समझ सकती हूं : शरीर अकेला था, प्राण और मनसे उसका संबंध कट गया था। वह अपने ही बूतेपर छोड़ दिया गया था; वह केवल शरीर था : उसने जो कुछ जाना था, उसने जो भी अनुभूतियां प्राप्त की थीं, सत्ताकी सब अवस्थाओंमें, प्राण और मनमें जो भी प्रभुत्व था वह सब जा चुका था। और यह बेचारा शरीर अकेला छोड़ दिया गया था। तब स्वभावत:, थोड़ा-थोड़ा करके वह फिरसे रचा गया। फिरसे रचना की गयी, एक सचेतन, पूरी तरह सचेतन सत्ता बनायी गयी।

हां, मैं समझती हूं, समझती हूं। यह सचमुच औरोंसे कट गया था। यह मैं जानती हूं — मैंने देखा है — यह कट गया था, सत्ताकी अवस्थाओंको भेज दिया गया था : "चली जाओ, अब तुम्हारी जरूरत नहीं है।" और तब एक नये जीवनके निर्माणकी जरूरत आ पड़ी। अब पहलेकी तरह उच्चतम, सर्वोच्चकी ओर, निराकारकी ओर उत्तरोत्तर जागरणद्वारा सभी अवस्थाओंमेंसे गुजरनेकी जरूरत नहीं रही (पुराने योगियोंकी तरह एक-एक पग चढ़नेकी मुद्रा), अब उसकी एकदम जरूरत नहीं रही। अब होना चाहिये... (मुद्रा : ऊपर उठती हुई अभीप्सा फूलकी तरह खिलती है)। अंदर कोई चीज खिली थी, किसी चीजका विकास हुआ था और इसलिये यह मूढ़ मन अपने-आपको व्यवस्थित कर सका, अपनी अभीप्सामें नीरव रह सका; और फिर ... फिर एक सीधा 'संपर्क', बिना किसी मध्यवर्तीके — सीधा संपर्क और अब वह सारे समय रहता है। सारे समय, सारे समय — सीधा संपर्क।

---

[1]इस बीमारीके बाद माताजी ऊपरकी मंजिलमें ही रहा करती थीं।

और यह **शरीर**के साथ, सब प्रकारकी चीजोंके द्वारा, सत्ताकी सब स्थितियों-मेंसे होकर नहीं, सीधा।

लेकिन, एक बार यह हो जाय (श्रीअरविंदने कहा था), एक बार **एक** अकेला शरीर इसे कर ले तो उसमें यह क्षमता होती है कि वह इसे दूसरों-को भी दे सके; और अब मैं तुमसे कहती हूं (मैं सारी बात और पूरे विस्तारसे नहीं कह रही, संभवत: नहीं), लेकिन यहां-वहां (धरतीपर विभिन्न बिंदु दिखाते हुए बिखेरनेकी मुद्रा) अचानक लोगोंको एक या दूसरी अनुभूति प्राप्त होती है। ऐसे लोग हैं (अधिकतर), ऐसे हैं जो डरते हैं, तब स्वभावत: यह चीज चली जाती है — इसका कारण यह है कि वे अंदरसे काफी तैयार नहीं थे; अगर हर रोजका, एक-एक मिनटका वही तुच्छ-सा कार्यक्रम न हो तो वे डर जाते हैं; और एक बार डर जायं तो खतम। इसका मतलब होगा कि उस चीजको वापिस लानेके लिये फिर बरसोंकी तैयारीकी जरूरत होगी। लेकिन कुछ ऐसे भी हैं जो नहीं डरते; अचानक एक अनुभूति : "आहा! ..." अचानक एकदम नयी चीज, एकदम अप्रत्याशित, जिसके बारेमें उन्होंने कभी सोचातक न था।

यह चीज संक्रामक है, मैं जानती हूं, यही एकमात्र आशा है। अन्यथा यदि हर एकको फिर-फिर उसी अनुभूतिमेंसे गुजरना पड़े...। हां, अब मैं नब्बेकी हूं — नब्बेकी अवस्थामें लोग थक जाते हैं। वे जीवनसे ऊब जाते हैं। यह सब करनेके लिये तुम्हें बालककी तरह तरो-ताजा होना चाहिये।

इसमें बहुत समय लगता है। मैं भली-भांति देख सकती हूं कि इसमें बहुत समय लग गया है।

और फिर अभी यह पूरा नहीं हुआ है, किया जा रहा है, लेकिन अभी हुआ नहीं है, अभी हम उससे दूर, क़ाफी दूर हैं। ...सचेतन कोषाणु कितने प्रतिशत हैं? पता नहीं।

और समय-समयपर वे दूसरोंको डांटना शुरू करते हैं। यह बहुत मजेदार है! वे डांटते हैं, उन्हें पकड़ लेते हैं और फिर अपने ढंगसे उनसे मूर्खता-भरी बातें कहते हैं। जो चाहते हैं (माताजी एक छोटा-सा चक्र बनाती हैं), जो पुरानी आदतोंको जारी रखना चाहते हैं, पाचन अमुक प्रकारसे होना चाहिये, रक्त-संचार अमुक प्रकारसे होना चाहिये और श्वासोच्छ्वास अमुक प्रकारसे ...। सभी क्रियाएं प्रकृतिकी पद्धतिसे करनी चाहिये; और जब ऐसा नहीं होता तो वे चिंतित हो उठते हैं। तब, जो जानते हैं वे उन्हें पकड़ लेते हैं और भगवान्‌के नामसे उनपर अच्छी बौछार करते हैं। यह बहुत मजेदार है।

कोई चीज शब्दोंमें अनूदित की जाती है (वह बिना शब्दोंके होती है, पर कुछ चीज शब्दोंमें अनूदित की जाती है), और तब कोषाणुओंमें वार्तालाप होता है (माताजी हंसती हैं): "क्या मूर्ख हो तुम! तुम क्यों डरते हो? क्या तुम नहीं देख पाते कि स्वयं भगवान् तुम्हें रूपांतरित करनेके लिये यह कर रहे हैं?" और तब वह दूसरा: आह... वह चुप हो जाता है, अपने-आपको खोलता है और आशा लगाता है और तब...पीड़ा चली जाती है, अव्यवस्था चली जाती है और सब कुछ ठीक हो जाता है।

यह अद्भुत है!

लेकिन अगर दुर्भाग्यवश मन आ जाता है, सहायता करना या मूल्यांकन करना शुरू करता है तो सारी चीज ठप्प हो जाती है, पुरानी आदतोंमें जा गिरती है।

(लंबा मौन)

वास्तवमें प्राणिक, मानसिक आदि अहंकारको फट...निकाल दिया गया।

यह आमूल क्रिया थी।

तो अब, एक प्रकारका लोच है, नमनीयता है और वह सब सीख रहा है — समग्रके साथ बहुत कुछ संपर्क रखते हुए (क्षैतिज मुद्रा), अपना सारा संबल, अपना सारा संकल्प और यह सब इस तरह (परम प्रभुकी ओर ऊर्ध्वस्थ मुद्रा), बिलकुल इस तरह, असाधारण नमनीयताके साथ खोजना सीख रहा है।

और तब दिव्य उपस्थितिका वैभव!

•

२९ नवंबर, १९६७

२४ नवंबरके दर्शनके बारेमें।

मेरे पास दर्शनके दिन लिये गये कुछ नये फोटो आये हैं। ये टेलेस्कोप कैमरासे लिये गये हैं। इन्हें बड़ा नहीं किया गया, जैसे लिये गये थे वैसे ही हैं (माताजी शिष्यको कुछ फोटो दिखाती हैं)।

पता नहीं, हर दर्शनपर मुझे लगता है कि मैं एक अलग ही व्यक्ति हूं

और जब मैं अपने-आपको इस तरह वस्तुनिष्ठ तरीकेसे देखती हूं तो हर बार एक नये व्यक्तिको पाती हूं। कभी एक बूढ़ा चीनी, कभी श्रीअरविंदका एक स्थानान्तरित रूप, एक छिपे हुए श्रीअरविंद और फिर कभी कोई ऐसा व्यक्ति जिसे मैं भली-भांति जानती हूं, पर वह यह नहीं है: एक बार मैं ऐसी थी। यह चीज मेरे साथ कई बार हो चुकी है।

लेकिन वहां भी, मुझे ऐसा लगता है कि कोई . . . आप सामान्यतः जो होती हैं उससे बिलकुल भिन्न व्यक्ति हैं।

ऐसा है न?

और मुझे लगता है कि कोई ऐसी चीज है जिसे मैं जानता हूं।

हां, मुझे भी ठीक ऐसा ही लगता है। मैं उसे देखती हूं: और कहती हूं: मैं इस व्यक्तिको भली-भांति जानती हूं -- लेकिन उसका इस शरीरके साथ कोई संबंध नहीं है।

जी हां, ऐसी चीज जिसे मैं जानता हूं।

वास्तवमें, तुम भली-भांति जानते हो, लेकिन वह यह नहीं है (माताजी अपने शरीरकी ओर इशारा करती हैं); वह यहां नहीं है, लेकिन है सुपरिचित!

मालूम नहीं क्यों, यह मुझे एक चित्रकारकी याद कराता है।

तुम ठीक नहीं जानते, यह पुरुष है या स्त्री? तुम्हें ठीक नहीं मालूम।

मैंने अपने-आपसे पूछा कि यह कोई ऐसी सत्ता तो नहीं जो धरतीके भौतिक जगत्से भिन्न कहीं रहती हो? क्योंकि यह . . . मैं जानती हूं, परंतु शारीरिक संवेदनकी घनिष्ठताके द्वारा नहीं; हां, यह कोई ऐसा व्यक्ति है जिसे मैं भली-भांति जानती हूं, जिसे मैंने प्रायः देखा है।

मुझे लगता है कि कोई ऐसा व्यक्ति है जिसे मैं पहले भी देख चुका हूं।

हां, लेकिन मुझे पता नहीं कि तुमने इसे इसी जगत्में देखा है। (एक और शिष्यकी ओर मुड़ते हुए) तुम नहीं जानते इस व्यक्तिको?

यह वही माताजी नहीं हैं!

हां... शायद यह एक चित्र है, शायद तुम ठीक हो। लेकिन कौन-सा? मैं नहीं जानती।

कोई ऐसा व्यक्ति जो मेरे लिये बहुत परिचित है, लेकिन...। अगर मुझसे कहा जाय कि यह कोई ऐतिहासिक व्यक्ति है तो मुझे आश्चर्य न होगा।

यह बहुत अजीब है। यह ज्यादा-ज्यादा ऐसा ही होता है। जैसे-जैसे शरीर आंतरिक लयको पकड़ता जाता है, यह चीज बढ़ती जाती है।

यह भौतिक नहीं हो सकता।

यह क्या है? एक दिन हमें पता लगेगा...

यह बहुत परिचित है।

हां, पर मुझे लगता है कि कोई ऐसा व्यक्ति है जिसे मैं बहुत घनिष्ठताके साथ जानती हूं, जिसके साथ मैं शायद रह भी चुकी हूं, पर यह मैं नहीं, समझे समझे? यानी, शरीर कहता है: "यह मैं नहीं हूं।" अंदर बिलकुल भिन्न है: यहां मैं-तुम है ही नहीं। इस सबका अस्तित्व ही नहीं है; लेकिन शरीर, इसमें अभी यह सब है। वह कहता है: "यह मैं नहीं हूं। यह कोई ऐसा व्यक्ति है जिसे मैं भली-भांति जानता हूं, अच्छी तरह जानता हूं, लेकिन यह मैं नहीं हूं।"

छज्जेपर ऐसा क्यों होता है?[1]

दो बातें हो सकती हैं। शायद मूल चेतनाने किसी पिछले जन्ममें अपने-आपको दोहरा कर लिया था (यह कई बार हो चुका है), और एक ही समय दो अलग-अलग शरीरोंमें प्रकट हुई है; और इस तरह स्वाभाविक ही एक घनिष्ठता आ गयी, संभवतः जीवनमें अंतर्मिश्रण भी हो गया — यह एक भौतिक घटना हो सकती है। लेकिन यह भी हो सकता है कि

---

[1] माताजी छज्जेपर खड़ी होकर दर्शन दिया करती थीं।

कोई कहींपर एक स्थायी रूपमें रहता है और उस जगत्में हमारा उसके साथ लगभग स्थायी संपर्क है (अधिमानस, अतिमानस या कोई और जगह), और इसका संवेदन अंदर है: "हां, मैं जानती हूं। इन दोनोंमेंसे कोई एक बात हो सकती है। अभीतक मुझे नहीं मालूम कि कौन-सी।"

(कुछ देर मौन रहकर) यह ठीक-ठीक आकारकी जगह चेहरेका भाव, एक प्रकारका स्पंदन, एक वातावरण है। हां, कोई कहींपर स्थायी रूपसे निवास करता होगा जिसके साथ हमारा संपर्क है।

और इससे यह बात भी समझमें आती है कि हमें यह पता नहीं लगता कि वह स्त्री है या पुरुष: शायद यह अलैंगिक जगत्की सत्ता है जहां न पुरुष होता है न स्त्री।

(मौन)

स्वयं शरीरको संवेदनसे कुछ अधिक... एक प्रकारका ज्ञान — बल्कि ज्ञानसे भी बढ़कर, यह एक तथ्य है: ऐसी बहुतेरी, बहुत-सी सत्ताएं हैं, शक्तियां हैं, व्यक्तित्व हैं जो अपने-आपको इसके द्वारा अभिव्यक्त करते हैं। कभी-कभी तो एक ही समयपर कई-कई। हम जानते हैं कि यह एक बहुत ही सामान्य-सी अनुभूति है, उदाहरणके लिये, श्रीअरविंद होते हैं। वे बोलते और देखते हैं। उनका देखनेका अपना तरीका है और अपने-आपको व्यक्त करनेका अपना ही तरीका है। यह बहुधा होता है। और फिर, बहुत बार दुर्गा या महाकाली या... बहुत बार। प्रायः कोई सत्ता बहुत ऊंचाईसे, बहुत स्थायी — बहुत स्थायी — अपने-आपको प्रकट करती है और फिर कभी-कभी सत्तामें एक प्रकारका निरपेक्ष आ जाता है। कभी-कभी उसके निकटस्थ लोककी सत्ताएं अपनी अनुभूति करवाती हैं, वे अपने-आपको व्यक्त करती हैं, लेकिन वह चीज नियंत्रणमें रहती है।

शरीरको इसका अभ्यास है।

और अजीब बात तो यह है कि इस बार २४ नवंबरको जब मैं छज्जे-पर गयी, तो कोई... (और यह समय-समयपर हुआ करता है और अब ज्यादा-ज्यादा होता है) कोई मानों शाश्वतके लोकसे देखता है, बहुत ही हितैषिताके साथ, उसमें (मुझे मालूम नहीं कैसे कहा जाय, हितैषिताके जैसी कोई चीज), लेकिन पूर्ण शांत-स्थिरताके साथ जो लगभग उदासीनता जैसी है और दोनों मिलकर ऐसे देख रही हैं (माताजी बहुत नीचे लहरें-सी बनती हैं), मानों उसे बहुत दूरसे, बहुत ऊंचाईसे देखा जा रहा है, बहुत... कैसे कहूं? एक बिलकुल ही आंतरिक दृष्टिसे देखा जा रहा

है। जब मैं छज्जेपर बाहर आयी तो मेरा शरीर इसका अनुभव कर रहा था। शरीर कह रहा था: "मुझे अभीप्सा करनी चाहिये, अभीप्सा होनी चाहिये, ताकि शक्ति इन सब लोगोंपर उतर सके।" और वह यूं था (ऊपरकी ओर तेजीसे उठता हुआ संकेत)। ओह! बहुत ही हितैषी, पर एक प्रकारकी उदासीनताके साथ — शाश्वतताकी उदासीनता, मुझे नहीं मालूम कि इसे कैसे कहा जाय। और इस सारेको शरीर इस तरह अनुभव करता है मानों कोई उसका उपयोग कर रहा है।

इसीलिये मुझे इन चित्रोंमें रस है, इनसे चीज वस्तुनिष्ठ हो जाती है। हमें पता लगेगा।

३० दिसंबर, १९६७

यह एक मजेदार अनुभव है: कैसे वही क्रियाएं, वही कार्य, वही अवलोकन, दूर और नजदीकके वातावरणके साथ वही संबंध मनमें बुद्धिके द्वारा और चेतनामें अनुभूतिके द्वारा आते हैं। शरीर अब बुद्धिके मानसिक शासनके स्थानपर चेतनाके आध्यात्मिक शासनको लाना सीख रहा है। (यह यूं तो कुछ नहीं दीखता, शायद तुम्हारा ध्यान भी न जाय) इससे बहुत बड़ा फर्क पड़ता है, यहांतक कि इससे शरीरकी संभावनाएं सौगुनी हो जाती हैं...। जब शरीर नियमोंके आधीन होता है, वे चाहे विस्तृत हों, और चाहे वे व्यापक क्यों न हों, वह इन नियमोंका दास रहता है और उसकी संभावनाएं इन नियमोंमें सीमित रहती हैं। लेकिन जब उसपर 'आत्मा' और 'चेतना' का राज होता है तो उसमें अतुलनीय संभावना और नम्यता आ जाती है और यही चीज उसे दीर्घायुष्य करनेकी, जीवनकी अवधि बढ़ानेकी क्षमता देगी: इसका अर्थ है मनके बौद्धिक प्रशासनकी जगह 'आत्मा' के, 'चेतना' के प्रशासनको, 'चेतना'को बिठाना। बाहरसे इसमें कोई विशेष फर्क नहीं दिखायी देता, लेकिन ... मेरा अनुभव है (क्योंकि अब मेरा शरीर बुद्धिका या मानसका कहा नहीं मानता — एकदम नहीं — उसकी समझमें नहीं आता कि यह कैसे हो सकता है), वह अधिकाधिक और ज्यादा-से-ज्यादा अच्छे रूपमें दिव्य चेतनाके पथ-प्रदर्शन, उसकी प्रेरणाका अनुसरण करता है। और तब वह देखता है, प्रायः हर क्षण देखता है कि इससे कितना बड़ा फर्क पड़ा है...। उदाहरणके

लिये समय अपना मूल्य, निश्चित मूल्य खो बैठा है, ठीक वही चीज कम समयमें या अधिक समयमें की जा सकती है। आवश्यकताएं भी अपना अधिकार खो बैठी हैं। व्यक्ति अपने-आपको इस या उसके अनुकूल बना सकता है। हम कह सकते हैं कि समस्त विधान, प्रकृतिके समस्त विधान अपना एकाधिकार खो चुके हैं। अब चीज पहले जैसी नहीं है। इतना काफी है कि वह हमेशा, हमेशा लचीला, जाग्रत् और . . . (अगर उसका अस्तित्व है) दिव्य चेतनाके प्रभावके प्रति संवेदनशील हो — सर्वशक्तिमान चेतनाके प्रति — ताकि असामान्य नमनीयताके साथ सबमेंसे गुजर सके।

यह खोज अधिकाधिक की जा रही है।

यह अद्भुत है, है न, अद्भुत खोज है।

यह सभी अनिवार्यताओंपर उत्तरोत्तर विजय है। इस प्रकार स्वभावतः प्रकृतिके सभी विधान, सभी मानव विधान, सभी आदतें, सभी नियम, सभी लचीले होना शुरू करते हैं और अंतमें गायब हो जाते हैं। फिर भी, व्यक्ति एक ऐसी लय रख सकता है जो क्रियाको सरल बना दे — वह लचीलेपनके विरुद्ध नहीं होती। कार्यान्वियनमें, अनुकूलनमें जो लचीलापन आता है वह सब कुछ बदल देता है। स्वस्थ वृत्तकी दृष्टिसे, स्वास्थ्यकी दृष्टिसे, संगठनकी दृष्टिसे, औरोंके साथ संबंधकी दृष्टिसे इन सबकी आक्रमणशीलता चली गयी है (स्वस्थ चित्त होना ही काफी है, चित्त संतुलित और शांत होनेसे ही इन सबकी आक्रमणशीलता चली जाती है), बल्कि साथ ही निरंकुशता, अनिवार्यताका शासन, आदि सब-के-सब चले गये हैं।

तो हम देखते हैं : जैसे-जैसे प्रक्रिया अधिकाधिक पूर्ण होती जाती है — पूर्णका मतलब है समग्र, समूचा, जिसमें कुछ भी पीछे छूट न जाय — यह निश्चित और अनिवार्य रूपसे मृत्युपर विजय होती है। इसका यह मतलब नहीं है कि कोषाणुओंका विलयन, जो मृत्युका प्रतीक होता है, नहीं रहता। लेकिन वह तभी रहेगा जब वह जरूरी हो, एक निरपेक्ष नियमके रूपमें नहीं, जब जरूरी हो तो एक प्रक्रियाके रूपमें।

और सबसे बढ़कर यह : 'मन' जिन चीजोंको कठोर, निरंकुश और लगभग अपराजेय रूपमें लाया है . . . वे सब गायब हो जायंगी। और यह सब सिर्फ परम शक्तिको परम चेतनाके सुपुर्द कर देनेसे हो जायगा।

शायद जब प्राचीन द्रष्टा प्रकृतिकी शक्ति पुरुषके अर्पण करनेकी, उसे प्रकृतिसे पुरुषमें स्थानान्तरित करनेकी बात कहते थे तो शायद यही मतलब होता था। शायद वे इसी बातको यूं कहते थे।

१३ मार्च, १९६८

१९५३ की एक पुरानी वार्ताके बारेमें जिसमें माताजीसे किसी शिष्यने पूछा था कि "क्या भगवान् अपने-आपको हमसे अलग खींच सकते हैं", माताजीने उत्तर दिया था :

> **"यह असंभव है, क्योंकि अगर भगवान् अपने-आपको किसी चीजसे अलग कर लें तो वह तुरंत समाप्त हो जायेगी, क्योंकि उसका अस्तित्व ही न रहेगा। ज्यादा स्पष्ट कहें तो : भगवान् ही एकमात्र सत्ता हैं।"**
>
> (मई २७, १९५३)

अब मैं यह जवाब देती : यह तो ऐसा है जैसे तुम मुझसे पूछो कि क्या भगवान् अपने-आपको अपनेसे खींच सकते हैं! (माताजी हंसती हैं) मुश्किल तो यही है जब हम "भगवान्"की बात करते हैं तो लोग "देव" समझ लेते हैं...। **केवल** 'वही' है : केवल 'उसी' का अस्तित्व है। वह क्या है ? बस, 'उसी'का अस्तित्व है !

(मौन)

आज सवेरे ही की बात है, मैं अवलोकन कर रही थी, मैं देख रही थी और मानों भगवान्से कह रही थी : "तुम अपना ही निषेध करनेमें क्यों मजा लेते हो ?" है न, तर्कसंगत तृप्तिके लिये हम कहते हैं : वह सब जो अंधकारमय है, वह सब जो कुरूप है, वह सब जो जीवित नहीं है, वह सब जो सामंजस्यपूर्ण नहीं है, वह भगवान् नहीं है — लेकिन यह संभव ही कैसे है ?... यह केवल क्रियाके लिये एक मनोवृत्ति है। तब अपने-आपको क्रियाकी वृत्तिमें रखकर मैंने पूछा : "तो इस तरहका होनेमें ही क्यों मजा लेते हो ?" (माताजी हंसती हैं)।

यह कोषाणुओंका बहुत ठोस अनुभव था और इस भावनाके साथ (भावना नहीं, भावना या संवेदन नहीं), एक प्रकारका प्रत्यक्ष दर्शन था कि तुम ठीक, उस महान् रहस्यकी ठीक सीमापर हो... और अचानक कोषाणुओंके एक समूह-विशेषने या शारीरिक क्रिया-विशेषसे संबद्ध कोषा-

णुओंने अपने-आपको आड़े डालनेकी ठानी। क्यों? इसका क्या अर्थ है? और उत्तर था ... यह ऐसा था मानों वह सब सीमा तोड़नेमें सहायता दे रहा था।

लेकिन क्यों? कैसे?...

तुम मनसे हर चीजकी व्याख्या कर सकते हो, लेकिन उसका कोई अर्थ नहीं होता : शरीरके लिये, द्रव्यात्मक चेतनाके लिये वह एक अमूर्त चीज होती है। जब द्रव्यात्मक चेतना किसी चीजको पकड़ लेती है तो वह चीजको मनसे जाननेकी अपेक्षा **सैकड़ों गुना ज्यादा अच्छी तरह** जानती है। और जब वह जानती है तो उसमें शक्ति होती है : जाननेसे शक्ति आती है। और वह धीरे-धीरे, धीरे-धीरे अपना विस्तार करती है। और अज्ञानमय चेतनाके लिये : धीरे-धीरे, कष्टके साथ। लेकिन सत्य चेतनाके लिये बात ऐसी नहीं होती; पीड़ा और हर्ष, यह सब, चीजोंको देखने... चीजोंको देखने, उन्हें अनुभव करनेका एक बड़ा बेतुका तरीका है।

एक अधिकाधिक मूर्त्त प्रत्यक्ष दर्शन है कि ऐसी कोई चीज नहीं है जिसमें सत्ताका आनन्द न हो क्योंकि यही सत्ताका **तरीका** है : सत्ताके आनन्दके बिना सत्ता नहीं होती। लेकिन मनुष्य मानसिक रूपसे जिसे सत्ताका आनन्द समझते हैं यह वह नहीं है। यह ऐसी चीज है... जिसे कहना कठिन है। और पीड़ा और हर्षका यह अनुभव, प्रायः शुभ और अशुभका अनुभव, यह सब, कार्यकी आवश्यकताएं हैं जिनसे निश्चेतनाकी समष्टिमें काम हो सके। क्योंकि सत्य चेतना एक बिलकुल ही भिन्न, एकदम भिन्न वस्तु है। इन कोषाणुओंकी चेतना अब ठोस अनुभवके द्वारा यही सीख रही है और ये सब मूल्यांकन कि क्या अच्छा है और क्या बुरा, कष्ट क्या है और आनन्द क्या, ये सब धुंएं जैसे मालूम होते हैं। लेकिन अभीतक 'वस्तु' — 'सत्य', 'मूर्त ठोस वस्तु' पकड़में नहीं आयी। वह रास्तेमें है, ऐसा लगता है कि वह रास्तेमें है लेकिन अभीतक आयी नहीं। अगर वह होती तो ... व्यक्ति सर्वशक्तिमान प्रभु बन जाता। और यह संभव है कि वह तभी प्राप्त हो सकती है जब समस्त संसार या उसका काफी बड़ा भाग रूपांतरके लिये तैयार हो।

यह एक अनुमान है, तुम इसे आन्तरिक प्रेरणा कह सकते हो, लेकिन यह अभीतक उच्चतर क्षेत्रकी चीज है।

समय-समयपर मानों सर्वशक्तिमत्ताका ठीक स्पर्श-सा होता है : व्यक्ति ठीक बिन्दुपर होता है, आह! (माताजी वस्तुको पकड़नेकी मुद्रा करती हैं)... लेकिन वह निकल जाती है।

व्यक्तिको यह प्राप्त हो जानेपर संसार बदलने योग्य हो जायगा।

जब मैं व्यक्ति कहती हूं तो मेरा मतलब किसी व्यक्ति विशेषसे नहीं होता . . . यह शायद 'पुरुष'का पर्याय है, लेकिन . . . उसके बारेमें भी मुझे विश्वास नहीं है कि यह हमसे परेकी किसी चीजपर हमारी चेतनाका कोई प्रक्षेपण तो नहीं है।

श्रीअरविंद हमेशा कहा करते थे कि अगर हम काफी दूर निकल जायं निर्गुणके परे, अगर हम और भी आगे जायं तो कोई ऐसी चीज पायंगे जिसे हम 'पुरुष' कह सकते हैं, परन्तु वह उस पुरुषके साथ जरा भी मेल नहीं खाती जिसकी हम कल्पना कर सकते हैं।

तो फिर केवल एक ही तत् है, और उस तत्में ही शक्ति है, लेकिन जब हम कहते हैं: "केवल तत् है," (हंसते हुए) तो हम उसे किसी और चीजमें बिठा देते हैं . . . ! शब्द, भाषाएं किसी ऐसी चीजको व्यक्त करनेमें असमर्थ हैं जो चेतनाके परे है। जैसे ही तुम सूत्र बनाते हो वह नीचे उतर आती है।

१६ मार्च, १९६८

सारे समय तुम्हें ऐसा लगता है —– सारे समय —– कि तुम किसी महान् शोधके मार्गपर हो और तब तुम शोध करते हो और तुम्हें पता लगता है कि यह तो हमेशा ही थी ! . . . तुम बस उसे किसी और तरीकेसे देख रहे हो।

आज सवेरे एक अनुभूति हुई। ऐसा लगा मानो कोई असामान्य अन्तः-प्रकाश था। . . . परंतु यह ऐसी चीज थी जो हमेशा ज्ञात रही है। अब तुम उसे मानसिक रूप देते हो; मानसिक रूप देते ही वह स्पष्ट हो जाती है, लेकिन वह वही चीज नहीं रहती जो पहले थी। हां, हम कह सकते हैं कि यह सृष्टि "संतुलनकी सृष्टि"[1] है, और यह केवल एक मानसिक भूल

---

[1]यहां हम माताजीकी एक पहलेकी टिप्पणीको याद कर सकते हैं:

"परंपराओंके अनुसार सृष्टि पैदा होती है और फिर उसका लय हो जाता है, और फिर एक नयी सृष्टि होती है। हमारी सृष्टि सातवीं है और सातवीं होनेके कारण यह प्रलयमें न लौटेगी, बल्कि सदा आगे बढ़ती रहेगी, कभी पीछे न हटेगी।"

(श्रीमातृवाणी, खण्ड ४, प्रश्न और उत्तर १९५०-५१, पृ० ३३६)

है जो एक चीजको चुनना और दूसरीको त्यागना चाहती है। सभी चीजोंको एक साथ रहना चाहिये : जिसे तुम शुभ कहते हो और जिसे तुम अशुभ कहते हो, जिसे तुम उचित कहते हो और जिसे अनुचित कहते हो, जो तुम्हें मनोहर लगता है और जो तुम्हें अप्रिय लगता है उस सबको एक साथ होना चाहिये। और आज सवेरे 'पार्थक्य'की शोध थी। वह 'पार्थक्य' जिसका नाना प्रकारसे अलग-अलग तरह वर्णन किया गया है, कभी कहानीकी तरह, कभी शुद्ध निरपेक्ष रूपमें, कभी दार्शनिक रूपमें और कभी ...ये सब केवल व्याख्याएं हैं। लेकिन कुछ चीज है जो संभवतः केवल 'वस्तुनिष्ठ' बनाना है (माताजी अव्यक्तमेंसे सृष्टिको बाहर निकालनेकी मुद्रा करती हैं), लेकिन यह भी समझानेका एक तरीका है। यह तथाकथित 'पार्थक्य', आखिर सचमुच है क्या? पता नहीं, या शायद कोई जानता है, मैं नहीं जानती। यह ठीक वही है जिसने (हम इसे रंगकी भाषामें कहें तो) काले और सफेद, दिन और रातकी रचना की (यह तो पहले ही मिश्रित वस्तु है, लेकिन काला-सफेद, भी तो मिश्रित हैं)। साधारण वृत्ति है दो ध्रुव बनानेकी : प्रिय वस्तु, शुभ वस्तु और अप्रिय वस्तु, अशुभ वस्तु। लेकिन जैसे ही तुम 'आदि स्रोत'की ओर मुड़नेकी कोशिश करते हो, दोनों आपसमें मिलने लग जाते हैं। हम जिस प्रख्यात विजयको पानेकी कोशिश कर रहे हैं वह पूर्ण सन्तुलनमें है जहां कोई विभाजन संभव ही नहीं रहता, जहां एक दूसरेको प्रभावित नहीं करता, जहां दो मिलकर एक ही बनते हैं। और यह है वह प्रख्यात पूर्णता जिसे हम फिरसे पानेकी कोशिश करते हैं।

एकको स्वीकारना और दूसरेको त्यागना बचकानी बात है। यह अज्ञान है। और सभी मानसिक अनुवाद, जैसे यह मानना कि एक "अशुभ" है जो सर्वदा अशुभ रहेगा — जिससे नरकका विचार आया; और ऐसा 'शुभ' जो सदा-सर्वदा शुभ रहेगा...ये सब-की-सब बचकानी बातें हैं।

(मौन)

हो सकता है (हो सकता है, क्योंकि जैसे ही तुम रूप देने लगते हो, तुम चीजको मानसिक बना देते हो और जैसे ही मानसिक बनाते हो, वह घट जाती है, न्यून और सीमित हो जाती है और सत्यकी शक्ति खो बैठती है, और अन्तमें...) इस विश्वमें, जैसा कि यह बना हुआ है, पूर्णता... (माताजी काफी देरतक अन्तर्लीन रहती हैं) शब्द काम नहीं देते। यूं कहा जा सकता है, है तो शुष्क और निर्जीव : समग्रकी एकताकी चेतना

व्यक्तिमें अनुभव होती, जीवनमें लायी जाती और सिद्ध की जाती है। लेकिन यह सब कुछ नहीं है, ये शब्द-ही-शब्द हैं और कुछ नहीं...। ऐसा लगता है कि विश्व इसीलिये बनाया गया था कि वह समग्रकी इस सजीव (केवल दृश्य ही नहीं बल्कि जी हुई), चेतनाकी इस पहेलीको हर भागमें, समग्रकी रचना करनेवाले प्रत्येक तत्त्वमें उपलब्ध किया जा सके।

जब इन तत्त्वोंके निर्माणकी बात आती है, यह 'पृथक्ता'से शुरू हुआ और 'पृथक्ता'ने ही उन चीजोंको जन्म दिया जिन्हें हम शुभ और अशुभ कहते हैं; लेकिन संवेदनकी दृष्टिसे — सबसे अधिक द्रव्यात्मक भागमें संवेदन — हम कह सकते हैं कि यह पीड़ा और 'आनन्द' है। तो अब समस्त पार्थक्यको बंद करके प्रत्येक भागमें समग्र चेतनाको प्राप्त करनेकी ओर गति है (जो मानसिक दृष्टिसे वाहियात बात है, लेकिन यह है ऐसा ही)।

मेरी रुचिके लिये, यह बहुत ज्यादा दार्शनिक है, यह काफी ठोस नहीं है, लेकिन आज सवेरेकी अनुभूति ठोस थी, वह शरीरके अत्यंत ठोस संवेदनोंसे आयी थी — (आभासमें) इस नित्य द्वैतसे, एक विरोध (केवल विरोध नहीं, एकके द्वारा दूसरेके निषेधसे)...हम कष्ट और 'आनन्द'को प्रतीकके रूपमें ले सकते हैं। लेकिन सच्ची अवस्था तो वह है जिसे अभी तो शब्दोंमें उतारना असंभव मालूम होता है, लेकिन जिसे जिया और अनुभव किया जाता है, वह एक ऐसी समग्रता है जिसके अंदर सब कुछ आ जाता है, लेकिन एक-दूसरेसे संघर्षरत तत्त्वोंको अपने अंदर समानेकी जगह उसमें सबका समन्वय, सबका सन्तुलन है। और जब सृष्टिमें सन्तुलन चरितार्थ हो जायेगा तो यह सृष्टि... (अगर शब्द कहे जायं तो फिर वह चीज नहीं रहती) हम कह सकते हैं: बिना रोकके प्रगति करती रह सकेगी। ऐसा नहीं है।

इन दिनों वर्तमान अपूर्ण चेतनामें एक स्थिति बार-बार देखी गयी (लेकिन वह सब समग्रके द्वारा विधि पुरःसर रूपमें इस तरह संगठित जो हमारी कल्पनासे अनन्तगुना अधिक श्रेष्ठ है), ऐसी स्थिति जो सन्तुलनके भंग होनेसे यानी, रूपके विलीन होनेसे आती है, जिसे साधारणतः "मृत्यु" कहते हैं — इस स्थितिकी अन्तिम सीमातकका प्रदर्शन और साथ-ही-साथ वह स्थिति (प्रत्यक्ष दर्शन नहीं: स्थिति) जो सन्तुलन-भंगको रोकती और बिना भंग हुए लगातार प्रगतिको जारी रखती है। और यह शारीरिक चेतना में एक युगपत् अनुभव देती है — विलीन होनेकी यातनाका चरम अनुभव (यद्यपि यह ठीक वह चीज नहीं है, फिर भी), और ऐक्यका चरम आनन्द — दोनों एक साथ, युगपत्।

अगर साधारण शब्दोंमें कहा जाय: रूपकी चरम भंगुरता — भंगुरतासे भी बढ़कर — और रूपकी नित्यता।

और यह केवल ऐक्य नहीं, संयोजन (घुल-मिल जाना), दोनोंका एक हो जाना है, और यही सत्य है।

जब इसे मानसिक रूप दिया जाय तो यह हर एकके लिये स्पष्ट हो जाता है — परंतु अपनी तात्त्विक विशेषताको खो बैठता है जिसे मानसिक रूप नहीं दिया जा सकता।

क्या दोनों स्थितियोंकी चेतनाको युगपत् होना चाहिये ?

. . . . विभक्त नहीं। दोनों स्थितियोंका ऐक्य ही सच्ची चेतनाको बनाता है, दोनोंका ऐक्य — "ऐक्य" में फिर भी विभाजन रहता है — दोनोंका तादात्म्य ही सच्ची चेतना बनाता है और तब व्यक्तिको ऐसी अनुभूति होती है कि यह चेतना ही परम शक्ति है। शक्ति विरोधों और निषेधोंके द्वारा सीमित रहती है, है न : सबसे अधिक शक्तिशाली शक्ति वह है जो सबसे अधिकपर शासन करती है या छायी रहती है; लेकिन यह पूरी तरह अपूर्णता है। फिर भी एक सर्वशक्तिमान् शक्ति है जो इन दोनोंके संयोगसे बनती है। वह निरपेक्ष शक्ति है। और अगर वह भौतिक रूपमें उपलब्ध हो सके . . . तो संभवतः वह समस्याका अंत होगा।

वास्तवमें, आज सवेरे कुछ घंटोंके लिये जब मैं उस अवस्थामें रही तो ऐसा लगता था कि हर चीजपर अधिकार हो गया है, हर चीज समझ ली गयी है,— यहां "समझना" उस बोध या परिज्ञानके अर्थमें है जो निरपेक्ष शक्ति है। लेकिन स्वभावतः, यह नहीं कहा जा सकता।

शायद लोगोंको इसका अनुभव या अनुभवका स्पर्श मिला होगा जिसे उन्होंने इन शब्दोंमें रखा कि यह जगत् संतुलनका जगत् है; यानी, यह ऐसी युगपत्ता है जिसमें समस्त विरोधोंका विभाजन नहीं है। जैसे ही जरा-सी भिन्नता आती है — भिन्नता भी नहीं, जरा-सा अंतर आता है — कि विभाजनका आरंभ हो जाता है। और जो कुछ वह स्थिति नहीं है वह शाश्वत नहीं हो सकता; वही स्थिति है जो . . . न केवल शाश्वतताको समाये रहती है, बल्कि (या क्या ?) उसे प्रकट भी करती है।

बहुत प्रकारके दर्शनोंने इसे समझानेकी कोशिश की है, फिर भी वह हवामें है, वह मानसिक है, अनुमानपर आधारित है। लेकिन वह जिया जाता है — "जिया जाता है", यहां जीनेका मतलब है "वही **होना**"।

क्या यह उस मानसिक प्रत्यक्ष दर्शनका भौतिक रूप है जिसमें

अशुभका बोध परम शुभके बोधमें अशुभके अंदर भी उसीके बोधमें गायब हो जाता है?

हां, यह वही है। यह कहा जा सकता है कि केवल मानसिक विचार रहनेकी जगह यह तथ्यकी ठोस उपलब्धि है।

प्रासंगीक (२२ अगस्त, १९६८)

माताजीकी लिखी हुई एक टिप्पणीके बारेमें जिसमें उन्होंने उस अग्नि-परीक्षाका जिक्र किया था जो उनके जीवनके लिये संकटकारी थी।

डाक्टरने सलाह दी है कि अपने-आपको मत थकाओ। कौन-सी चीज थकाती है? केवल वही जो व्यर्थ हो।

सच्चे निष्कपट लोगोंसे मिलना, जिन्हें इससे लाभ होता हो, कभी थकानेवाला नहीं होता।

लेकिन जो सिद्धांतों और व्यवहारोंकी नाप-तौल करनेके लिये आते हैं, जो अपनी बुद्धिके कारण समझते हैं कि वे बहुत श्रेष्ठ हैं और सत्य-असत्यमें विवेक करनेमें समर्थ हैं, जो यह मानते हैं कि वे यह फैसला कर सकते हैं कि अमुक शिक्षा सत्य है या मिथ्या, कि अमुक व्यवहार परम सद्वस्तुके साथ मेल खाता है या नहीं, वे वास्तवमें थकानेवाले होते हैं और कम-से-कम इतना तो कहना ही होगा कि उनसे मिलना बेकार होता है।

उच्चतर बुद्धिकी इन सत्ताओंको अपनी मरजी मुताबिक अपने रास्तेपर दौड़ लगाने दो, यह रास्ता हजारों वर्षतक चलेगा। सद्भावनावाले सरल लोगोंको, जो भागवत कृपापर विश्वास करते हैं, चुपचाप अपने प्रकाशके मार्गपर चलने दो।

२८ अगस्त, १९६८

वत्स, मजेदार बात थी। मैंने यह सब टिप्पणियां रखी हैं। हम इन्हें देखेंगे। यह अभी समाप्त नहीं हुआ है, यह समाप्त नहीं हुआ है। और पता नहीं कब समाप्त होगा।

कोई समाचार है?

> **जी नहीं, माताजी। मैंने १५ अगस्तसे पहले, ११ अगस्तके आस-पास रातको कुछ देखा था। मैंने सफेद झागकी एक विशाल-काय, बहुत बड़ी, लहर देखी, वह मकानसे भी बड़ी, बस विलक्षण; एक बहुत बड़ी, पूरी तरह काली नौका इस लहरद्वारा चलायी जा रही थी। लहर उसे धकेल रही थी। वह चट्टानोंपर लुढ़कती-सी लगती थी, पर उनके नीचे कुचली नहीं गयी। एक और भी नौका थी, बहुत छोटी, हल्के भूरे रंगकी। मुझे लगा कि वह बहुत ज्यादा तेज गतिसे जा रही थी। और झागकी यह विलक्षण लहर!**

वहां बहुत-सी चीजें हो रही हैं...। जानते हो, चेकोस्लोवाकियामें क्या हो रहा है?

गतिशील है।

एक काली नौका।

> **जी हां, एक बहुत बड़ी नौका और मजेदार बात तो यह है कि ऐसा लगता था कि वह काली चट्टानोंपर लुढ़क रही थी, परंतु कुचली नहीं गयी।**

मुझे विश्वास है कि गति शुरू हो गयी है...। वह ठोस, दृश्य, संगठित उपलब्धि बननेमें कितना समय लेगी? मालूम नहीं।

कुछ शुरू हुआ है...। ऐसा लगता है कि यह जातिका नया प्रवाह है, नयी सृष्टि या किसी सृष्टिका प्रवाह।

धरतीपर पुनर्व्यवस्था और एक नयी सृष्टि।

मेरे लिये चीजें बहुत तीव्र हो उठीं...। मेरे लिये एक शब्द बोलना भी असंभव हो गया, एक शब्द भी : जैसे ही मैंने बोलना शुरू किया

कि खांसी शुरू हो जाती थी, खांसी, खांसी। तब मैंने देखा कि यह निश्चय किया गया है कि मैं न बोलूं। मैं उसी तरह बनी रही और मैंने चक्रको चलने दिया। बादमें मैं समझ गयी। हम छोरपर नहीं हैं, बल्कि... (कैसे कहूं?) हम दूसरी ओर हैं।

एक समय था जब चीजें इतनी तीव्र थीं कि... साधारणतः मैं धीरज नहीं खोती, परंतु चीज एक ऐसी स्थितितक पहुंच गयी जहां हर चीज, हर एक चीज मानों मिटायी जा रही थी। न सिर्फ यह कि मैं बोल नहीं सकती थी, बल्कि सिर भी ऐसी स्थितिमें था जैसे मेरे सारे जीवनमें नहीं हुआ। सचमुच बहुत पीड़ा थी। मैं बिलकुल न देख पाती थी, मैं बिलकुल न सुन पाती थी। तब एक दिन (मैं अपनी अनुभूतियां बादमें सुनाऊंगी), एक दिन चीजें सचमुच... सब जगह पीड़ा, कष्ट; शरीरने कहा, उसने सचमुच एकदम सहजभावसे और बहुत शक्तिके साथ कहा: "मैं जिंदा रहनेके लिये तैयार हूं, और अगर मैं विलीन भी हो जाऊं तो भी मेरे लिये समान है, लेकिन अभी मैं जिस अवस्थामें हूं वह असंभव है। यह जारी नहीं रह सकती, जीवन हो या मरण, पर यह नहीं।" उस क्षणसे, वह कुछ अच्छा होने लगा। उसके बाद धीरे-धीरे, चीजें व्यवस्थित होने लगीं, अपने स्थानपर रखी जाने लगीं।

मैंने कुछ नोट लिख लिये। उनका कोई विशेष मूल्य नहीं है। मेरा ख्याल है शायद वे उपयोगी हों। (माताजी अपने पास रखी हुई मेजपर कागजोंके लिये नजर दौड़ाती हैं।) फिर भी, मैं नहीं देखती, मैं नहीं देखती, मैं केवल जानती हूं।

(२२ अगस्तका पहला नोट):

> **"कई घंटोंके लिये प्राकृतिक दृश्य अद्‌भुत था, उसमें पूर्ण सामंजस्य था।**
> **और बहुत समयतक विशाल मंदिरोंके आंतरिक दृश्य, जीवित-जाग्रत् देवोंके साथ दिखायी दिये। हर चीजका अपना कारण था, एक यथार्थ लक्ष्य था — चेतनाके स्तरोंको अभिव्यक्त करना परंतु मानसिक रूप दिये बिना।**
> **सतत अंतर्दर्शन।**
> **प्राकृतिक दृश्य।**
> **इमारतें।**
> **नगर।**

समस्त विशाल और विभिन्नतापूर्ण दृश्य सारे दृष्टि-क्षेत्रको ढके हुए था और शारीरिक चेतनाकी स्थितियोंको दिखा रहा था। बहुत-सी, बहुत-सी इमारतें, बनते हुए बड़े-बड़े नगर..."

हां, जगत्का निर्माण हो रहा है, भावी जगत्का निर्माण हो रहा है। मैं कुछ भी नहीं सुन रही थी, मैं कुछ भी नहीं देख रही थी, मैं कुछ भी नहीं बोल रही थी: मैं सारे समय वहां, अंदर निवास कर रही थी, सारे समय, सारे समय, रात-दिन। और फिर, जैसे ही मैं लिखने लायक हुई मैंने लिखा:

"सभी पद्धतियोंकी इमारतें, सबसे बढ़कर नयी, वर्णनातीत। ये देखे हुए चित्र नहीं हैं, ऐसे स्थान हैं जहां मैं हूं।"

हां, यही बात है। मैं समझाती हूं क्या हुआ। यहां एक और टिप्पणी है जो आरंभ है:

"प्राण और मनको घूमनेके लिये भेज दिया गया है ताकि भौतिक सचमुच अपने ही बलबूतेपर रहे।"

पूरी तरह अपने ऊपर,[1] अपने ऊपर। और तब मैंने जाना कि प्राण और मन हमें किस हदतक दिखलाते, सुनवाते और बुलवाते हैं। वह... मैं देख सकती थी, इस अर्थमें कि मैं हिल सकती थी, लेकिन वह बिलकुल धुंधला था। मैं पहलेसे भी कम सुन पाती थी, यानी, बहुत कम — कम — बस, बहुत ही कम, कभी-कभी पहलेकी तरह, कभी जरा-सी आवाज, बहुत दूर, जो दूसरे नहीं सुन पाते थे मैं सुन लेती थी; और जब वे बोलते थे तो मैं न सुन पाती थी: "तुम क्या कह रहे हो?" मुझे नहीं मालूम। और यह दिन-रात, लगातार चलता रहा।

---

[1] कुछ दिनोंके बाद माताजीने इसमें यह जोड़ दिया:

"प्राण और मन छोड़ गये हैं, परंतु चैत्यने बिलकुल नहीं छोड़ा। मध्यस्थ छोड़ गये हैं। उदाहरणके लिये, लोगोंके साथ संबंध (उन लोगों-के साथ संबंध जो यहां मौजूद हैं और उनके साथ भी जो यहां नहीं हैं), उनके साथ जैसा-का-वैसा बना है, बिलकुल वैसा ही, बल्कि पहलेसे भी ज्यादा निरंतर।"

एक रात (तुम्हें यह बतानेके लिये कि सब कुछ अस्तव्यस्त था), लेकिन एक रात, मुझे कुछ तकलीफ थी; कुछ हो गया था और मेरे बहुत सख्त दर्द हो रहा था और सोना असंभव था; मैं उसी अवस्थामें एकाग्र रही और रात पूरी हो गयी, मुझे लगा कि रात कुछ मिनटोंमें पूरी हो गयी। अन्य समय, दूसरे दिनोंपर, दूसरे क्षणोंमें मैं एकाग्र रही और बीच-बीचमें समय पूछ लेती थी; एक बार मुझे लगा कि मैं घंटों इस तरह रह चुकी हूं। मैंने पूछा : कितने बजे हैं ? सिर्फ पांच मिनट हुए थे . . .। तो हर चीज, मैं उल्टी-पुल्टी तो नहीं कह सकती, हर चीज भिन्न प्रकारकी थी, बहुत भिन्न।

२३ तारीखको . . . का जन्मदिन था। मैंने उसे बुलाया और वह बैठा हुआ था। अचानक ! हां, अचानक सिर सक्रिय हो उठा — "सिर" नहीं और न ही "विचार" (माताजी अपने अंदरसे गुजरनेवाली धाराओं और लहरोंका संकेत करती हैं) मालूम नहीं इसे कैसे समझाया जाय; वह विचार नहीं था, वह एक प्रकारके अंतर्दर्शन, प्रत्यक्ष दर्शन थे और तब मैंने उससे कुछ प्रश्न पूछे जिन्हें उसने लिख लिया। (माताजी एक टंकित प्रति देती हैं) उसने केवल मेरे प्रश्न लिखे थे अपने उत्तर नहीं।

माताजीने कहा . . .
२३ अगस्त, १९६८ तीसरे पहर
"क्या वे जानते हैं कि द्रव्य कैसे बना ? . . .

मुझे पता नहीं, भौतिकने संभवतः 'क' वातावरणके संपर्कसे ये प्रश्न किये थे (वह वैज्ञानिक है), शरीरमें यह जाननेके लिये रस पैदा हुआ कि यह सब कैसे पैदा हुआ। और . . . वहां था, मैं जानती थी कि वह उत्तर दे सकता है इसलिये मैंने प्रश्न किये।

"क्या वे जानते हैं कि द्रव्य कैसे पैदा हुआ ?
यह कहना कि यह धन ऊर्जा है, केवल प्रश्नको टालना है।
सच्चा प्रश्न है : परम प्रभुने अपने-आपको, द्रव्यके रूपमें कैसे प्रकट किया ? . . .

तुम देखते हो, ये विषय जो इतने महत्त्वपूर्ण, इतने विस्तृत, इतने उदात्त, इतने . . . माने जाते हैं। मैं उनके बारेमें एकदम बचकाने लहजेमें, बिलकुल साधारण शब्दोंमें बोलती हूं। (माताजी हंसती हैं)

"क्या वे जानते हैं कि 'धरती' कबसे है ?

जब तुम लाखों वर्षोंकी बात करते हो तो क्या तुम जानते हो कि इसका मतलब क्या है? ...

उनके पास घड़ियां नहीं थीं, यह तो तुम्हें मालूम होना चाहिये! शरीरने बच्चेकी सरलताके साथ पूछा: तुम लाखों-करोड़ों वर्षोंकी बात करते हो, तुमने उसे किस तरह नापा?

"क्या उन्हें विश्वास है कि हम जिसे एक वर्ष कहते हैं उसका हमेशा यही अर्थ था? ... उन दिनों मेरे अंदर कालके सामान्य विचारकी अवास्तविकताकी चेतना थी। कभी एक मिनट अनंत मालूम होता था और कभी घंटे-पर-घंटे बीत जाते; सारा दिन निकल जाता था और कुछ लगता ही नहीं था।

क्या वे कहते हैं कि एक आदि था?

(यहां 'क' माताजीको वह सिद्धांत बतलाते हैं जिसके अनुसार विश्व क्रमशः विस्तार और संकोचके कालोंमेंसे गुजरता है। ऐसा लगता है कि माताजी इससे खुश हुईं।)

हां, वे "प्रलय" हैं।

"हां, तो ये प्रश्न शरीर कर रहा है। मन कबका जा चुका है। परंतु शरीर, शरीरके कोषाणु, यूं कहें, प्राण और मनमेंसे गुजरे बिना सीधे सत्य सत्ताके साथ संपर्क जोड़ना चाहते हैं। यही हो रहा है।

इस कालमें मुझे दो-तीन बार ज्ञान प्राप्त हुआ था ...

ओह! मैंने ऐसे क्षण देखे हैं, दो-तीन बार, बिलकुल ही अद्‌भुत और अनोखे क्षण — उन्हें भाषामें लाना असंभव है, असंभव है।

"लेकिन जैसे ही तुम इस प्रकारकी अनुभूतिसे अवगत हो जाते हो ....

तुम्हें अनुभूति होती है और फिर तुम्हें पता लगता है कि तुम्हें अनुभूति हुई; और जैसे ही तुम्हें उसके होनेका पता लगता है कि वह धुंधली हो जाती है। कुछ चीज धुंधला जाती है।

हां, आगामी जातिमें मानसिक वस्तुनिष्ठताका सारा तथ्य ही गायब हो जायगा।

हां, ऐसा लगता तो है।

('क' की टिप्पणीमें आगे) : "जैसे ही तुम्हें इस तरहकी अनुभूतिके बारेमें मालूम होता है, जैसे ही वह स्मृतिमें अंकित होती है उसी समय वह पूर्णतया मिथ्या हो जाती है।

वैज्ञानिकोंके साथ मूलतः यही होता है। जैसे ही उन्हें जरा-सा ज्ञान प्राप्त होता है, उन्हें उसे सजाना संवारना पड़ता है ताकि उसे मानव चेतनाकी पहुंचमें ला सकें, मनके लिये बोधगम्य बना सकें।

(जरा ठहरकर माताजी एक और प्रश्न करती हैं :) क्या वे जानते हैं कि मनुष्यका अस्तित्व कबसे है?

मनुष्यको विकसित होनेमें जितना समय लगा, अतिमानवको प्रकट होनेमें उससे कम समय लगेगा। लेकिन यह कोई तात्कालिक चीज नहीं है...

वत्स, उस दिन, २३ तारीखको, मैं अभी... मैं अभी लुगदीके जैसी ही थी! मैंने अपने-आपसे कहा : इस लुगदी जैसी स्थितिमेंसे निकलकर उपयोगी व्यक्ति, ऐसा जो है और कार्य करता है, बननेमें बहुत समय लगेगा। उससे भी मैंने यही कहा।

लेकिन उस टिप्पणीके अंतमें आप कहती हैं :
"हम जो कुछ कर सकते थे, कर चुके होंगे।"

हां, यह मैंने उसे सांत्वना देनेके लिये कहा था!

तो, उसी रात, क्या हुआ देखो (माताजी अपने हाथसे लिखा हुआ एक कागज पकड़ाती हैं) :

रात, २६ और २७

"शरीरमें सब जगह, एक साथ अतिमानसिक शक्तिका सशक्त और लंबे समयतक प्रवेश..."

शरीरके अंदर प्रवेश। हां, धाराका शरीरमें प्रवेश। यह कई अवसरों-

पर हो चुका था, पर उस रात (यानी परसों रात), यह अचानक हुआ मानों **बस** एक अतिमानसिक वातावरण ही हो, उसके सिवाय कुछ नहीं। और मेरा शरीर उसमें था। वह अंदर प्रवेश करनेके लिये एक ही समयपर सब जगह, सब जगह, सब जगह दबाव डाल रहा था — सब जगह। तो यह कोई प्रवेश करनेवाली धारा नहीं थी : यह तो वातावरण था जो हर जगहसे उंडेला जा रहा था। यह कम-से-कम तीन-चार घंटेतक चलता रहा। केवल एक ही भाग था जिसमें उसने **मुश्किलसे** प्रवेश किया था, यहांसे यहांतक (गले और सिरके ऊपरी भागके बीच) : वहां भूरा-सा और निस्तेज दीख रहा था, मानों धारा वहांपर कम प्रवेश कर रही थी...। लेकिन उसके सिवा, बाकी सब, सब ... वह प्रवेश करता गया, करता गया, करता गया...! मैंने ऐसी चीज कभी नहीं देखी थी, कभी नहीं! यह घंटों रही — घंटों, पूरी तरह सचेतन रूपमें।

तो जिस समय यह चीज आयी और जितने समय रही, उस सारे समय मैं सचेतन रही : "ओह! इसके लिये था, इसके लिये था; यह था, तो यह था जो 'तुम' मुझसे चाहते थे। हे प्रभो, इसके लिये, इसके लिये तुम यह चाहते थे।" उस समय मुझे ऐसा लगता था कि **कुछ** होनेको है।

मैं उस रात इस चीजके लौटनेकी आशा कर रही थी, पर कुछ हुआ नहीं।

वह पहली बार था। घंटोंके लिये। उसके सिवा और कुछ भी न था। और यह (शरीर), यह सोखनेवाले स्पंजकी तरह था।

केवल सिर, यह अभीतक भूरा, निस्तेज है — भूरा और निस्तेज। फिर भी, पिछले कुछ महीनोंमें शरीरको जो कुछ हुआ है उस सबका स्पष्ट अंतर्दर्शन था, और ... लगभग एक आशा थी। प्रायः एक आशा थी, मानों कोई मुझसे कह रहा था कि कुछ हो सकता है। बस इतना ही।

और यह मानों शरीरने जो कहा उसका उत्तर था (शायद दो-तीन दिन पहले), वही, जो मैंने शुरूमें तुमसे कहा था : कि यह शरीर पूरी तरहसे विघटित हो जानेके लिये तैयार था (यह पूर्ण समर्पण था), और वह जीते रहनेके लिये भी पूरी तरह तैयार था, चाहे परिस्थितियां कैसी भी क्यों न हों — परंतु उस अवस्थामें नहीं, उस अपघटनकी अवस्थामें नहीं। तो उसका दो दिनतक कोई उत्तर न मिला और उसके बाद आया यह 'प्रवेश', यानी, दूसरे ही दिनसे मुझे कुछ अच्छा लगने लगा, मैंने ... मैं खड़ी भी न रह सकती थी! मेरे अन्दर संतुलनका भाव न था। किसीको मुझे

पकड़ना पड़ता था ! मैंने संतुलन भाव खो दिया, मैं एक कदम न रख सकती थी। इसपर मैंने विरोध किया था और अगले दिन सवेरेसे ही, वह वापिस आने लगा।

तब आयी २३ अगस्त। मैं 'क'से मिली। मैंने देखा कि जब वह उपस्थित था तब शरीरको काफी रस था; यह मन या प्राण न था : वे जा चुके थे। मालूम नहीं, तुम मेरे मतलबको पकड़ पा रहे हो या नहीं।

जी हां, यह विलक्षण है।

बिना मनका, बिना प्राणका शरीर। जब 'क' आया तो यही अवस्था थी। केवल ये प्रत्यक्ष दर्शन थे (नगर, इमारतें, मन्दिर), वह अन्तरात्माकी अवस्थाओंमें जीता था : औरोंकी आन्तरात्मिक अवस्थाएं भी थीं। धरतीकी आन्तरात्मिक अवस्थाएं, आन्तरात्मिक अवस्था...। ये आन्तरात्मिक अवस्थाएं बिंबोंमें अनूदित होती थीं। यह मजेदार था। मैं यह नहीं कह सकती कि यह मजेदार न था। यह मजेदार था; पर भौतिक जीवनके साथ कोई संपर्क न था, बहुत ही कम था : मैं मुश्किलसे कुछ खा पाती थी, मैं चल नहीं पाती थी... लेकिन यह कुछ ऐसी चीज थी जिसके साथ अपने-आपको व्यस्त रखना जरूरी था।

और तब 'क' के संपर्कसे शरीरने इन सब बातोंमें रस लेना शुरू किया, सहज रूपसे प्रश्न करने शुरू किये, उसे पता न था कि क्यों। वह पूछता जाता था, पूछता जाता था : "हां, तो व्यक्ति इस तरह बना है...।" तब उसे मजा आने लगा।

इसमें कुछ समय लगेगा।

परसों जब यह 'प्रवेश' आया तो मैंने अपने-आपसे कहा : "आह !" मैंने आशा की थी कि चक्र तेज चलेगा और शरीर जल्दी ही निकल आयेगा, पर आजकी रात, कुछ भी नहीं हुआ। इसीलिये मैं कहती हूं कि इसमें कुछ और समय लगेगा।

लेकिन अजीब बात है, आपकी २६-२७ की टिप्पणीमें यह भी लिखा है :

"मानों सारा शरीर उन शक्तियोंमें नहा गया जो जरा-सी रगड़के साथ हर जगह एक ही समयमें प्रवेश कर रही थीं..."

और फिर आप कहती हैं :

> **"सिरसे नीचे गरदनतकका हिस्सा सबसे कम ग्रहणशील था।"
> यह अजीब बात है कि सबसे कम ग्रहणशील था।**

नहीं, यह सबसे ज्यादा मानसिक भावापन्न हिस्सा है। मन रुकावट डालता है।

> **यह अजीब बात है कि आपके लिये जब कभी महान् क्षण, या यूं कहूं, बड़े प्रहार आये हैं तो हर बार, मन और प्राण बह गए। पहली बार भी, १९६२ में।**

हां, हर बार।

मैं जानती हूं, यह ऐसा है: मन और प्राण यंत्र रहे हैं... 'द्रव्य' को पीसनेके लिये — पीसने, पीसने और हर तरह पीसनेके लिये; प्राण अपने संवेदनोंद्वारा, मन अपने विचारोंद्वारा — पीसनेके लिये, पीसनेके लिये रहे हैं। लेकिन मुझे लगता है कि ये बस गुजरनेवाले हैं। इनका स्थान चेतनाकी अन्य अवस्थाएं ले लेंगी।

देखो, यह वैश्व विकासकी एक अवस्था है, और वे... ये ऐसे यंत्रोंकी तरह झड़ जायेंगे जो अब उपयोगी नहीं रहे।

और फिर, मुझे इस बातका ठोस अनुभव हुआ कि यह द्रव्य क्या है जो प्राण और मनके द्वारा पीसा जाता है, लेकिन प्राणके बिना और मनके **बिना**...। यह एक अलग ही चीज होती है।

लेकिन "आन्तरात्मिक स्थितियोंका यह प्रत्यक्ष दर्शन", उसमें... अद्भुत चीजें थीं! कोई, कोई मानसिक कल्पना इतनी आश्चर्यजनक नहीं हो सकती — नहीं, कोई भी नहीं। मैं ऐसे क्षणोंमेंसे गुजरी ... तुम जो कुछ अनुभव कर सकते हो, मनुष्य के रूपमें देख सकते हो, वह सब उसकी तुलनामें **कुछ नहीं**। ऐसे क्षण थे... एकदम अद्भुत क्षण। लेकिन विचारके बिना, बिना विचारके।

> **अभी और कई टिप्पणियां हैं जो मैंने आपको नहीं सुनायीं। आप कहती हैं:**
>
> **"अधिकतर मनुष्योंमें चेतना संवेदनसे शुरू होती है। शरीरके लिये सभी संवेदन मानों कम कर दिये गये थे, बल्कि दबा दिये गये थे: दृष्टि और श्रवण मानों परदेके पीछे थे। लेकिन सामंजस्य या असामंजस्यका प्रत्यक्ष दर्शन बिलकुल स्पष्ट था। उनका**

अनुवाद बिंबोंमें होता था: "विचार नहीं, 'लगना' भी नहीं।"

मैंने तुमसे कहा था, मैंने देखा है... वह "देखा" नहीं है जैसे चित्र देखा जाता है: अपने अंदर, एक विशेष स्थानपर होगा। मैंने कभी कोई चीज इतनी सुन्दर नहीं देखी या अनुभव की। उसका अनुभव भी नहीं किया गया, वह... पता नहीं कैसे समझाया जाय। वे क्षण एकदम अद्‌भुत थे, अद्‌भुत, अनोखे। और यह सोचा नहीं गया था, मैं वर्णन भी नहीं कर सकती थी —— कैसे वर्णन करूं? तुम वर्णन तभी कर सकते हो जब सोचना शुरू करो।

एक और टिप्पणी है:

"शरीरकी चेतनाकी स्थिति और उसकी क्रियाका गुण उस व्यक्ति या उन व्यक्तियोंपर निर्भर है जिनके साथ वह.....

ओहो! यह, यह बहुत मजेदार था। वह बहुत मजेदार था क्योंकि मैंने देखा कि वह ऐसा था (फिल्म खोलनेकी-सी मुद्रा), वह बदल रहा था। कोई मेरे नजदीक आ रहा था: उसमें परिवर्तन आ गया। किसीको कुछ हो गया: उसके अंदर परिवर्तन आ गया। ख और ग मेरे नजदीक थे। वत्स, एक दिन... मालूम नहीं, उन्हें क्या हो गया: वे अतिमानव थे; एक दिन जब शायद देखनेमें लगता था कि मैं खतरेमें हूं, मुझे नहीं मालूम; एक दिन, पूरे दिन, बिंब ("बिंब" नहीं: वे जगहें जहां मैं थी), वह ऐसे अद्‌भुत रूपमें सुंदर, सामंजस्यपूर्ण...वह अकथनीय, अवर्णनीय था। और उनकी चेतनाका जरा-सा भी परिवर्तन, ओह, वहां सब कुछ बदलने लग जाता! वह एक प्रकारका बहुमूर्तिदर्शी (कलाइडस्कोप) था जो दिन-रात चलता रहता था। अगर कोई उसे लिख सकता...। वह अनोखा था। वह अनोखा था। और शरीर उसके अंदर था, लगभग छिद्रित —— छिद्रित जिसमें कोई प्रतिरोध न था, मानों वह चीज उसके अंदरसे छन रही हो।

मैंने अधिक-से-अधिक अद्‌भुत समय देखा... मेरा ख्याल है धरतीपर कोई भी जितना अधिक-से-अधिक अद्‌भुत समय देख सकता है।

और वह इतना सार्थक और इतना द्योतक था। इतना अर्थपूर्ण। एक रात, दो घंटोंके लिये, ये मंदिर जिनके बारेमें मैं कह रही हूं (भौतिक नहीं), इतने विशाल, इतने भव्य थे... और, वत्स, मूर्तियां नहीं, **जीवित-जाग्रत्** देव! और मुझे मालूम है वह क्या है। और फिर 'अनन्तता'की चेतनाकी स्थिति, आह! ... मानों परिस्थितियोंके ऊपर, बहुत ऊपर।

वहां अनोखी चीजें थीं, परन्तु कहा कैसे जाय?...असंभव, असंभव, कोई चेतना उसे लिख सकनेके लिये पर्याप्त नहीं।

टिप्पणीमें आगे लिखा है:

"उसकी (शरीरकी) चेतनाकी पीठ और उसका क्षेत्र और साथ ही उसके कार्य-कलापके गुण वहांपर उपस्थित लोगोंके अनुसार बदलते हैं। यह सब प्रकारकी बौद्धिक क्रियाओंसे होता हुआ अत्यधिक द्रव्यात्मकसे लेकर सबसे अधिक आध्यात्मिक स्तरतक पहुंचनेवाला सोपान है।

परंतु भागवत उपस्थितिका प्रत्यक्ष दर्शन सदा बना रहता है और चेतनाकी सभी स्थितियोंके साथ जुड़ा रहता है — वे चाहे जो भी हों......

आहा! मुझे पता लगा कि हर जगह, सारे समय, सारे समय कोषाणु अपना मंत्र जप रहे थे, सारे समय, सारे समय।

"और मंत्र सहज रूपसे एक प्रकारकी "तरल" शांतिमें अपने-आप जपा जा रहा है।"

इस कारण यह नहीं कहा जा सकता कि वह पीड़ा थी, यह नहीं कहा जा सकता कि वह बीमार था, यह संभव नहीं है, संभव नहीं है।

२५ सितंबर, १९६८

मुझे कुछ पुराने कागज मिले हैं, मुझे नहीं मालूम ये क्या हैं। एक तुम्हारा लिफाफा भी है।

यह "सूत्रों"के बारेमें प्रश्न है:

"जब मैं न्यायसंगत कोपकी बात सुनता हूं तो मुझे मनुष्यकी आत्म-वंचनाकी क्षमतापर आश्चर्य होता है।"

(श्रीअरविंद, 'विचार और सूत्र', सं. ५१)

यह अद्‌भुत है!

> **एक प्रश्न था: "आदमी हमेशा अपने-आपको "नेकनीयतीसे" धोखा देता है: हमेशा औरोंके भलेके लिये या मानवजातिके हितके लिये, या आपकी सेवाके लिये काम करता है, यह तो निश्चित बात है ही। तो फिर वह अपने-आपको धोखा देने लगता है और इसे सचमुच कैसे जाना जाय?"**[1]

यह आश्चर्यजनक रूपसे सत्य है।

अभी कल ही, इसे पढ़े बिना ही मुझे इस विषयपर एक लंबा अन्तर्दर्शन हुआ। यह आश्चर्यजनक है। पर वह एक ऐसे भिन्न स्तरपर था . . .

हां, जब तुम मनके उच्चतर भागको अपने कामोंका निर्णायक बनाते हो तो तुम "अपने-आपको नेकनीयतीसे धोखा" दे सकते हो। यानी, मन सत्यको देखनेमें असमर्थ है और वह अपनी क्षमताके अनुसार ही निर्णय करता है और वह क्षमता सीमित है — केवल सीमित ही नहीं, सत्यके बारेमें असचेतन है; तो मनके लिये यह नेकनीयती हुई, यह जितना कर सकता है अच्छे-से-अच्छा करता है। यही बात है।

स्वभावतः, जो अपने चैत्य पुरुषके बारेमें पूरी तरह सचेतन हैं उनके लिये अपने-आपको धोखा देना संभव नहीं है क्योंकि, अगर वे अपनी समस्या चैत्यके आगे रखें तो वहांसे भगवान्‌का उत्तर पा सकते हैं। लेकिन उनके लिये भी जिनका अपने चैत्य पुरुषके साथ संबंध है उत्तरका स्वरूप वैसा नहीं होता जैसा मनके उत्तरका होता है। मनका उत्तर यथार्थ, सुनिश्चित, निरपेक्ष और अधिकार जमानेवाला होता है: यह अधिकार जमानेकी अपेक्षा **मनोवृत्ति** अधिक होती है: एक ऐसी चीज जिसकी मनमें विभिन्न व्याख्याएं हो सकती हैं।

मैं अपनी कलकी अनुभूतिपर वापिस आती हूं। उसे देखकर मैं इस निश्चयपर पहुंची कि जो आदमी अपनी चेतनाके अनुसार अपना अच्छे-से-अच्छा करता है उसे बुरा-भला कहना असंभव है, क्योंकि वह अपनी चेतना-के परे कैसे जा सकता है?. . . यह ऐसी भूल है जो अधिकतर लोग करते हैं: वे दूसरेको अपनी चेतनासे जांचते हैं, लेकिन दूसरेमें उनकी चेतना नहीं होती। इसलिये वे निर्णय नहीं कर सकते (मैं, स्वभावतः, सद्‌भावना-

---

[1] यह प्रश्न और माताजीका उत्तर, दोनों, 'श्रीमातृवाणी'; खंड १०, "'विचार और सूत्र' के प्रसंग" में पाये जा सकते हैं। (पृ० ८१)

वाले लोगोंकी बात कर रही हूं)। एक अधिक समग्र या उच्चतर चेतनाके अनुसार भूल दूसरे व्यक्तिकी है, लेकिन व्यक्ति अपने-आप जिसे वह करने लायक मानता है उसे करनेका भरसक प्रयास करता है।

इसका मतलब यह हुआ कि जो सचाईके साथ अपनी सीमित चेतनाके अनुसार काम करता है उसे दोष देना बिलकुल असंभव है। और अगर हम इस बातपर आयें तो भागवत चेतनाको छोड़कर संसारमें हर एककी एक सीमित चेतना है। केवल भागवत चेतना ही सीमित नहीं है। लेकिन अनिवार्यतः प्रत्येक अभिव्यक्ति सीमित है, जबतक कि वह अपने-आपसे बाहर निकलकर परम चेतनाके साथ एक न हो जाय, तब वहां . . .। किन परिस्थितियोंमें यह किया जा सकता है?

यह परम प्रभुके साथ तादात्म्यका सवाल है, वे ही परम एक हैं — एक ही जो सर्व हैं।

(मौन)

मानव विचारका एक पूरा पक्ष यह मानता है कि परम चेतनाके साथ तादात्म्य तभी आ सकता है जब व्यक्तिगत रचनाको रद्द कर दिया जाय, लेकिन श्रीअरविंद यही तो कहते हैं कि सृष्टिको रद्द किये बिना भी यह संभव है। उन लोगोंकी यह धारणा थी कि सृष्टिका उन्मूलन होना ही चाहिये, क्योंकि उन्होंने मानव स्तरके साथ ही सृष्टिका अंत कर दिया — यह मनुष्यके लिये असंभव है, पर अतिमानव सत्ताके लिये संभव है। और यही चीज अतिमानव सत्ताको अनिवार्य रूपसे तत्त्वतः भिन्न कर देगी : वह अपना सीमित रूप खोये बिना अपनी चेतनाको परम चेतनाके साथ एक कर सकेगी।

परंतु मनुष्यके लिये यह असंभव है। मैं यह जानती हूं।

जैसा कि मैंने कहा है, तुम्हें प्राप्त होती है, तुम्हें अनुभूति प्राप्त होती है, लेकिन जैसे ही तुम उसे प्रकट करना चाहते हो वह चली जाती है, वह फिरसे . . . (बंद हो जानेकी मुद्रा)। यानी, हम जिस द्रव्यसे बने हैं वह परम चेतनाको विकृत किये बिना अभिव्यक्त करनेके लिये काफी शुद्ध और रूपांतरित (कोई भी, कोई भी शब्द लो) नहीं है।

(मौन)

(माताजी एक अनुभूतिमें प्रवेश करती हैं)

'द्रव्य' में कुछ अपारदर्शिता है, वस्तुमें कुछ ऐसी चीज है जो उसे 'चेतना' को प्रकट नहीं करने देती और वही अपारदर्शिता (पता नहीं इसे कैसे कहा जाय), अपारदर्शिता उसे अस्तित्वका भान देती है।

यह पिछले कुछ दिनोंकी अनुभूतियोंका एक अंश है। मैं . . . पता नहीं, कई सप्ताहोंतक एक प्रकारकी तरलता — पारदर्शक तरलता — में रही और जब इस पारदर्शक तरलताके स्थानपर, जिसे मैं "अदर्शिता" कहती हूं, वह आती है, तो साथ ही शरीरकी सत्ताका एक प्रकारका ठोसपन भी आ जाता है।

तो, बिना किसी मध्यवर्तीके चैत्य पुरुषका द्रव्यके साथ संपर्क एक प्रकारका संवेदन देता है . . . क्या यह "संवेदन" है? मुझे नहीं मालूम; यह संवेदन नहीं है, यह प्रत्यक्ष दर्शन नहीं है; यह एक प्रकारका "अनुभूत अंतर्दर्शन" है (और यह अंतर्दर्शन बहुत यथार्थ, बहुत ही यथार्थ होता है)। यह 'परम स्पंदन' की अधिक प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति रूप उच्चतर स्पंदनके साथ स्पंदनोंके संबंधके मूल्यांकनका एक प्रकारसे "अनुभूत अंतर्दर्शन" है। (मैं इसके बारेमें बस यही कह सकती हूं)।

इसे व्यक्त करना बहुत कठिन है, परंतु शरीर एक ऐसे अनुभवसे गुजर रहा है जैसा पहले कभी नहीं हुआ, वह मानों एक अयथार्थतामेंसे यथार्थतामें गुजर रहा है; एक प्रकारकी तरलतासे . . . यह कोई ठोस चीज नहीं है, एक तरल चीजसे — तरल और अयथार्थसे — यथार्थ चीजकी ओर। सभी बदलती हुई घटनाएं (चाहे कितनी ही छोटी क्यों न हों) नये प्रत्यक्ष दर्शनके लिये अवसर होती हैं। पहले, सब कुछ तरल और अयथार्थ था; अब यह अधिक यथार्थ होने लगा है — अधिक यथार्थ, अधिक यथातथ्य। लेकिन वह अपनी कुछ तरलता खो बैठता है।

इसे व्यक्त करना बहुत कठिन है।

मैंने इसके बारेमें कभी सोचा ही नहीं था। यह अजीब है, यह इच्छित नहीं है। मुझे अभी-अभी अनुभूति हुई है। इसलिये अभीतक बहुत स्पष्ट नहीं है।

वास्तवमें, मन यथार्थता देता है और जब वह नहीं होता तो यथार्थताकी कमी रहती है। सृष्टिमें उसकी भूमिका है यथार्थता देना, समझाना और साथ-ही-साथ सीमित करना।

साधारण मन पूछ सकता है कि ऐसी अयथार्थतासे क्या लाभ?

कोई लाभ नहीं!

यह पूरी तरह निश्चित है कि जब अतिमानस अभिव्यक्त होगा तो वह उस मानसिक यथार्थताके स्थानपर (कैसे कहा जाय?) जो घटाती है — उस यथार्थताको जो सीमित करती है और इसलिये चीजोंको अंशतः मिथ्या बनाती है — उसके स्थानपर दृष्टिकी स्पष्टता, एक और प्रकारकी दृष्टि लायेगा जो घटाती न हो। अब उसीका निर्माण हो रहा है।

वास्तवमें, यह कहा जा सकता है (ठीक ऐसा नहीं है) : मन यथार्थता देनेके लिये सीमित करता और अलग करता है; और स्पष्ट है कि एक ऐसी यथार्थता है जो अधिक यथार्थ दृष्टिसे आती है जिसमें न विभाजन होता है, न पार्थक्य। वही अतिमानस दृष्टिकी यथार्थता होगी। यथार्थता सभी वस्तुओंके आपसी संबंधके साथ, उन्हें अलग किये बिना, आयेगी।

लेकिन यह एक ऐसी चीज है जो तैयार हो रही है। यह एक मिनट-के लिये दीप्तिकी तरह आती है और फिर पुराने ढर्रेपर वापिस चली जाती है।

प्राणके बारेमें भी यही कहा जा सकता है। प्राण एक तीव्रता देता है। ऐसा लगता है कि कोई और चीज तीव्रता नहीं दे सकती; हां, यही तीव्रता 'अतिमानस' में है, परंतु है बिना विभाजनके। यह एक ऐसी तीव्रता है जो अलग नहीं करती।

मुझे ये दो अनुभूतियां हुई थीं, पर बहुत ही क्षणिक। ये वह चीजें हैं जो अभी-अभी की जा रही हैं।

२३ नवंबर, १९६८

मुझे एक मजेदार अनुभूति हुई ... कल नहीं, परसों रातको। किसीने मुझसे कहा, मैं नाम नहीं बताऊंगी : "मैं पूरी तरह भौतिक चेतनामें धंस गया हूं : अब ध्यान नहीं होता, और भगवान् दूर, ऊपरकी चीज बन गये हैं ..." उसी समय जब वह बोल रहा था सारा कमरा भागवत उप-स्थितिसे भर गया। मैंने उससे कहा : "वहां, ऊपर नहीं, यहां, ठीक यहीं।" और उस क्षण, **सब कुछ**, सारा वातावरण ... मानों हवातक भागवत उपस्थितिमें बदल गयी (माताजी अपने हाथ, चेहरा, शरीर छूती हैं)। हां, हर चीजको छुआ गया, हर चीज छुई गयी, भर गयी, लेकिन ... जो चीज विशेष रूपसे वहां थी वह थी चौंधियानेवाली ज्योति, एक

ऐसी 'शांति' (महाकायका संकेत), 'शक्ति' और फिर 'मधुरता' ... कुछ ... ऐसा लगता था कि वह चट्टानको भी पिघला देनेमें समर्थ है।

और वह गयी नहीं, वह ठहरी रही।

वह इस तरह आयी और ठहर गयी।

सारी रात ऐसा रहा — हर चीज। अब भी दोनों यहां हैं: यांत्रिक रूपमें सामान्य चेतना, लेकिन ... मैं क्षण-भरके लिये चुप या एकाग्र हो जाऊं तो वह उपस्थित हो जायगी। और यह **शरीर**की अनुभूति थी, समझे, शरीरकी भौतिक, द्रव्यात्मक अनुभूति: हर चीज, हर चीज, हर चीज भरी है, भरी, केवल **वही** है, और हम तो ... हर चीज मानों संकुचित हो गयी है, कुछ इस तरहकी सूखी हुई खाल-सी; लगता यह है कि चीजें कठोर बन गयी हैं (पूरी तरह नहीं: बस ऊपर-ही-ऊपर), मुरझा गयी हैं, इसीलिये हम अनुभव नहीं कर पाते। इसीलिये हम 'उन्हें' अनुभव नहीं कर पाते। अन्यथा सब कुछ वही है, सब कुछ, वही, उनके सिवाय कुछ है ही नहीं। 'उन्हें' अंदर लिये बिना तुम सांसतक नहीं ले सकते; तुम गति करते हो, तुम 'उन्हीं' के अंदर गति करते हो; तुम ... सब, सब, सारा विश्व 'उनके' अंदर है — लेकिन **द्रव्यात्मक** रूपमें, भौतिक रूपमें, भौतिक रूपमें।

अब मैं इस "सूखने" के उपचारकी तलाशमें हूं।

मुझे लगता है कि वह कोई कल्पनातीत चीज है, समझे?

और जब मैं सुनती हूं तो 'वे' मुझे बातें भी बताते हैं; मैंने 'उनसे' पूछा: "तो लोग हमेशा वहां, ऊपर क्यों जाते हैं?" तो बहुत ही असाधारण और विलक्षण हास्यके साथ उत्तर मिला: "क्योंकि लोग चाहते हैं कि मैं उनकी चेतनासे बहुत दूर रहूं।" इस प्रकारकी बातें, लेकिन यथार्थ विधि-में सूत्रबद्ध नहीं: केवल संस्कार। बहुत बार — बहुत बार — मैंने सुना: "जो हर जगह है उसे ढूंढनेके लिये वे इतनी दूर क्यों जाते हैं? ... (निश्चय ही, ऐसे मत हैं जो कहते हैं: वह तुम्हारे अंदर है)..."

मैंने उस व्यक्तिसे नहीं कहा। इसका पहला कारण तो यह है कि उस समय, अबकी तरह, यह अनुभूति लगातार नहीं थी।

और दूसरा कारण विशेष रूपसे यह था: "कोई **नया मत** नहीं, कोई धर्म-सिद्धांत नहीं, कोई निश्चित शिक्षा नहीं। हमें इस बातसे बचना चाहिये — किसी भी कीमतपर बचना चाहिये कि यह चीज कोई नया धर्म न बन जाय। क्योंकि जैसे ही उसे किसी ... शानदार, प्रभावशाली और शक्तिशाली तरीकेसे सूत्रबद्ध किया जायगा कि बस अंत हो जायगा।

तुम्हें ऐसा लगता है कि वह हर जगह है, हर जगह, हर जगह, हर जगह,

उसके बिना कुछ है ही नहीं। हम उसे नहीं जानते, क्योंकि हम ... सिकुड़े हुए हैं; पता नहीं कैसे कहना चाहिये ... सूखे हुए हैं। हमने अलग किये जानेके लिये बड़े प्रयत्न किये हैं और (हंसते हुए) — सफलता पायी है! सफलता पायी है, परंतु सफलता पायी है केवल अपनी चेतनामें, तथ्यमें नहीं। तथ्यमें वह है, वह है, **केवल** वही है। हम जो कुछ जानते हैं, जो कुछ देखते हैं, जो कुछ छूते हैं, सबमें मानों हम उसीमें नहाते, उसीपर उतराते हैं; परंतु वह भेद्य है;— वह भेद्य है, बिलकुल भेद्य : वह गुजर जाता है। पार्थक्यका भाव यहांसे आता है (माताजी मनकी ओर इशारा करते हुए अपना माथा छूती हैं)।

शायद यह अनुभूति इसलिये आयी, क्योंकि लगातार कई दिनोंतक पृथक्ताका क्यों और कैसे नहीं, बल्कि पृथक्ताके तथ्यको जाननेके लिये बहुत एकाग्रता हो रही थी। हर चीज इतनी मूढ़ता-भरी, इतनी भद्दी लग रही थी ...! मेरे ऊपर मानों बहुत-सी स्मृतियां टूट पड़ी थीं, सब प्रकारकी स्मृतियां (सब प्रकारकी पुस्तकों, चित्रों, फिल्मोंकी, जीवनकी, लोगोंकी, चीजोंकी स्मृतियां), इस शरीरकी स्मृतियां, वे सब स्मृतियां जो "भगवान्-विरोधी" कही जा सकती हैं, जिनमें शरीरका किसी अशुभ या विकर्षी वस्तुका — जैसे भागवत उपस्थितिको अस्वीकार करनेका — संवेदन प्राप्त हुआ था। यह आरंभ इस तरहसे हुआ; दो दिनतक मेरी ऐसी हालत रही, यहांतक कि शरीर निराशामें डूब गया और तब यह अनुभूति आयी और फिर वह टस-से-मस न हुई। वह हिलीतक नहीं। वह अचानक आयी, और बस खतम, अपने स्थानसे न हिली। तो अनुभूतियां आती हैं और वापिस चली जाती हैं : पर यह नहीं हिलती। अभी इस समय भी वह है। और शरीर तरल बननेकी कोशिश करता है (माताजी अपने-आपको फैलानेकी मुद्रा करती हैं), पिघल जानेकी कोशिश करता है; वह कोशिश करता है, वह समझता है कि वह क्या है। वह कोशिश करता है — पर सफल नहीं होता, स्पष्ट ही है! (माताजी अपने हाथोंको देखती हैं) लेकिन उसकी चेतना जानती है।

अनुभूतिके प्रभाव भी होते हैं : लोगोंने अचानक आराम अनुभव किया, दो-एक बिलकुल अच्छे हो गये और जब शरीरमें कुछ गड़बड़ होती है तो उसे मांग करनेकी जरूरत नहीं होती : वह स्वभावतः ठीक हो जाती है।

और इसने शरीरमें कुछ न करनेकी और अपनी अनुभूतिपर पूरी तरह एकाग्र रहनेकी आवश्यकता भी नहीं जगायी : नहीं, कोई कामना न थी, बिलकुल कुछ भी नहीं। बस, इस दीप्तिमान विशालतामें — जो अंदर है — उतराते रहना! यह केवल बाहर ही नहीं है; वह अंदर है। वह अंदर

है। वह (अपने हाथोंको छूती हैं) वह अलग प्रतीत होता है, सचमुच ऐसा लगता है कि यह . . . पता नहीं कैसे कहा जाय, परंतु यह केवल विकृत चेतनामें वास्तविक है — मानव चेतनामें नहीं : कुछ हो गया है; 'चेतना' को कुछ हो गया है (माताजी सिर हिलाती हैं), मैं नहीं समझ पाती।

(मौन)

हर एक धर्मकी नींवमें जो सिद्धांत और समाधान और कहानियां पड़ी हैं वे मुझे तो . . . मनोरंजन मालूम होती हैं। और तब आदमी अपने-आपसे पूछता है, और पूछता है . . . मैं तुम्हें एक बात बतलाऊं : क्या यह नहीं हो सकता कि यह एक प्रहसन है जो भगवान् अपने-आपसे खेल रहे हैं ! . . .

कहना कठिन है। ऐसे दिन थे जब मैं सृष्टिकी सारी विभीषिकाओंमें जीती थी; हां, विशेष रूपसे भौतिक पीड़ामें (और उनकी विभीषिकाओंकी चेतनामें), और फिर यह अनुभूति आयी और सभी विभीषिकाएं गायब हो गयीं।

और ये केवल नैतिक चीजें नहीं थीं, बल्कि विशेष रूपसे भौतिक पीड़ाएं, हां, विशेष रूपसे भौतिक पीड़ाएं थीं। मैंने ऐसी भौतिक पीड़ा देखी है जो बनी रहती है; जो कभी बंद नहीं होती, जो दिन-रात होती रहती है; और अचानक, चेतनाकी इस अवस्थामें होनेकी जगह तुम ऐकांतिक दिव्य उपस्थितिमें होते हो — पीड़ा गायब ! और यह भौतिक, बिलकुल भौतिक पीड़ा थी जिसका कारण भी भौतिक था। डाक्टर कहेंगे : "यह, यह, यह, इस कारण है या उस कारण है," बिलकुल द्रव्यात्मक, भौतिक कारण : वह इस तरह चली जाती है . . . चेतना बदलती है और वह वापिस आ जाती है।

अगर व्यक्ति काफी लंबे समयतक सत्य चेतनामें रह सके तो रूप-रंग, यानी, जिसे हम भौतिक "तथ्य" कहते हैं, स्वयं वही गायब हो जाता है; केवल पीड़ा ही नहीं जाती . . . मुझे ऐसा लगता है मानों मैंने छू लिया है (सौभाग्यवश, मन इन बातोंको कभी नहीं समझ सकता), मानों मैंने केंद्रीय अनुभूतिको छू लिया है।

यह तो केवल छोटा-सा आरंभ है।

अगर भौतिकका रूपांतर हो जाय तो ऐसा लगेगा मानों परम रहस्यका स्पर्श पा लिया . . .। अनुभूतिके अनुसार (ब्योरेकी जरा-सी अनुभूति)

यह ऐसी होनी चाहिये। और फिर, शुरूमें यह चेतना **एक** ही शरीरमें प्रकट होगी या सभी, सभीको रूपांतरित होना होगा? ... चेतनाकी एक घटना।

लेकिन वह इतना ठोस था, हां, यह वही है!

(मौन)

दूसरी चेतना अभीतक है... अभीतक, आज सवेरे मैं बहुत-से लोगोंसे मिली; जैसे-जैसे एक-एक आता था मैं उसे देखती थी (देखनेवाला कोई 'मैं' न था, **उसके** लिये मैं उसे देख रही थी), आंखें स्थिर थीं। फिर प्रत्यक्ष दर्शन और अंतर्दर्शन (लेकिन ऐसा अंतर्दर्शन नहीं जैसा लोग समझते हैं: यह पूरी तरह चेतनाका एक दृश्य था), 'उपस्थिति' की चेतना; वह 'उपस्थिति' जो मानों कड़े छिलकेमें भी पैठ जाती है। वह पैठती है, पैठती है। वह हर जगह है; और जब मैं देखती हूं, जब आंखें स्थिर होती हैं तो यह एक तरहसे (इस **उपस्थिति**की) घनता बन जाती है...। लेकिन यह निश्चय ही एक अस्थायी और मध्यवर्ती स्थिति है, क्योंकि दूसरी चेतना (वह चेतना जो पहले थी, जो चीजोंको देखती और उनके साथ व्यवहार करती है, जो सामान्यतः, उनके साथ व्यस्त रहती है, जिसे केवल उसी चीजका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त होता है जो व्यक्तिके अंदर हो रहा है, जो वह सोच रहा है — वह जो सोच रहा है वह नहीं, वह जो अनुभव कर रहा है, वह जैसा है उसको) वह भी है। स्पष्टतः संपर्क रखनेके लिये उसकी भी जरूरत है, लेकिन ...

बात स्पष्ट है, अभी यह एक परीक्षण है, कोई स्थापित तथ्य नहीं। "स्थापित तथ्य" से मेरा मतलब है इस प्रकारसे स्थापित चेतना कि उसके सिवा किसीका अस्तित्व ही न हो, केवल वही उपस्थित हो — अभीतक ऐसा नहीं है।

(लंबा मौन)

और तुम? तुम्हारे पास कहनेके लिये क्या है?

मैंने वातावरणमें एक परिवर्तनका अनुभव किया।

ओ!

जी हां, पांच-छः दिन हुए मुझे ऐसा लगा मानों कोई चीज दुर्दमनीय हो।...

(माताजी हंसती हैं)

दुर्दमनीय। पिछली रात कुछ अजीब-सी बात थी। एक बार मैंने आपको देखा। आप जमीनपर चित लेटी हुई थीं। मैं आपके पास आया और आपसे पूछा: "क्या आपको सिर-हाना नहीं चाहिये?" आपने कहा: "नहीं, कुछ नहीं," और आप जमीनपर चित लेटी रहीं....। इसका क्या अर्थ है?

(माताजी बहुत देरतक चुप रहती हैं और उत्तर नहीं देतीं)

लेकिन अतिमानसके "नीचे आने"की यह धारणा और 'चेतना'का प्रवेश, ये **हमारे** "अनुवाद" हैं...। अनुभूति एक शाश्वत तथ्यकी अनुभूतिके रूप-में आयी: ऐसी चीज बिलकुल न थी जो आ रही हो। निश्चय ही यह सब चेतनाकी स्थितियोंका परिणाम होगा। मुझे नहीं मालूम इसके परे कुछ है या नहीं, लेकिन बहरहाल, इसका तो मुझे स्पष्ट अनुभव हुआ। चेतनाकी गतियां हैं। क्यों, कैसे?...मैं नहीं जानती। हां, अगर दूसरी ओरसे देखा जाय तो यह तथ्य कि पार्थिव क्षेत्रकी कोई चीज सचे-तन हो गयी है, इससे ऐसा लगता है मानों कुछ "हुआ है"...। पता नहीं मैं अपनी बात समझा पा रही हूं या नहीं..। मेरा मतलब यह है कि यह शरीर पूरी तरह शेष धरतीके जैसा ही है, लेकिन किसी कारणसे ऐसा हुआ है कि यह दूसरी तरहसे सचेतन हो गया है; तो, इसे साधारण पार्थिव चेतनाकी भाषामें अनूदित करते हुए "आगमन", "अवतरण", "आरंभ" कहा जाता है।...लेकिन क्या यह आरंभ है? कौन-सी चीज है जिसका "आगमन" हुआ है?...समझ रहे हो? परम प्रभुके **सिवाय** कुछ भी तो नहीं है (मैं भाषाकी सुविधाके लिये "परम प्रभु" कह रही हूं अन्यथा...), केवल परम प्रभु ही हैं, और कुछ है ही नहीं, और किसी चीजका अस्तित्व नहीं है। सभी चीजें सचेतन रूपसे उनके अंदर होती हैं और हम सब...इस 'अनन्तता'में बालूके कण जैसे हैं; केवल हम परम प्रभु हैं जिसके अंदर परम प्रभुकी चेतनाके बारेमें सचेतन होनेकी क्षमता है। यह ठीक यही है।

(मौन)

इस अनुभूतिसे पहले जब मैं समस्त पीड़ाकी, भौतिक जीवनकी विभीषिकाओंकी चेतनामें थी तो एक निश्चित समयपर एक चीज आयी (उसने "कहा" तो नहीं पर हम इन शब्दोंका उपयोग करनेके लिये बाधित हैं, पर यह सब मानसिक रूप दिये बिना हुआ)। यह एक संस्कार था (अगर मैं उसका अनुवाद करूं तो कहूंगी): "तुम्हें पागल होनेका भय नहीं है ?" समझे ? (यह केवल अनुवाद है)। और तब शरीरने सहज रूपसे उत्तर दिया : "हम सब पागल हैं और जितने पागल हैं उससे अधिक पागल नहीं हो सकते।" और चीज तुरन्त शान्त हो गयी।

(लंबा मौन)

चेतना यहां स्थित है (वक्षकी ओर इशारा करते हुए), वह (मन और ऊपरकी ओर संकेत), वह प्रकाश है, प्रकाश... (विशालका संकेत)। लेकिन इस शरीरमें, वह यहां है, चेतना (फिरसे वक्षकी ओर संकेत)। मेरा मतलब है चेतना... कि हम परम प्रभुमें हैं।

मैं जानती हूं कि वहां जो चेतना है उसे मालूम है कि बोलनेका यह ढंग बिलकुल बचकाना है। परंतु उसे यह बचकाना तरीका उस तरीकेकी अपेक्षा ज्यादा पसंद है जो बिलकुल यथार्थ होनेकी कोशिश करता है और होता है मानसिक।

२७ नवंबर, १९६८

वह जारी है... शरीरको लगता है कि वह समझना शुरू कर रहा है। स्वभावतः उसके लिये कोई विचार नहीं — बिलकुल कोई विचार नहीं है, परंतु चेतनाकी अवस्थाएं हैं। चेतनाकी ऐसी अवस्थाएं जो एक-दूसरेको पूर्ण करती हैं, एक-दूसरेका स्थान लेती हैं... यहांतक कि वह तो पूछता है कि कोई विचारके द्वारा कैसे जान सकता है; उसके लिये जाननेका, बोध प्राप्त करनेका एकमात्र तरीका है चेतना। और यह सामान्य दृष्टिबिन्दुसे अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा है और वह उसे अपने ऊपर भी लागू करता है, यानी, एक कार्य किया जाता है ताकि शरीरके सभी भाग सचेतन हो जायं, केवल उनमेंसे गुजरनेवाली शक्तियोंके बारेमें

ही नहीं, बल्कि उसकी आन्तरिक क्रियाओंके बारेमें भी सचेतन हों।
वह अधिकाधिक यथार्थ होता जा रहा है।

हां, सबसे बढ़कर यह : उसके लिये हर चीज चेतनाका तथ्य है और जब वह कुछ करना चाहता है तो वह प्राय: यह नहीं जान पाता कि कुछ करनेको मानसिक रूपसे कैसे जाना जाता है; उसे करनेकी विधिके बारेमें **सचेतन** होना चाहिये; और केवल अपने लिये ही नहीं, अपने चारों ओरके लोगोंके लिये भी। यह एक इतना स्पष्ट तथ्य होता जा रहा है... फिर किसी औरसे कुछ समझना; उदाहरणके लिये, कोई चीज करनेका तरीका सीखना, उसके लिये तो, चीज करनेसे, उसमें चेतनाको लगानेसे ही सीखी जा सकती है। यह बात कि किसी औरको समझाना चाहिये, कोई और समझाने योग्य है... यह उसे खोखली, खोखली — रीती मालूम होती है।

और वह अधिकाधिक ऐसा होता जा रहा है।

(मौन)

माताजी, आपने मेरे अंतर्दर्शनके बारेमें कुछ नहीं बतलाया जिसमें मैंने आपको जमीनपर सीधा लेटे हुए देखा था।

(माताजी हंसती हैं) मेरा ख्याल है कि यह पूर्ण समर्पणका प्रतीक है। मैं पीठके बल लेटी थी न? ऐसा ही था न?

जी, पीठके बल जमीनपर।

यह संपूर्ण समर्पणमें संपूर्ण ग्रहणशीलताकी मनोवृत्ति है। यह शरीरकी वृत्तिकी मूर्त्त अभिव्यक्ति होनी चाहिये।

क्योंकि सचमुच, मुझे पता नहीं कि कोई "टुकड़े", कोई अवयव ऐसे हैं जिनमें अभीतक वह चीज हो जिसे स्वाधीनताका भाव कहते हैं। वास्तवमें शरीरने अपना समर्पण कर दिया है, यानी, अब उसमें अपनी इच्छा नहीं रही — उसमें कोई कामना नहीं है, अपनी इच्छा नहीं है। वह मानों सारे समय "सुनता रहता है" — सारे समय, मानों 'आदेश' पकड़नेके लिये (कान लगाये रहता है)।

वह अभी सीखना शुरू कर रहा है कि उस स्थान या क्रियाको कैसे पकड़ा जाय जो... मैं "रूपांतरित" तो नहीं कह सकती, क्योंकि यह एक बड़ा शब्द है, जो बाकीके साथ सामंजस्यमें नहीं है और अव्यवस्था पैदा

कर रहा हो। यह प्रति क्षणका प्रत्यक्ष दर्शन होता जा रहा है। जब कभी कोई ऐसी चीज होती है जो असाधारण मालूम होती है तो यह समझ होती है, यह चेतना होती है कि यह क्यों हुआ और यह कहां पहुंचाएगी; किस तरह दीखनेवाली अव्यवस्था अधिक पूर्णताकी ओर ले जायगी। हां, ऐसा है। यह बिलकुल आरंभ है। लेकिन यह आरंभ हो चुका है। इसने कुछ-कुछ सचेतन होना शुरू कर दिया है और केवल अपने लिये ही नहीं, औरोंके लिये भी। उसने देखना शुरू कर दिया है कि चेतना (दिव्य चेतना) दूसरोंके अंदर किस तरह काम करती है; और कभी-कभी वास्तवमें विभाजनका बोध नहीं रहता (शब्द अनुभूतिके **बहुत बाद** आते हैं), विभिन्नताका बोध रहता है: चीज बहुत मजेदार हो जाती है... विभिन्नता जो — जिसे अलगावकी "अर्गला" कहा जा सकता है — सत्य चेतनामें पूर्णतः सामंजस्य-भरी होगी, एक ऐसी समग्रताका निर्माण करेगी जो अपने-आपमें मूर्त्त पूर्णता होगी (माताजी एक गोल चीजका संकेत करती हैं)। कहीं अड़चन है — क्या हो गया है?... हां, क्या हो गया है?...

यह जानना बाकी है कि किसी कारण यह जरूरी था या यह अकस्मात् हो गया — लेकिन अकस्मात् कैसे हो सकता है!... क्योंकि इस क्षण (कोई विचार नहीं है, इसलिये जरा अस्पष्ट है), अभी ऐसा लगता है ... हम सीधे-सादे तौरपर कह सकते हैं: चेतनाकी आश्चर्यजनक प्राप्ति हुई है। इसे प्राप्त किया गया था, इसके दाम चुकाये गये थे, समस्त पीड़ा और अव्यवस्थाकी बड़ी कीमतपर... कल या आज (अब मुझे ठीक याद नहीं है), शायद कल एक समय समस्या बहुत ही तीव्र हो गयी और तब मानों भागवत चेतनाने मुझसे कहा: "इस सारी पीड़ामें यह मैं हूं जो दुःख भोग रही हूं (भागवत चेतना, है न), मैं कष्ट सह रही हूं, लेकिन तुमसे अलग तरीकेसे।" पता नहीं कैसे कहा जाय, यह ऐसा था। ऐसा लगा मानों भागवत चेतना उस चीजका अनुभव कर रही थी जो जो हमारे लिये दुःख-दर्द है। उसका अस्तित्व था, भागवत चेतनाके लिये उसका अस्तित्व था — लेकिन हमारे तरीकेसे कुछ अलग। और फिर यह समझानेका प्रयास था कि चेतना क्या है, एक ही समयमें हर चीजकी युगपत् चेतना है। अपना भाव प्रकट करनेके लिये हम कह सकते हैं कि सब कुछ एक साथ था। दुःख-दर्द, अत्यधिक तीव्र अव्यवस्था और सामंजस्य, संपूर्णतम आनंद दोनों एक साथ, साथ-ही-साथ अनुभव होते हैं। स्वभावतः इससे दुःख-दर्दकी प्रकृति ही बदल जाती है।

लेकिन वह पूरी तरह सचेतन है कि यह सब बकवास जैसी हैं, जो चीज है उसका अनुवाद नहीं है।

और यह प्रत्यक्ष दर्शन भी है कि इन अनुभूतियोंके द्वारा धीरे-धीरे हर एक समुच्चय (जो हमारे लिये शरीर है) अपने-आपको अभ्यस्त करता जा रहा है ताकि वह सत्य चेतनाको सह सकनेकी योग्यता प्राप्त कर ले। इसके लिये अनुकूलनकी गतिकी जरूरत होती है।

लेकिन श्रीअरविन्दने शायद 'विचार और झांकियां'में लिखा है कि दुःख-दर्द आनंदकी तैयारी है।

हां, मुझे कहना चाहिये कि श्रीअरविंदकी बहुत-सी चीजें हैं जिन्हें अब मैं समझना शुरू कर रही हूं। और एक अलग ही ढंगसे।

(मौन)

यह अनुभव होना कि अब हम किसी चीजको छूने-छूनेको हैं और फिर ... वह बच निकलती है। कोई चीज रह गयी है।

अभी बहुत दूर, दूर जाना है।

प्रासंगिक (२१ दिसंबर, १९६८)

किसीने एक प्रश्न पूछा है। मैं उसका अनुवाद करता हूं: "पिछले अगस्त और सितंबरकी अपनी अनुभूतियां बतलाते हुए माताजी "मन और प्राणके निष्कासन"की बात करती हैं; शरीरके द्रुत और सार्थक रूपांतरके लिये उन्हें अलग करनेकी जरूरत क्यों है? क्या अतिमानसिक चेतना उनपर भी काम नहीं करती?"

---

[1]"पीड़ा जो कल्पनातीत आनन्द-स्पर्शके लिये घोर परिश्रम करती है।" 'विचार और सूत्र' में वे कहते हैं:

सूत्र ९३ — "दुःख-दर्द हमारी दिव्य जननीका स्पर्श है जो हमें यह सिखाती है कि किस तरह सहन किया जाता और आनंदमें वर्द्धित हुआ जाता है। उस माताकी शिक्षाके तीन स्तर हैं — सबसे पहले सहनशीलता, फिर अंतरात्माकी समता और अंतमें परमानंद।"

निश्चित रूपसे करती है, वह बहुत पहले काम कर **चुकी** है। चूंकि शरीर प्राण और विशेषकर मनकी आज्ञा माननेके लिये अभ्यस्त है, (अभ्यस्त था) अतः उसकी आदत बदलनेके लिये, वह उच्चतर चेतनाकी आज्ञा मान सके, काम तेजीसे चले इसलिये यह किया गया था। लोगोंमें वह मन और प्राणके द्वारा काम करती है। मैंने कहा है कि वह ज्यादा निश्चित भी है (परीक्षणके रूपमें यह खतरनाक है), लेकिन शरीर गतिको काफी तेज कर देता है। क्योंकि सामान्यतः आदमीको इन दोके द्वारा शरीरपर काम करना पड़ता है, जब कि इस तरीकेसे जब वह दो न थे तो उच्चतर चेतना सीधा काम कर सकती थी। बस यही।

इस पद्धतिके लिये सलाह नहीं दी जाती! जब कभी अवसर आता है, मैं यह दोहरा देती हूं। लोगोंको यह कल्पना न करनी चाहिये कि वे इसका परीक्षण कर देखेंगे (वे ऐसा कर भी न सकेंगे, इसका कुछ मूल्य नहीं), इसकी सलाह नहीं दी जाती। तुम्हें अपना समय लेना चाहिये। केवल बढ़ते हुए वर्षोंके कारण... ताकि यह तेजीसे हो सके।

(मौन)

यह अजीब बात है कि शरीरकी स्वाभाविक वृत्तिके मानों प्रदर्शन-से हो रहे हैं (मेरा ख्याल है कि सभी शरीरोंके लिये एक ही बात नहीं है: यह इसपर निर्भर है कि शरीर कैसे बना है, यानी, मां, बाप, पूर्ववृत्त आदि), अपने-आपपर छोड़े हुए शरीरका प्रदर्शन। उदाहरणके लिये, इस शरीरमें एक प्रकारकी कल्पना है (वह कुछ अजीब-सी चीज है), एक नाटकीय कल्पना; सारे समय उसे यही लगता है कि वह संकटोंके बीच जी रहा है; और फिर उसमें अब भी जो श्रद्धा है उसके द्वारा संकट सिद्धिमें रूपांतरित हो जाता है—ऐसी ही बेतुकी बातें। तो कुछ समयके लिये, उसे इस कल्पनाके साथ छोड़ दिया जाता है (पिछले दिनों यही हुआ), और जब वह इस मूढ़ता-भरी क्रियासे बिलकुल थक जाता है, तो पूरी तीव्रताके साथ प्रार्थना करना शुरू करता है ताकि यह चीज बंद हो जाय। तुरंत, हप्प! वह ठीक ऐसे ही करता है (मुद्रा), वह सीधा चक्कर लगाता है और ध्यानमें चला जाता है—कहीं दूर नहीं: बिलकुल ही पास—उस अद्भुत 'सत्ता'के ध्यानमें जो हर जगह है।

यह इस तरह और ऐसा है (माताजी तेजीसे अपनी दो उंगलियां घुमाती हैं), इसमें समय नहीं लगता, इसमें कोई तैयारी-वैयारी नहीं होती! हप्प! हप्प! इस तरह (वही मुद्रा), मानों शरीरकी मूढ़ता दिखानेके लिये

हो। यह बिलकुल ही मूर्खता-भरी चीज है, स्वयं अपने ऊपर छोड़े हुए शरीरकी मूर्खताका प्रदर्शन है और फिर, यह अद्‌भुत 'चेतना' आती है जिसमें सब कुछ गायब हो जाता है...। मानों कोई ऐसी चीज हो जिसमें कोई संगति नहीं, कोई वास्तविकता नहीं, और जो गायब हो जाती है। और इसके प्रमाणस्वरूप कि यह केवल कल्पना नहीं, बल्कि **तथ्य** है: शक्तिके प्रमाणस्वरूप ताकि यह सब... जीवनका एक व्यर्थ स्वप्न (जो इस शरीरकी चेतनाके लिये भयंकर बन गया है) 'अद्‌भुत' वस्तुमें बदल सकता है, इस तरह, केवल चेतनाके पलटने-भरसे।

यह अनुभूति अपने पूरे ब्यौरेके साथ सभी क्षेत्रोंमें तथ्य प्रदर्शनके रूपमें दोहरायी जाती है। और यह रूपांतरकी "लंबी प्रक्रिया" नहीं है। यह ऐसी बात है जैसे कोई चीज अचानक पलट दी गयी हो (माताजी दो उंगलियोंको उलटती हैं), और तब वह कुरूपता, मिथ्यात्व, पीड़ा आदि देखनेकी जगह अचानक आनन्दमें निवास करता है। सब चीजें वह-की-वही हैं, चेतनाके अतिरिक्त कुछ भी नहीं बदला।

तब यह प्रश्न रहता है (शायद वह सामने ही पड़ा है और संभवतः आ रहा है) कि इस अनुभूतिको द्रव्यात्मक रूपमें कैसे बदला जाय?... स्वयं शरीरके लिये, यह बिलकुल स्पष्ट है: लगभग घंटे-भर या दो-तीन घंटोंमें उसने बहुत पीड़ा सही, और वह बहुत ही दुःखी था (नैतिक पीड़ा नहीं: बिलकुल भौतिक पीड़ा) और तब एकदम अचानक पप्प! — सब कुछ गायब... देखनेमें शरीर जैसा-का-वैसा बना रहता है (माताजी अपने हाथ देखती हैं), परंतु आंतरिक अव्यवस्थाकी जगह, जो उसे दुःखी करती है, सब कुछ ठीक-ठीक चलता है, यह एक महान् शांति है, महान् स्थिरता है और सब कुछ भली-भांति चल रहा है। लेकिन यह, यह तो **एक** शरीर-के लिये है — इसकी औरोंपर क्या क्रिया होती है?... वह अन्य सचेतन सत्ताओंमें संभावना देखने लगती है। नैतिक दृष्टि-बिंदुसे (यानी, मनोवृत्तियों, स्वभाव और प्रतिक्रियाके बारेमें) यह बिलकुल दृष्टिगोचर होता है; भौतिक दृष्टि-बिन्दुसे भी: कभी-कभी अचानक एकदम कोई चीज गायब हो जाती है (जब श्रीअरविंदने एक दर्दको हटा दिया था तब हमने इसका अनुभव किया था [माताजी दिखाती हैं जैसे कोई सूक्ष्म हाथ आया और दर्दको ले गया] कहते ही... बस, वह चला गया, गायब हो गया, इस तरह), लेकिन यह नित्य सामान्य वस्तु नहीं है। यह केवल यह दिखानेके लिये है कि ऐसा हो सकता है, इस तथ्यसे कि दो-एक उदाहरणोंमें ऐसा हो चुका है — यह दिखाता है कि ऐसा हो सकता है।

इस तरह यह कहा जा सकता है: शरीरको ऐसा लगता है कि वह किसी

चीजमें कैद है — हां, कैद — मानों एक बक्सेमें कैद है, लेकिन वह उसके आर-पार देख रहा है; वह देखता है और (एक सीमित तरीकेसे) किसी ऐसी चीजमेंसे होकर काम कर सकता है जो अभीतक बनी है और जिसे गायब हो जाना चाहिये। यह "कुछ चीज" ही कैदी होनेका भाव देती है। उसे कैसे गायब हो जाना चाहिये? यह मुझे अभीतक नहीं मालूम।

हमें **एक** शरीरकी चेतना और सब शरीरोंकी चेतनाका संबंध जानना चाहिये। और यह कि किस हदतक निर्भरता है और किस हदतक स्वाधीनता; यानी, शरीर किस हदतक अपनी चेतनामें (और परिणामस्वरूप, आवश्यक रूपसे अपने बाह्य रूपमें) रूपांतरित किया जा सकता है... बिना, बिना सबके रूपांतरके — किस हदतक? और एक शरीरके रूपांतरके लिये सबका कितना रूपांतर जरूरी है। यह अभी जानना बाकी है।

(मौन)

अगर सब कुछ कहा जाय तो घंटों लग जायंगे।

लेकिन आपने जिस "बक्से" की बात की थी वह वैश्व बक्सा...

हां!

मुझे प्रायः ऐसा लगता है कि ये सब तथाकथित मानव विधान या "प्राकृतिक विधान" केवल सामूहिक रूपमें दृढ़ की गयी विशाल रुग्ण कल्पनाएं हैं — और यही वह बक्सा है।

हां, ठीक ऐसा ही, ठीक ऐसा ही।

तो फिर कैसे...

हां, व्यक्तिगत प्रकाश उसपर किस हदतक क्रिया कर सकता है?... यह एक समस्या है... मुझे पता नहीं।

(मौन)

धरतीपर जो सामूहिक प्रगति हुई है उसका यह बहुत अच्छा स्पष्ट दर्शन

है; (अनुभूतियोंका हमारा क्षेत्र धरती है) लेकिन भूतकी ओर देखते हुए लगता है कि सबके बदलनेमें बहुत अधिक समय लगेगा... फिर भी यह लगभग प्रतिज्ञा थी कि... अचानक परिवर्तन होने वाला है (जो हमारी चेतनामें "अवतरण" का रूप लेता है, एक ऐसी क्रिया जो बस "होती है": कोई ऐसी चीज जो अभीतक काम नहीं कर रही थी और जिसने अब काम करना शुरू कर दिया है — हमारी चेतनामें उसे इसी तरह कहा जाता है)।

देखेंगे।

स्वयं शरीरके लिये एक बढ़ती हुई अनुभूति होती है, यानी, भंगुरताके साथ-साथ अधिकाधिक यथार्थ (अति भंगुरता: एक छोटी-सी गति भी उसके वर्तमान अस्तित्वको समाप्त कर सकती है), और साथ ही — साथ ही, युगपत् रूपसे शाश्वतताका भाव! यह भाव कि उसका अस्तित्व शाश्वत है, दोनों एक ही समय।

यह सचमुच संक्रमणकाल है!

(मौन)

दो-एक बार जब... जिसे हम जाननेके लिये व्यथा कह सकते हैं, बहुत तीव्र थी, जब उसे भागवत उपस्थितिका पूरा-पूरा संवेद था, हर जगह, अंदर, बाहर, हर जगह उपस्थितिका संवेद (माताजी अपना मुख और हाथ छूती हैं), तो उसने वर्तमान अव्यवस्थाके बारेमें पूछा, कैसे? (उसने 'क्यों' नहीं पूछा, उसमें इस तरहका कुतूहल न था) जब यह चीज बहुत तीव्र, बहुत तीव्र थी तो दो-एक बार उसे लगा कि एक बार यह मालूम हो जाय तो बस — अमरता। तब वह बढ़ती है, रहस्यको पकड़ लेनेके लिये बढ़ती है, उसे लगता है कि बस अब रहस्य मिलने ही वाला है और फिर ...और तब अभीप्सामें एक प्रकारका शमन: शांति, शांति, शांति... हां, दो-एक बार ऐसा लगा कि बस अब वह समझमें आने ही वाला है ("समझमें आने" का मतलब हुआ **जीवनमें उतरना**; यह विचारसे "समझना" नहीं है: जीना है), और फिर... (बच निकलनेकी मुद्रा) और एक 'शांति'का अवतरण होता है।

लेकिन यह भाव बना रहता है कि यह कल होगा। लेकिन कल, कौन-सा कल? हमारी गणनाके अनुसार नहीं।

देखेंगे।

लेकिन सब पहलुओंको लिये हुए असंख्य अनुभूतियां हैं। घंटोंकी जरूरत है और फिर भी लगता है कि शब्द चीजको मिथ्या बना रहे हैं। अब

वह इतनी सरल नहीं, अब वह इतनी सुन्दर नहीं रही, उतनी स्पष्ट नहीं रही। वह जटिल होती जा रही है।

शरीरको एकदम अद्‌भुत क्षण मिलते हैं; और **घंटोंकी** यंत्रणा मिलती है और अचानक एक अद्‌भुत क्षण। लेकिन वह क्षण समझाया नहीं जा सकता...। अगर हम समयके अनुपातमें वृद्धिकी स्थितिका मूल्य आंकें तो...अद्‌भुत क्षण कुछ ही मिनट रहता है और यंत्रणा घंटों रहती है, पीड़ाके घंटे भी होते हैं। और तब, यदि हम इस अनुपातसे मूल्यांकन करें, तो भी हम बहुत, बहुत, बहुत अधिक दूर...

लेकिन किया क्या जाय? चलना तो है ही, बस।

प्रासंगिक (१ जनवरी, १९६९)

अतिमानव चेतनाका अवतरण :

वह रातको धीरे-धीरे आया और आज सवेरे जागनेपर मानों स्वर्णिम 'प्रभात' था, वातावरण इतना हल्का था। शरीरको लगा : यह सचमुच, सचमुच नया है। एक स्वर्णिम प्रकाश, पारदर्शक और...सद्‌भावपूर्ण, "सद्‌भावनापूर्ण" निश्चितिके अर्थमें—सामंजस्यपूर्ण निश्चिति। वह नया था।

यह बात थी।

जब मैं लोगोंसे "शुभ नव वर्ष" कहती हूं तो मैं उन्हें वह बांटती हूं। और आज सवेरे मैंने अपना समय सहज रूपसे "शुभ नव वर्ष, शुभ नव वर्ष" कहते-कहते बिताया...तो...

प्रासंगिक (४ जनवरी, १९६९)

पहली तारीखको सवेरे सचमुच आश्चर्यजनक बात हुई...। केवल मैंने ही उसे अनुभव नहीं किया, औरोंने भी अनुभव किया है। वह ठीक आधी रातके बाद था, लेकिन मैंने दो बजे अनुभव किया और औरोंने

सवेरेके चार बजे। वह... पिछली बार मैंने तुमसे उसके बारेमें बस दो शब्द कहे थे, लेकिन आश्चर्यकी बात यह है कि मैं जिसकी आशा कर रही थी उसके साथ इसका जरा भी मेल न था (मैं किसी चीजकी आशा न कर रही थी), मैंने जिन दूसरी चीजोंको अनुभव किया था उनके साथ मेल न था। यह बहुत ज्यादा द्रव्यात्मक वस्तु थी, यानी, बहुत बाहरी — बहुत बाहरी — और वह स्वर्ण ज्योतिसे दीप्तिमान् थी। वह बहुत बल-शाली, बहुत शक्तिशाली थी; लेकिन उसका स्वभाव स्मितपूर्ण हितैषिता-का था, शांत हर्ष और एक प्रकारसे हर्ष और ज्योतिकी ओर एक प्रकार-का उद्‌घाटन। वह "शुभ नव वर्ष" की तरह शुभ कामना थी। उसने मुझे अचंभेमें डाल दिया। वह कम-से-कम तीन घंटे रही। मैंने उसे अनुभव किया। उसके बाद मैं उसके साथ व्यस्त न रही। मुझे पता नहीं क्या हुआ! लेकिन मैंने तुमसे उसके बारेमें दो शब्द कहे थे। और भी दो-तीन लोगोंसे उसके बारेमें बात की: उन सबने उसे अनुभव किया था, मतलब यह कि वह **बहुत** द्रव्यात्मक थी। उन सबने उसे यूं अनुभव किया: एक प्रकारका हर्ष, लेकिन मैत्रीपूर्ण हर्ष, शक्तिशाली, और... बहुत, बहुत कोमल, बहुत स्मितपूर्ण, **बहुत हितैषितापूर्ण**...। मुझे पता नहीं वह क्या है, मुझे पता नहीं कि वह क्या है, लेकिन वह एक प्रकारकी हितै-षिता है, इसलिये कोई ऐसी चीज है जो मनुष्यके बहुत नजदीक है। और वह इतनी ठोस थी, इतनी ठोस!! वह इतनी ठोस थी मानों उसमें स्वाद था। उसके बाद मैंने अपने-आपको उसमें व्यस्त नहीं रखा, बस, दो-तीन लोगोंके साथ उसके बारेमें बात की: उन सबने उसे अनुभव किया था। मुझे पता नहीं कि वह मिश्रित थी या... वह वापिस तो नहीं गयी। ऐसा नहीं लगा कि वह चीज वापिस जानेके लिये आयी थी।

मैं साधारणत: जिन चीजोंको अनुभव करती हूं, यह उनसे कहीं अधिक बाह्य थी, कहीं अधिक बाह्य थी... बहुत कम मानसिक, यानी, उसमें "वादे"की कोई भावना न थी, या... नहीं। वह बल्कि... मुझे ऐसा लगा कि कोई बहुत बड़ा व्यक्तित्व है — बहुत ही बड़ा, यानी, ऐसा जिसके लिये समस्त धरती छोटी-सी है, धरती इतनी छोटी (माताजी हथेली पर गेंद रखती हैं), गेंद जैसी — एक विशालकाय व्यक्तित्व, बहुत, बहुत सद्‌भावनापूर्ण, जो आता है... (माताजी हथेलीपरसे गेंदको बहुत धीमे-से उठाती हुई प्रतीत होती हैं)। उससे सगुण भगवान्‌की छाप पड़ती थी (और फिर भी... पता नहीं), सहायताके लिये जो आता है, इतना बलवान्, इतना बलवान् और साथ-ही-साथ इतना कोमल, सबको अपने आलिंगनमें भरता हुआ।

और वह बहुत बाह्य था : शरीरने उसे सब जगह अनुभव किया, सब जगह (माताजी अपने चेहरेको, हाथोंको छूती हैं), सब जगह।

वह क्या बन गया ? मुझे नहीं मालूम।

सालका प्रारंभ था। ऐसा था मानों कोई देवाकार (यानी, कोई) "शुभ नव वर्ष" की कामना करने आया था और उसमें वर्षको शुभ बनानेकी शक्ति थी। वह ऐसा था।

परंतु वह था क्या ?...

इतना ठोस...

मुझे पता नहीं।

वह... क्या वह व्यक्तित्व था (क्योंकि उसका कोई रूप न था, मैंने कोई रूप नहीं देखा, केवल वही था जिसे वह लेकर आया था [माताजी वातावरणको अनुभव करती हैं] संवेदन, भाव : ये दो, संवेदन और भाव), मैंने अपने-आपसे पूछा : क्या यह अतिमानसिक व्यक्तित्व नहीं है ?... जो आगे चलकर अपने-आपको द्रव्यात्मक शरीरोंमें अभिव्यक्त करेगा।

शरीर, यह शरीर उस क्षणसे अनुभव कर रहा है (वह चीज हर जगह बहुत गहराईमें पैठ गयी है), शरीर बहुत ज्यादा प्रसन्न है, कम घन है, प्रसन्न स्मितमय व्यापकतामें अधिक सजीव अनुभव करता है। उदाहरणके लिये, वह ज्यादा आसानीसे बोल रहा है। इसमें एक स्वर — सद्भावनाका एक सतत स्वर है। एक मुस्कान, हां, दया-भरी मुस्कान और यह सब **बड़ी शक्ति**के साथ... मुझे पता नहीं।

तुमने कुछ अनुभव नहीं किया ?

उस दिन मुझे संतोष अनुभव हो रहा था।

ओहो ! यह वही है, हां, यह वही है।

क्या यह अतिमानसिक व्यक्तित्व है ?... जो उन सबमें अवतरित होगा जिनके पास अतिमानसिक शरीर होगा...

वह दीप्तिमान, मुस्कराती हुई शक्तिके द्वारा सद्भावनापूर्ण थी। यानी, मनुष्यके अंदर सद्भावना एक दुर्बल चीज होती है, इस अर्थमें कि वह युद्धको पसंद नहीं करती, लड़ना नहीं चाहती; लेकिन यह दूसरा इस प्रकारका न था ! एक ऐसी सद्भावना जो बाधित करती है। (माताजी दोनों हाथोंकी मुट्ठियां कुरसीके हाथोंपर उतारती हैं।)

मुझे इसमें रस आया है क्योंकि यह बिलकुल नया है। और इतना ठोस ! इसकी तरह ठोस (माताजी अपनी कुरसीके हत्थेको छूती हैं), वैसा

ठोस जिसे भौतिक चेतना साधारणतः "और लोग" सोचती है। यानी, वह किसी आंतरिक सत्तामें, चैत्य सत्तामेंसे नहीं, **सीधा** शरीरपर आया था।

वह है क्या ? . . . हां, शायद वह है . . . जबसे वह आया है तबसे शरीर को एक निश्चितिकी अनुभूति है, एक ऐसी निश्चिति मानों अब उसे जाननेकी चिंता या अनिश्चिति नहीं है। शरीर अपने-आपसे पूछा करता था : "वह क्या होगा ? वह 'अतिमानस' कैसा होगा ? **भौतिक रूपमें**, भौतिक रूपमें वह कैसा होगा ?" अब वह इन बातोंके बारेमें नहीं सोचता। वह संतुष्ट है।

क्या वह कोई ऐसी चीज है जो उन शरीरोंमें व्याप्त हो जायगी जो तैयार हैं ?

हां, मेरा ख्याल है, हां। मुझे लगता है कि यह वह रूप है जो उन शरीरोंमें . . . जो अतिमानसके शरीर होंगे, प्रवेश करेगा — अपने-आपको प्रकट करेगा — प्रवेश करेगा और प्रकट करेगा।

या शायद . . . शायद अतिमानव, मुझे नहीं मालूम, दोनोंके बीच मध्यस्थ। शायद अतिमानव : वह बहुत ज्यादा मानवीय था परंतु, मुझे कहना चाहिये, दिव्य अनुपातोंमें मानव, है न।

एक ऐसा मानव जिसमें दुर्बलता और परछाइयां न थीं : वह सारा प्रकाश था — समस्त प्रकाश और स्मित . . . साथ ही मधुरता।

हां, शायद अतिमानव।

(मौन)

पता नहीं क्यों, पिछले कुछ क्षणोंसे मैं बराबर अपने-आपसे कह रहा हूं : जो लोग यह न जानते होंगे कि चीजें सचमुच कैसे हुई हैं, वे कहेंगे, जब अतिमानसिक शक्ति धरतीके वातावरण में और उनके अन्दर प्रविष्ट हो जायगी तो वे कहेंगे: "हां, इस सब कामका श्रेय हमें है।"

(माताजी हंसती हैं) हां, संभवतः।

यह हम, हमारी उत्कृष्ट मानवताका पुष्प है।

हां, निश्चय ही। हमेशा ऐसा होता है।

इसलिये मैं कहती हूं — मैं कहती हूं, आखिर हम सब, हममेंसे हर एक-को अंतमें सब कठिनाइयोंका सामना करना होगा, लेकिन यह भागवत कृपा है। क्योंकि अपनी ओरसे हम, हम जानते होंगे कि यह कैसे हो रहा है — और हम नेस्तनाबूद नहीं हो जायंगे, है न? हमें मालूम होगा कि चीज किस तरह की गयी थी।

प्रासंगिक (८ जनवरी, १९६९)

क्या मैंने तुम्हें बतलाया कि मैंने इस चेतनाको जान लिया है?

जब आप पिछली बार बोली थीं तो आपने जान लिया था।

हां, लेकिन मैंने कहा था "अतिमानसिक चेतना"।

और बादमें आपने जोड़ा था "शायद अतिमानव"।

हां, ऐसा ही है। यह अतिमानव चेतनाका अवतरण है। मुझे बादमें विश्वास हो गया।

पहली जनवरीको आधी रातके बादकी बात है। मैं सवेरे दो बजे जाग गयी। मैं ऐसी चेतनासे घिरी हुई थी जो बहुत ठोस और **नयी** थी, इस अर्थमें कि मैंने उसे पहले कभी नहीं अनुभव किया था। और वह दो-तीन घंटे ठोस रूपमें बनी रही और फिर फैल गयी, ऐसे लोगोंकी खोज-में गयी जो उसे ग्रहण कर सकते हों...। मैंने जाना कि यह अतिमानव-की चेतना थी, यानी, मनुष्य और अतिमानसिक सत्ताकी मध्यवर्ती सत्ता।

उसने शरीरको एक प्रकारका आश्वासन और विश्वास दिया है। उस अनुभूतिने शरीरको स्थिर बना दिया है और अगर यह सच्ची वृत्ति रख सके तो उसे सारी सहायता प्राप्त होगी।

प्रासंगिक (१८ जनवरी, १९६९)

अतिमानव चेतनाके अवतरणके बारेमें।

उस दिन जब 'क' आया . . . जैसे ही उसने प्रवेश किया (वहां खड़ा था वह), तो यह वातावरण यहांसे वहांतक (माताजी अपने सामने एक चक्र-सा बनाती हैं) आया और मुझे एक दीवारकी तरह घेर लिया। वह मोटा था, प्रकाशपूर्ण था और फिर शक्तिशाली था! मुझे वह दिखायी दे रहा था, वह बहुत अधिक द्रव्यात्मक था मानों इतनी मोटी (लगभग चालीस सेण्टीमीटरका संकेत) किलेकी दीवार हो। जबतक वह यहां रहा तबतक यह बनी रही।

और वह बहुत सचेतन रूपमें क्रियाशील थी।

वह मानों शक्तिका प्रक्षेपण था। अब वह सामान्य वस्तु बन गयी है।

उसके अंदर एक चेतना है — एक **बहुत ही** मूल्यवान वस्तु — जो शरीरको पाठ पढ़ाती है, उसे सिखाती है कि उसे क्या करना चाहिये, यानी, उसे कैसी वृत्ति अपनानी चाहिये, उसमें कैसी प्रतिक्रिया होनी चाहिये . . .। मैं तुमसे बहुत बार कह चुकी हूं कि जब कोई निर्देश देनेवाला न हो तो रूपांतरकी प्रक्रियाका पता लगाना बहुत कठिन है; तो यह मानों उसका उत्तर था: वह शरीरसे यह कहने आया: "यह वृत्ति अपनाओ, यह करो, वह इस तरह करो," और अब शरीर संतुष्ट है, वह पूरी तरह आश्वस्त है। अब वह कोई भूल नहीं कर सकता।

यह बहुत मजेदार है।

वह "पथ प्रदर्शक"की तरह आया — वह **व्यावहारिक** था, बिलकुल व्यावहारिक: "वह चीज, उसे त्यागना चाहिये; उसे स्वीकारना चाहिये; उसको व्यापक बना दो; वह . . ." सभी आंतरिक गतियां। और यह भी बहुत द्रव्यात्मक बन जाता है, इस अर्थमें कि वह कुछ स्पन्दनोंके बारेमें कहता है: "तुम्हें इसे प्रोत्साहन देना चाहिये," कुछ औरोंके लिये: "इसे सारणीबद्ध करना चाहिये," और फिर कुछके लिये: "उसे निकाल बाहर करना चाहिये . . ." इस तरहके छोटे-छोटे निर्देश।

(मौन)

किसी पुराने प्रश्नोत्तर में (जब मैं क्रीड़ांगणमें बोला करती थी), मैंने

कहा था : "निश्चय ही अतिमानव पहले शक्तिकी सत्ता होगा ताकि वह अपनी रक्षा कर सके।"[1] हां, वही बात है। वही अनुभूति है यह : यह अनुभूति बनकर वापिस आयी है और चूंकि यह अनुभूति बनकर लौटी है इसलिये मुझे याद हो आयी कि मैंने ऐसा कहा था।

जी हां, आपने कहा था कि पहले "शक्ति' आएगी।

हां, पहले 'शक्ति'।

क्योंकि उन सत्ताओंकी रक्षा करनी होगी।

हां, ठीक यही। हां, पहले मुझे इस शरीरके लिये ही अनुभव हुआ: वह किलेकी दीवारके रूपमें आया। वह चीज जबरदस्त थी! वह जबरदस्त शक्ति थी! दीखनेवाले कार्यकी तुलनामें अनुपातसे बाहर।

यह बहुत मजेदार है।

और फिर इसीलिये, अब जब मैं इस अनुभूतिको देखती हूं तो परिणाम अधिक यथार्थ और ठोस दिखायी देता है, क्योंकि मन और प्राण नहीं हैं,

---

[1]"इन तर्कोंसे ऐसा प्रतीत होता है कि (अतिमानसिक अभिव्यक्तिका) सबसे सुनिश्चित और स्पष्ट पहलू और वह एक जो — संभवत: — सबसे पहले प्रकाशमें आयगा, वह 'आनन्द' और 'सत्य' की अपेक्षा 'शक्ति'का पहलू अधिक होगा। क्योंकि नयी जातिके पृथ्वीपर स्थापित हो सकने और जीवित रह सकनेके लिये यह जरूरी होगा कि पृथ्वीके अन्य तत्त्वोंसे उसकी रक्षा की जाय; और शक्ति ही सुरक्षा है (कृत्रिम, बाह्य और झूठी शक्ति नहीं, बल्कि सच्चा बल, जयशाली 'संकल्प')। तो यह मानना असंभव नहीं है कि अतिमानसिक क्रिया सामंजस्य, ज्योति, आनन्द और सौंदर्यकी क्रिया होनेसे भी पहले शक्तिकी क्रिया होनी चाहिये ताकि वह सुरक्षा कर सके, स्वभावत: एक क्रियाको सचमुच प्रभावकारी हो सकनेके लिए 'ज्ञान', 'सत्य', 'प्रेम' और 'सामंजस्य' पर आधारित होना चाहिये; परंतु ये चीजें भी तभी अभिव्यक्त हो सकेंगी — प्रत्यक्ष रूपमें, थोड़ी-थोड़ी करके अभिव्यक्त होंगी — जब, यूं कहा जा सकता है कि आधार सर्व-समर्थ 'संकल्प' एवं 'शक्ति' की क्रियाद्वारा तैयार हो चुकेगा।"
(श्रीमातृवाणी, खण्ड ९; प्रश्न और उत्तर १९५७-५८; १८ दिसंबर; पृ० २२८)

क्योंकि उसका स्थान 'तत्' ले लेता ह। और जाननेके इस सारे शांत आश्वासनके बाद, जो साथ-ही-साथ आता है, बात मजेदार हो जाती है।

(मौन)

तुम्हें कुछ कहना है?

मैं अपने-आपसे पूछ रहा था कि यह चेतना व्यक्तिगत रूपमें कैसे काम करेगी? उदाहरणके लिये, आपके सिवाय किसीमें।

उसी तरह। केवल वे लोग जो अपने-आपको वस्तुनिष्ठ रूपमें देखनेके अभ्यस्त नहीं हैं वे कम देखते हैं, बस। वहां मानों वह रूईमेंसे गुजरती है, वह हमेशा ऐसा करती है, अन्यथा तरीका वही है।

मेरा मतलब यह है: यह [मनपर उतनी क्रिया नहीं करेगी जितनी शरीरपर?

मैं आशा करती हूं कि वह ठीक तरहसे विचार करवायेगी।

वास्तवमें यह पथ-प्रदर्शक है।

हां, यह पथ-प्रदर्शक है।

तो, यह चेतना है।

मेरे लिए भागवत चेतना अपने-आपको विशेष क्रिया-कलापतक सीमित रखती है, खास अवस्थाओंतक, परंतु वह सदा भागवत चेतना ही होती है; जैसे मानव चेतनामें वह अपने-आपको लगभग शून्यतक सीमित रखती है, इसी तरह सत्ताकी कुछ स्थितियोंमें, कुछ क्रियाओंमें वह अपने-आपको संभूतिकी कुछ विधियोंतक सीमित रखती है ताकि अपनी क्रियाको पूरा कर सके; और मैंने उसके लिये बहुत मांग की है: "मैं हर क्षण पथ-प्रदर्शन पाती रहूं," क्योंकि इससे बहुत समय बचता है, है न? बजाय इसके कि अध्ययन करना पड़े, अवलोकन करना पड़े . . .। तो अब मैं देखती हूं कि ऐसा ही हुआ।

(मौन)

जिन लोगोंने पहली तारीखको स्पर्श पाया था उनमें स्पष्ट परिवर्तन है: विशेष रूपसे...। वास्तवमें उनके सोचनेके ढंगमें एक यथार्थता, एक निश्चितिका प्रवेश हुआ है।

(चलनेसे पहले शिष्य प्रणाम करता है)

(माताजी हृदय-क्षेत्रको देखती हैं) वहां था। यह अजीब है, मानों मुझे यह काम सौंपा गया है कि जो मेरे नजदीक आयें उनका इसके साथ संपर्क करा दूं।

१५ फरवरी, १९६९

मैं पहले ही कह चुकी हूं कि यह (अतिमानवका) वातावरण और चेतना परामर्शदाताके रूपमें बहुत सक्रिय हैं। यह जारी है। पिछले दिनों, एक दिन बड़े सवेरे वह... शरीर कभी, कभी इतना प्रसन्न नहीं हुआ; संपूर्ण भागवत उपस्थिति थी, अबाध स्वाधीनता थी, और एक निश्चिति जिसका कोई महत्त्व न था: ये कोषाणु, अन्य कोषाणु (इस ओर, उस ओर, यानी, सभी शरीरोंको दिखाते हुए) सब जगह जीवन था, सब जगह चेतना थी। एकदम सद्वस्तु। यह बिना प्रयासके आयी और फिर चली गयी, क्योंकि ...मैं बहुत व्यस्त थी। और वह इच्छा करनेसे नहीं आ जाती — जो चीज इच्छा करनेपर आ जाती है उसे "नकल" कहा जा सकता है: उसमें रंग-रूप तो होता है, पर वास्तविक 'वस्तु' नहीं होती। 'वास्तविक वस्तु' ...जो हमारी अभीप्सा, हमारी इच्छा, हमारे प्रयास...से एकदम स्वतंत्र है। और यह वस्तु सर्वशक्तिमान मालूम होती है, इस अर्थमें कि तब शरीरकी कोई कठिनाई नहीं रहती। उस समय सब कुछ गायब हो जाता है। परंतु अभीप्सा, एकाग्रता, प्रयास...इससे कुछ नहीं बनता। वह **दिव्य संज्ञा है**, यह दिव्य संज्ञाकी प्राप्ति है। इन कुछ घंटोंमें (तीन या चार) मैं पूरी तरह समझ गयी कि शरीरमें दिव्य चेतना होना किसे कहते हैं। और तब इस शरीर, यहां यह शरीर, वहां वह शरीर (माताजी अपने इस ओर, उस ओर, चारों ओर इशारा करती हैं), इससे कुछ नहीं आता-जाता: वह एक शरीरसे दूसरेमें बिलकुल स्वाधीन रूपमें, निर्बाध रूपसे जाती-आती रही। वह हर शरीरकी सीमाओं और संभावनाओंको जानती थी — एकदम अद्भुत। मुझे इस तरहकी अनुभूति पहले कभी नहीं, कभी

नहीं हुई। एकदम अद्‌भुत। वह चली गयी, क्योंकि मैं इतनी व्यस्त थी ...। और वह केवल इस कारण नहीं चली गयी कि वह केवल यह दिखाने आयी थी कि वह कैसी है, — यह बात नहीं है; बल्कि इसलिये कि जीवन और जीवन-व्यवस्था तुम्हें हड़प लेते हैं।

मैं जानती हूं वह वहां है (पीछेकी ओर इशारा), मैं जानती हूं, पर ...। मैं जानती हूं वह रूपांतर है। और स्पष्ट रूपमें व्यक्ति, कोई अस्पष्ट चीज नहीं, स्पष्ट रूपमें, वह अपने-आपको इस व्यक्तिमें, उस व्यक्तिमें (इस ओर, उस ओर इशारा), पूरी तरह, स्पष्ट रूपमें प्रकट कर सकता है। एक 'मुस्कान' के साथ।

और तब स्वयं कोषाणुओंने रूपांतरित होनेके लिये अपने प्रयासके बारेमें बतलाया। और वहां 'स्थिर शांति' थी... कैसे समझाया जाय? शरीरने अपनी अभीप्सा और अपने-आपको तैयार करनेकी इच्छाके बारेमें कहा। शरीरने उसकी मांग नहीं की, वह होनेके लिये प्रयास किया जो उसे होना चाहिये। हमेशा इस प्रश्नके साथ (शरीर प्रश्न नहीं करता, उसके चारों तरफका वातावरण... परिवेश जगत्, मानों जगत् प्रश्न करता है) कि वह चलता रहेगा या विलीन हो जायगा? ... वह अपने-आप इस तरह है (आत्म-समर्पणकी मुद्रा, हथेलियां खुली हुईं), वह कहता है: "प्रभो, जैसी तेरी इच्छा।" परन्तु शरीर जानता है कि निश्चय किया जा चुका है, लेकिन वह शरीरको बतलानेकी बात नहीं है। वह स्वीकार करता है। वह अधीर नहीं है, वह स्वीकार करता है। वह कहता है: "यह बिलकुल ठीक है। जैसी तेरी इच्छा।" लेकिन 'वह' जो जानता है और 'वह' जो उत्तर नहीं देता... ऐसी चीज है जिसे समझाया नहीं, अभिव्यक्त किया जा सकता है... वह... हां, मेरा ख्याल है कि एकमात्र शब्द जो उस संवेदन-का वर्णन कर सकता है, वह है, एक निरपेक्ष — एक चरम। एक परम। यह वही है। संवेदन: निरपेक्षकी उपस्थितिमें सत्ता। चरम: चरम ज्ञान, चरम संकल्प और चरम शक्ति। हां, तो कोई चीज इसका प्रतिरोध नहीं कर सकती। और फिर, यह एक ऐसा चरम है जो (तुम्हें इस तरहका संवेदन होता है, ठोस), जो करुणासे भरपूर है! लेकिन उसके सामने जिसे हम दया या करुणा मानते हैं, वह पू... ह! कुछ भी नहीं है। यह निरपेक्ष शक्तिके साथ 'करुणा' है...। और यह 'प्रज्ञा' नहीं है, यह 'जानना' नहीं है, यह... इसका हमारी पद्धतिसे कोई संबंध नहीं है और फिर, 'वह' हर जगह है, हर जगह है 'वह'। और यह शरीरकी अनुभूति है। शरीर अपने-आपको 'उसे' पूरी तरह निवेदित कर देता है, पूरी तरह निवेदित करता है। वह कुछ नहीं मांगता — बिलकुल कुछ नहीं। केवल एक अभीप्सा

(खुली हुई हथेलियां ऊपरकी ओर, वही पहलेकी मुद्रा)। मैं 'वही' हो जाऊं जो 'वह' चाहे — 'उसकी'की सेवा करूं, इतना ही नहीं, वही **हो जाऊं**।

मगर यह अवस्था, जो कई घंटे रही, ऐसी सुखमय थी जिसका मैंने अपने ९१ वर्षके पार्थिव जीवनमें कभी अनुभव न किया था: स्वतंत्रता, निरपेक्ष शक्ति, कोई सीमा नहीं (यहां, वहां सब जगह इशारा), कोई सीमा नहीं, कुछ भी असंभव नहीं, कुछ भी नहीं। वह. . . अन्य सब शरीर, यही स्वयं था। कोई भेद न था। वह केवल चेतनाका खेल था जो चलता जा रहा था (विशाल 'लय' का संकेत)।

और बस।

(लंबा मौन)

इसके अलावा, काम बहुत ज्यादा "श्रमसाध्य" होता जा रहा है। लेकिन मैं अनुभव करती हूं (यानी, शरीर भली-भांति अनुभव करता है) कि यह प्रशिक्षणका भाग है।

ऐसा ही लगता है: शरीरको डटे रहना चाहिये अन्यथा, दुर्भाग्यवश, यह किसी और समयके लिये रहेगा।

सभी मानवीय बहाने बचकाने लगते हैं।

यह बड़ी अजीब बात है। मनुष्यके सभी गुण और सभी त्रुटियां बचकानी — मूर्खता-भरी लगती हैं। यह अजीब बात है। यह कोई विचार नहीं है। यह ठोस संवेदन है। यह निर्जीव द्रव्यकी तरह है। सभी सामान्य वस्तुएं जीवनहीन द्रव्य हैं, **सच्चे** जीवनसे वंचित। कृत्रिम और मिथ्या। यह अजीब है।

यह इतना अधिक औरोंमें नहीं है, यह बात नहीं है: यह एक आंतरिक प्रशिक्षण है। और यह सत्य 'चेतना', यह सत्य 'वृत्ति' एक ऐसी चीज है जो अ . . . त्यं . . . त बलवान है, इतनी मुस्कराती हुई **शांतिमें** शक्तिशाली है! इतनी मुस्कराती हुई कि व्यक्ति गुस्सा नहीं कर सकता, यह एकदम असंभव है. . . . इतनी मुस्कराती हुई, इतनी मस्कारती हुई . . . और देखती हुई।

(मौन)

इस नयी चेतनाकी खास विशिष्टता है: कोई अधकचरा काम नहीं, कोई "लगभग" नहीं। यह उसकी विशेषता है। यह विचार: "हां, हम इसे करेंगे और थोड़ा-थोड़ा करके हम . . ." — नहीं, नहीं, ऐसा

नहीं: या तो "हां" या "नहीं"। या तो तुम कर सकते हो या नहीं।

(मौन)

सचमुच यह मानों भागवत कृपा है: समय न खोना...समय न खोना। या तो उसे किया जाय या...

लेकिन यह दुर्जेय 'शक्ति', सबसे बढ़कर यही है: और वह करुणासे भरी है! भद्रतासे भरी है!... नहीं, कोई शब्द नहीं है, हमारे पास ऐसे शब्द नहीं हैं जो उसका वर्णन कर सकें। कुछ...और कुछ नहीं, नहीं, सिर्फ एकाग्र रहना और...वह आनन्दपूर्ण है। कुछ नहीं, केवल अपने ध्यानको उस दिशामें मोड़ना, तुरन्त, वहीं आनन्द है। और मैं समझती हूं (इसने मुझे अमुक चीजें समझा दी हैं), ऐसे लोगोंके बारेमें कहा जाता था जो अत्यधिक उत्पीड़नके बीच आनन्दका अनुभव करते थे — यह वैसा है, एक आनन्द।

यह लो, यही है (माताजी 'भागवत कृपा' नामक फूल देती हैं)।

प्रासंगिक (२२ फरवरी, १९६९)

२१ फरवरीके संदेशके बारेमें:

"केवल अक्षर शांति ही सत्ताकी नित्यताको संभव बना सकती है।"

मुझे याद है कि मैंने यह तब लिखा था जब यह अनुभूति हुई कि 'निश्चेतना'की निश्चलता, सृष्टिका आदि (हम इसे "प्रक्षेपण" भी नहीं कह सकते, लेकिन) एक प्रकारसे 'नित्यता', 'अमरता'का निर्जीव या निश्चेतन प्रतीक है — यह "निश्चलता" नहीं है। शब्दोंका मूल्य कुछ नहीं, यह निश्चलता और स्थिरताके बीच है। मैंने यहां "शांति" लिखा है, लेकिन "शांति" एक अपर्याप्त शब्द है। यह वह नहीं है। यह शांतिसे अनन्त-गुना बढ़कर है। वह "कुछ" है ("नित्य" शब्दका अर्थ भी सीमित है। सभी शब्द असंभव हैं), कुछ चीज सभी चीजोंकी और अभिव्यक्तिकी 'आदि' स्रोत है। अभिव्यक्तिके 'आदि'के साथ फिरसे मिलनेके विकासका

आरंभ है (माताजी दो-एक गोलाकार बनाती हैं जो एकको दूसरेसे जोड़ता है)।

मुझे लगता है कि "खेलके मैदान" में यह अन्तर्दर्शन हुआ था, मानों निश्चेतन निश्चलता — 'निश्चेतन' की निश्चलता, 'निश्चेतन'की जड़ निश्चलता — विकासके आरंभ-बिन्दु थे और उसका **अनुवाद** था... कैसे कहा जाय? (यह भी एक और प्रकारकी निश्चलता है! लेकिन ऐसी निश्चलता जिसमें सभी गतियां आ जाती हैं) 'मूल स्रोत'की निश्चलता, यह स्थायित्व, और यह सारा विकास 'उसी' को फिरसे पानेके लिये है, उसके साथ ही सारा मार्ग भी था (वक्रगतिकी वही मुद्रा)। वह बहुत स्पष्ट अन्तर्दर्शन था। मुझे याद पड़ता है कि मैंने यह लिखा था। जब मैंने इसे पढ़ा तो वह अनुभूति वापस आ गयी। हां, हम हमेशा "पतन" की बात करते हैं — लेकिन यह वह नहीं है! यह वह बिलकुल नहीं है। अगर कोई पतन हुआ तो उस समय जब प्राणने स्वतंत्र होनेका संकल्प किया: यह आरंभमें नहीं था। यह बिलकुल मार्गपर था...। प्राचीन परंपराके अनुसार 'चेतना' 'निश्चेतना' बन गयी क्योंकि वह 'स्रोत'से कट गयी — यह मुझे ऐसा लगता है जैसे बच्चोंसे कही गयी कहानियां।

अजीब बात है। नीरवता और अन्तर्दर्शनमें यह बहुत स्पष्ट होता है, बहुत ज्योतिर्मय और बोधगम्य; लेकिन जैसे ही तुम उसे सुनाना चाहो वह मूर्खता बन जाता है।

लेकिन सृष्टिमें जैसी कि वह अब भी है, यह सच है "शांति" शब्द शायद निकटतम है (यद्यपि यह वह नहीं है, यह बिलकुल छोटा और संकुचित है, पर वह नहीं है), जैसे ही कोई चीज बिगड़ जाती है या अव्यवस्थित हो जाती है, वैसे ही **यह** (यह शांति) उपचारके रूपमें अंदर आ जाती है।

(मौन)

उफ! शब्दोंका मूल्य कुछ भी नहीं होता, पता नहीं कैसे काम चलाया जाय। मुझे नहीं मालूम कि यह इस कारण है कि मेरे पास काफी शब्द नहीं हैं या सचमुच... सारी मानसिक अभिव्यक्ति कृत्रिम मालूम होती है। वह निर्जीव झिल्ली-सी मालूम होती है। यह अजीब है। और भाषा पूरी तरह उसी क्षेत्रकी चीज है। जब मैं तुम्हें इस अनुभूतिके बारेमें बताना चाहती हूं... कुछ लोगोंके साथ मेरा संबंध बहुत, बहुत अच्छी तरह जुड़ जाता है, बहुत आसानीसे, नीरवतामें संबंध जुड़ता है और मैं उन्हें शब्दोंमें जितनी बातें बता पाती उससे कहीं अधिक बता देती हूं; यह अधिक लचीला, अधिक यथार्थ और अधिक गहरा होता है...। लेकिन शब्द,

वाक्य, लिखित बातें मेरे ऊपर ऐसा प्रभाव डालती हैं मानों दो आयाम-वाला चित्र हो, एक साधारण-सा चित्र; और लोगोंके साथ मेरा जो संपर्क उस समय बनता है जब मैं बातें नहीं करती, तो वह गहराई ले आता है, वह ज्यादा सच्ची चीज होती है (वह बिलकुल सत्य नहीं होता, उससे बहुत दूर होता है, फिर भी अधिक सत्य होता है), उसमें गहराई होती है।

(मौन)

इसीलिये अनुभूतियोंका सुनाना कठिन है, वे अलग किए गए अनुभव नहीं हैं, और वे एकके बाद एक आनेवाले पृथक् अनुभव नहीं होते। यह रूपांतरकी एक गोल व्यापक गति होती है (गोलाईकी मुद्रा), और उसमें बहुत तीव्रता होती है।

जीवनकी सामान्य क्रियामें: "सब ठीक-ठाक"की भावना होती है जो लोगोंमें अपने-आपको अपने स्वास्थ्यके रूपमें प्रकट करती है, और फिर, संतुलनका अभाव, व्यवस्थाका अभाव; और यह विरोध, ये सब बिलकुल कृत्रिम प्रतीत होते हैं: यह एक लगातार गति है जो एक प्रकारके स्पन्दन-से दूसरे प्रकारके स्पन्दनमें बदल जाती है, जिसका मूल स्रोत (कैसे कहा जाय? अधिक "गहरा" नहीं, "अधिक ऊंचा" भी नहीं, "अधिक सत्य" भी नहीं होता, वह केवल एक पक्ष दिखाता है, यह वह नहीं है) आखिर किसी रूपमें "श्रेष्ठ" --- शब्द मूर्खतापूर्ण होते हैं, एकदम मूर्खतापूर्ण। यह ऐसा है, सारे समय ऐसा रहता है (लगातार गति)। और तुम एक या दूसरे स्थलकी ओर खिंचते हो; यह केवल हमारी चेतनाका खेल है। लेकिन जो चेतना समग्रको देख सकती है उसके लिये यह लगातार गति है और व्यापक . . . की दिशामें। हां, यह वही है, ताकि यह जड़ 'निश्चेतना' चरम चेतना बन जाय . . .। पता नहीं, मुझे धुंधली-सी याद है कि इसकी शोधकी जा चुकी है (यहां धरतीपर, धरतीपर ही, इसी धरतीपर) कि गतिकी अमुक तीव्रता (जिसे हम "तेजी" कहते हैं) गतिशून्यताका संस्कार पैदा करती है। मुझे धुंधली-सी याद है कि मुझे यह बताया गया था। लेकिन यह किसी चीजके अनुरूप है। इस संदेशमें मैं जिसे "शांति" कहती हूं, जो शांति मालूम होती है वह गतिकी पराकाष्ठा है, परंतु व्यापक --- सामंजस्यपूर्ण, व्यापक।

जैसे ही तुम बोलते हो, वह व्यंग्य चित्र-सा दीखने लगता है।

(लंबा मौन)

मैं मौनके साथ ही समाप्त करूंगी!

मैं आशा करता हूं कि ऐसा न होगा।

(माताजी हंसती हैं) लेकिन यह सब इतना तुच्छ है।

बादमें, हम रंगोंमें बातचीत करेंगे।

ओह! वह सुंदर होगा...

चीज यहांतक पहुंचती है कि जब मुझसे कोई बात कही जाती है, उदाहरणके लिये, जब मेरी कही हुई कोई बात मेरे आगे दोहरायी जाती है, तो मैं उसे नहीं समझ पाती!... मैं पूरा प्रयत्न करती हूं, लेकिन चेतना अपनी समस्त तीव्रताके साथ अपने-आपको अभिव्यक्त करना चाहती है, और जब उसे दोहराया जाता है तो उसमें वह तीव्रता नहीं होती, उसमें कोई अर्थ नहीं रहता।

जब आज यह संदेश मुझे पढ़कर सुनाया गया तो अनुभूति वापिस आ गयी, इसलिये मैं जानती हूं कि वह कैसा था। और "शांति" शब्दमें कितना कुछ था!... अब वह नहीं रहा।

मैंने किस शब्दका प्रयोग किया था?

जी हां, शांति।

अक्षर?

जी: "केवल अक्षर शांति....."

हां, तब अनुभूति यह हुई कि यह अक्षर शांति (जो न "शांति" थी और न "अक्षर"! बल्कि "कुछ" थी), यही 'कुछ' निश्चेतन जड़तामें था। और यह इतनी ठोस थी!... सृष्टिका सारा चक्र था वहां ताकि यह और 'वह' एक प्रतीत हों (लेकिन वह एक **है** — वह एक है)। कहा जा सकता है (लेकिन ये फिर वाक्य बन जाते हैं, ये वाक्य हैं): अपने तादात्म्यसे सचेतन हो जायं। लेकिन यह एक वाक्य ही है।

(लंबा मौन)

अनुभूति इतनी तीव्रताके साथ ठोस है कि जैसे ही मैं बोलना शुरू करती हूं कि वह उत्तर आती है। वहां (ऊपरकी ओर इशारा) चेतना स्पष्ट है और फिर...

१७ मई, १९६९

क्या यह संभव है कि मृत्युके बाद व्यक्तित्वका लोप हो जाय ?

व्यक्तित्वके बारेमें ये धारणाएं...मेरे लिये वे बहुत ज्यादा बदल गयी हैं, बहुत ज्यादा। आज ही सारे सवेरे...लेकिन एक लंबे अरसेसे, लगभग एक महीनेसे चीज कुछ और रही है।

जब लोग व्यक्तित्वकी बात करते हैं तो मानों हमेशा...कम-से-कम पृष्ठ-भूमिमें, कुछ अलगाव, यानी, स्वतंत्र रूपसे रहनेवाली कोई चीज, जिसकी अपनी नियति है; लेकिन अब, जैसा कि इस शरीरमें स्थित चेतना जानती है यह "किसी चीज"के लगभग स्पन्दनके जैसा है जिसकी **अभीके लिये** अलग क्रिया है, परंतु गहराईमें, मूल तत्त्वमें सदा एक; मानों कोई चीज इस तरह प्रक्षिप्त हो रही हो (विस्तारका संकेत), अभीके लिये एक रूप-में है (संकुचित होनेकी मुद्रा), और फिर...अपनी इच्छाके अनुसार रूप-को रद कर सकती है। इसे समझाना बहुत कठिन है, लेकिन स्थायी विभाजनकी भावना बिलकुल गायब हो गयी है, एकदम गायब हो गयी है। यह विश्व (स्पन्दनकी मुद्रा) परम चेतनाका बाह्य रूप लेना है; समग्र अन्तर्दर्शनके लिये हमारी अक्षमता ही हमें स्थिरताका संवेदन देती है: वह है नहीं, वह स्पन्दनकी तरह है या...। तथ्य यह है कि यह रूपोंका खेल है—सत्ता केवल **एक** है। केवल एक ही सत्ता है, केवल एक, एक 'चेतना', एक 'सत्ता'। अलगाव वास्तवमें...मुझे नहीं मालूम क्या हुआ था। उसीने सारी शरारत की है—सारा दुःख, सारा दैन्य...। यह शरीर अभी, कुछ दिनके लिये अनुभूतियोंके एक क्रममेंसे गुजरा है (वर्णन करनेके लिये वह बहुत लंबा है), यह चेतनाकी उन सभी अवस्थाओंमेंसे गुजरा है जिनमेंसे गुजरा जा सकता है। इस भावसे लेकर कि यह द्रव्य (माताजी अपनी त्वचाको उंगलियोंमें लेती हैं) ही एकमात्र सत्य है, जड़ द्रव्यको एकमात्र सद्वस्तु माननेके परिणामस्वरूप समस्त दुःख-

दैन्य, हां, वह सब (वही मुद्रा) और वहांसे लेकर मोक्षतक, सभी अवस्थाओंमेंसे गुजरा है। घंटे-पर-घंटे परिश्रम होता था।

लेकिन इससे भी पहले कोषाणुओंकी चेतनाने एकताको — **सत्य** तत्त्वगत एकताको — अनुभव कर लिया था। अगर इस प्रकारकी भ्रांति गायब हो जाय तो वह समग्र ऐक्य **बन सकता है**। वास्तवमें, जिस भ्रांतिने दैन्यको जन्म दिया है, वह इतनी तीव्रताके साथ जीवनमें आयी कि उसके साथ समस्त विभीषिकाएं और घृणित, भयावनी चीजें आयीं जिनकी वह मानव चेतना और धरतीके जीवनमें रचना करती है...। ऐसी चीजें थीं... भयंकर। और तुरंत बाद — उसके एकदम बाद — मोक्ष।

लेकिन अभी जो जीना बाकी है, यानी, जो अनुभूति अभी चरितार्थ करनी है... सृष्टिका, द्रव्यका अगला कदम — सत्य चेतनाकी ओर लौटनेका अगला कदम। वह है...

यह निश्चित मालूम होता है कि आरंभके जैसी कुछ चीज, परीक्षणके लिये अनुभूति शुरू होनेवाली है (माताजी अपने शरीरको छूती हैं)।

यह श्रद्धाकी तीव्रताका प्रश्न है और यह श्रद्धा जिसे जीती है उसे सहन करनेकी शक्तिका प्रश्न है। सब कुछ आवश्यक अनुभूतियोंमेंसे गुजर सकनेकी क्षमताका प्रश्न है।

बहरहाल, सभी पुरानी धारणाएं, चीजोंको समझनेके पुराने तरीके, ये सब चले गये, हमेशाके लिये चले गये, बिलकुल जा चुके हैं।

और यह आवश्यक रूपसे, लौटनेका मार्ग है; इसमेंसे गुजरना जरूरी था, अभी और गुजरना है — लेकिन उसी चीजमेंसे नहीं — अभी और आगे बढ़ते जाना है, यहांतक कि... यहांतक कि वह 'सत्य' जीनेके योग्य हो जाय। पता नहीं, लगता तो है कि वह जितनी तेजीसे बढ़ा जा सकता है बढ़ रहा है; वास्तवमें, भागवत चेतना काममें लगी है और जितना संभव है उतनी तेजीसे हमें आगे बढ़ा रही है। अब इधर-उधर देर लगाने या ऊंघनेका समय नहीं है।

(लंबा मौन)

> **लेकिन व्यक्तित्वसे मेरा मतलब अहंकार नहीं है। मेरा मतलब है, कोई ऐसी चीज जो समस्त जीवनोंमें एक रहती है, एक ही चीज जो सभी जीवनोंमें प्रगति करती है, अपने विकासका अनुसरण करती है।**

वही तो परम पुरुष है।

जी हां, लेकिन कुछ चीज है जो....

वह है परम पुरुष जो अपने बारेमें सचेतन है...

जी, हां।

... आंशिक रूपमें।

हां, यही है। कोई चीज है...

अपने बारेमें आंशिक रूपसे सचेतन परम पुरुष।

जो विकासके एक मार्गका अनुसरण करता है।

हां, यही पद्धति है।
विकासके लिये इस पद्धतिका उपयोग होता है।

जी हां, मैं उसीको व्यक्तित्व कह रहा हूं।

यह तो मालूम है। यही पद्धति है, यही सृष्टिकी पद्धति रही है। चूंकि यह सृष्टिकी पद्धति थी इसीलिये लोगोंने इसे भ्रमवश...

अलगाव।

अलगाव, अहंकार।
यह तो स्पष्ट ही है (यह "कुछ चीज" जो बनी रहती है)। वह बना रहता है। वह गायब नहीं हो सकता।

(मौन)

मुझे पता नहीं क्या होनेवाला है!
शरीरको अपनी चिंता बिलकुल नहीं है। वह ऐसे है (माताजी हाथ

पसारती हैं), सारे समय: "जो तेरी इच्छा हो, प्रभो, जो तेरी इच्छा हो ..." और मुस्कान तथा पूर्ण आनंदके साथ — इस तरह, इस तरह (माताजी दुनियाके इस पार या उस पार, किसी भी ओरका संकेत करती हैं)...आश्चर्यकी बात है, उसे एक ऐसी चेतना दी गयी है जिसका समयसे कोई संबंध नहीं है। समझे तुम? इसमें "जब यह नहीं था या जब वह नहीं रहेगा" का भाव नहीं रहा — यह ऐसा नहीं है, यह पूरी तरह गतिशील चीज है। लेकिन सचमुच यह बहुत मजेदार है। और सब, सभी प्रतिक्रियाएं, वेदन, संवेदन, सब बिलकुल बदल गये हैं। रंग-रूपमें भी बदल गये हैं। यह एक भिन्न वस्तु है।

वे अवस्थाएं जिनमें मनुष्य अपनी उच्चतम चेतनामें हो सकता है, वे जो एक करती हैं, जो अपने-आप उस परम चेतनाके साथ एक थीं, जो सबकी चेतनाको अधिकारमें रखती हैं, — वही अवस्था शरीरकी स्वाभाविक अवस्था हो गयी है। प्रयासहीन, सहज: इससे भिन्न हो ही नहीं सकती। तो क्या होनेवाला है वह कैसे अनूदित होगा? मैं नहीं जानती।

यह सभी आदतोंके विपरीत है।

यह क्या चेतना जानती है कि उसे भौतिक रूपसे क्या करना है? ... मुझे पता नहीं। लेकिन शरीर इसकी चिंता नहीं करता। वह क्षण-क्षण वही करता है जो उसे करना है, कोई प्रश्न नहीं करता। कोई झंझट नहीं करता। कोई योजना नहीं, कुछ नहीं, कुछ नहीं।

तो बात ऐसी है।

देखें, मजेदार है।

२४ मई, १९६९

यह कठिन है... **यह कोई मजाक नहीं है**।...हर चीज, हर चीज, अव्यवस्थित होती जा रही है, हर चीज अव्यवस्थित होती जा रही है। लेकिन हम भली-भांति देख सकते हैं कि यह अव्यवस्था एक उच्चतर व्यवस्था**की ओर** गति कर रही है, यानी, एक विस्तार, एक मुक्ति — यह सच है...। लेकिन कुछ भी, कुछ भी सामान्य ढंगसे नहीं हो रहा।

(मौन)

शरीर चेतनाकी एक ऐसी अवस्थामें पहुंच गया है जिसमें वह जानता है कि मृत्यु एक परिवर्तन ला सकती है, लेकिन — यह तिरोभाव, (चेतना का तिरोभाव) नहीं है। तो जन-साधारणकी बहुत बड़ी संख्याका यह विचार : मृत्यु-विश्राम . . . (माताजी मुंहपर हाथ रख लेती हैं, मानों यह बहुत बड़ी बेवकूफी हो), यह सांत्वना भी नहीं। अधिकतर लोगोंके लिये तो यह विश्रामका उलटा है। और वहां भी, एक अधिक तेज, और तीव्र रूपमें : "केवल एक, बस अकेली, **एक ही** आशा है . . . हे प्रभो, तू बस, तू हो जाना। केवल तू ही है, यह विभाजन, यह विभेद गायब हो जाय। यह भयानक है! वह गायब हो जाय ताकि जैसा तू चाहता है वैसा वह बने। पूरी सक्रियतामें स्वयं तू या फिर, तू ही पूर्ण विश्राममें, उसका कोई महत्त्व नहीं है; इस ओर हो या उस ओर, उसका कोई महत्त्व नहीं है, बिलकुल कोई महत्त्व नहीं है। महत्त्वपूर्ण बस यही है कि यह स्वयं तू है।"

यह पूर्ण **निश्चिति** है (माताजी दोनों मुट्ठियां बंद कर लेती हैं) कि बाहर निकलनेका बस **एक** ही दरवाजा है, केवल **एक** — बस एक ही — कोई दूसरा नहीं, इसमें कोई चुनाव नहीं है, कई संभावनाएं नहीं हैं, बस केवल एक . . . परम 'द्वार' चमत्कारोंका 'चमत्कार'। बाकी सब . . . बाकी, सब वह संभव नहीं है।

और वह सब, इसका (माताजी अपने शरीरकी ओर इशारा करती हैं) अनुभव है, यह मानसिक नहीं है। यह बिलकुल, बिलकुल भौतिक है।

मैं देख रही हूं, क्योंकि लोगोंकी चेतना मेरे आगे खुली हुई है (कोई भेद नहीं है, वह बिलकुल खुली हुई है)। अतः मैं देख रही हूं : अधिकतर लोगोंमें, अधिकतरमें, जब चीजें सचमुच बहुत कष्टदायक हो जाती हैं तो यह विचार आता है : "ओह! (हमेशा ऐसा ही विचार आता है) ओह, एक दिम यह सब समाप्त हो जायगा" — क्या बेवकूफी है!

(मौन)

लेकिन क्यों? क्यों . . . समय-समयपर शरीरको चिंता होती है : क्यों? क्यों, क्यों, यह सब क्यों? . . . जब वह दुःखके साथ, लोगोंके साथ, कठिनाइयों-और दीनताओंके साथ संपर्कमें होता है तो क्यों? क्यों? . . . क्यों?

चूंकि यह सृष्टि अद्भुत बन सकती है, परम चेतनाके साथ एक हो सकती है तो फिर इस सबकी जरूरत ही क्या थी? (माताजी एक चक्र बनाती हैं जो घूमकर अपने आरंभ-बिन्दुपर आ जाता है)।

समय-समयपर उसे यह होता है।

स्पष्ट है कि यह निरर्थक है, क्योंकि इससे कोई काम नहीं बनता — यह ऐसा है, यह ऐसा है। समस्त 'क्यों' उसे ऐसा होनेसे रोक न सकेंगे। हमें बस इतना ही करना है कि ऐसे उपाय ढूंढ निकालें जिनसे वह ऐसा न रहे। बस यही ।

(मौन)

मैं हमेशा बुद्ध और उन सबके बारेमें सोचती हूं: सब प्रभुमें विलीन हो जायंगे और तब कुछ भी न बचेगा। (माताजी अपना सिर दोनों हाथोंमें ले लेती हैं।)

इसलिये अपने सिद्धांतको कुछ-कुछ सत्य जैसा दिखलानेके लिये वे कहते हैं (हंसते हुए) कि यह "भ्रांति" है। वे अपने सिद्धांतका बेतुकापन नहीं देखते, मानों परम प्रभु भी भूल कर सकते हैं... और उन्हें बस पछताना और उसे वापिस लेना है।

इन लोगोंके बारेमें, ये सभी लोग जितने ज्यादा विश्वस्त होते हैं उतना ही अधिक यह लगता है कि उन्होंने अपनी आंखोंपर अंधेरी लगा ली है।

(मौन)

लेकिन, वास्तवमें आपका शरीर समस्त पृथ्वीका प्रतीक है।

लगता तो ऐसा ही है।

इसलिये, हर चीज आपके पास शुद्ध होनेके लिये आती है।

लेकिन इससे मुझे सांत्वना नहीं मिलती।

जी हां, लेकिन मुझे लगता है कि अगर कोई चीज, चाहे कुछ भी हो, एक बार आपको छू ले तो वह जगत्‌में जैसी-की-वैसी वापिस नहीं जा सकती।

लगता तो ऐसा ही है, हमेशा असाधारण चीजें होती रहती हैं। सारे

समय, सारे समय, हर मिनट, मैं ऐसी चीजोंके बारेमें सुनती हूं जो सचमुच असाधारण हैं।

लेकिन इससे इस शरीरको कोई सांत्वना नहीं मिलती...। उसमें उस तरहका आत्म-सम्मान नहीं है।

जी, लेकिन उससे कुछ काम तो बनता ही है।

आह! हां।

वह शुद्ध करता है — उसे सारे संसारको शुद्ध करना चाहिये।

उसे उसकी शुद्धिकी कोई चिंता नहीं है...। पता नहीं कैसे समझाया जाय...वह रात-दिन, बिना व्यवधानके: "जैसी तेरी इच्छा, हे प्रभो, जैसी तेरी इच्छा,..." हां, "जैसी तेरी इच्छा," "जैसा तू चाहे" नहीं, क्योंकि यह केवल ऐसा नहीं है (अंदरकी ओर संकेत), वह ऐसा भी है (बाहरकी ओर, "फैला हुआ" का संकेत), "जैसी तेरी इच्छा, जो तू चाहे," और बस। यह अवस्था निरंतर रहती है।

(मौन)

बहरहाल (यह बहुत स्पष्ट है), जो चेतना उसके परिश्रममें सहायता करनेमें लगी है, उसने अच्छी तरह समझा दिया है कि चले जाना कोई समाधान नहीं है। अगर उसमें पहले यह जाननेकी उत्सुकता भी थी कि क्या होगा तो वह उत्सुकता जा चुकी है और फिर बने रहनेकी इच्छा, वह भी बहुत पहले जा चुकी है; जब वह बहुत...जरा दम घोटनेवाली स्थिति हो तो चले जानेकी इच्छाकी संभावना भी इस विचारके साथ चली गयी कि इससे कोई परिवर्तन न आयेगा। अतः उसके लिये बस एक ही चीज बच रही है, अपनी स्वीकृतिको और पूर्ण बनाये। बस, इतना ही।

२८ मई, १९६९

बस, एक ही समाधान है : शरीरका परम पुरुषके साथ सीधा संबंध। यही एक चीज है।

बस यही।

लेकिन शरीरके कोषाणु . . . (पता नहीं यह इस शरीरकी ही विशेष बात है, मैं यह नहीं मान सकती कि यह शरीर इतना अपवादिक है) उन्हें **पूरा पक्का** विश्वास है, वे प्रयास करते हैं, वे प्रयास करते हैं, सारे समय, सारे समय, सारे समय प्रयास करते हैं, हर दैन्यके आनेपर, हर कठिनाईमें, हर . . .। बस, एक ही समाधान है — एक ही चीज है : "तू, केवल तू, तेरे ही प्रति — केवल तेरा ही अस्तित्व है।" इसीका अनुवाद लोगोंकी चेतनामें, बौद्ध लोगों तथा दूसरोंकी चेतनामें इस तरह हुआ है कि जगत् भ्रांति है, परंतु यह आधा अनुवाद है।

सच्चा समाधान तो यह है : "तेरा ही अस्तित्व है, बस, तू ही . . ." बाकी सब, बाकी सब दैन्य, दैन्य, दु:ख . . . अंधकार।

शायद, शायद वह . . .स्पष्ट है कि श्रीअरविंदकी दृष्टिसे अतिमन इस सब दैन्यसे अलग है।

बस, केवल 'वही' है। अन्यथा कठिन है।

शायद अब अधकचरे उपायोंसे काम न चलेगा . . .। पता नहीं, शायद उनके निश्चित आधारपर डटनेका समय आ गया है।

जहांतक इस शरीरका प्रश्न है वह डटा हुआ है। लेकिन मेरा ख्याल था कि . . . इसके लिये व्यक्तिको बहुत, बहुत सहनशील, बहुत ज्यादा सहनशील होना चाहिये। इसीलिये मैंने औरोंको यह करनेके लिये प्रेरणा नहीं दी। लेकिन इस सारेका मतलब यह मालूम होता है कि **अब समय आ गया** है। मुझे पता नहीं।

३१ मई, १९६९

परसों रात मैं तीन घंटेसे अधिक श्रीअरविंदके साथ रही। और मैं उन्हें वह सब बता रही थी जो ओरोवीलके लिये आनेवाला है। बड़ी मजेदार चीज थी। खेल-कूद थे, कला थी, वहां पकानेका काम भी था! परंतु वह सब बहुत प्रतीकात्मक था। मैं मानों एक बहुत बड़े भूदृश्य-के आगे, मानों एक मेजपर उन्हें यह सब समझा रही थी; मैं उन्हें यह बतला रही थी कि शारीरिक व्यायाम और खेल-कूदकी व्यवस्था किस सिद्धांतपर की जायगी। वह बिलकुल स्पष्ट था, बिलकुल यथार्थ था। मैं मानों एक प्रदर्शन कर रही थी। मैं उन्हें एक छोटे पैमानेपर, जो होनेवाला है उसका छोटा-सा प्रतिरूप दिखा रही थी। मैं चीजोंको और मनुष्योंको इधरसे उधर कर रही थी (शतरंजके मुहरोंको इधर-उधर करनेकी मुद्रा)। वह बहुत मजेदार था और उन्हें भी मजा आ रहा था: वे संगठनके सामान्य सिद्धांत बतला रहे थे (पता नहीं, इसे कैसे समझाया जाय)। वहां कला थी, और बहुत सुन्दर थी। काफी अच्छी थी। भवन-निर्माणके किस सिद्धांतपर, मकानोंको किस तरह मनोहर और सुन्दर बनाया जाय। और फिर रसोईघर भी था, यह ऐसा रोचक था। हर एक अपना अन्वेषण लेकर आया है...। यह तीन घंटेसे ज्यादातक चलता रहा — रातके तीन घंटे, यह बहुत विशाल था! बहुत मजेदार।

> **फिर भी, धरतीकी परिस्थितियां इस सबसे बहुत दूर मालूम होती हैं.......**

(कुछ हिचकिचाहटके बाद) नहीं...वह यहीं तो था, वह धरतीके लिये "पराया" नहीं लगा। वह सामंजस्य था। चीजोंके पीछे एक सचेतन सामंजस्य: शारीरिक व्यायामों और खेल-कूदके पीछे एक सचेतन सामंजस्य; साज-सज्जा और कलाके पीछे एक सचेतन सामंजस्य; भोजनके पीछे एक सचेतन सामंजस्य...

> **मेरा मतलब है कि यह सब इस समय धरतीपर जो कुछ है उससे एकदम उलटा है।**

नहीं...

नहीं ?

मैं आज 'क' से मिली थी . . . मैं उससे कह रही थी कि कला, खेल-कूद, भोजन आदि सब चीजोंके लिये पूरी व्यवस्था और संगठन सूक्ष्म जगत्में तैयार है — नीचे आने और शरीर धारण करनेके लिये तैयार है — मैंने उससे कहा : "बस, जरूरत है मुट्ठी-भर मिट्टीकी (अंजलि-सी बनाते हुए), एक मुट्ठी-भर मिट्टीकी जरूरत है जहां पौधा उग सके . . . । हमें मुट्ठी-भर मिट्टी खोजनी चाहिये ताकि यह पनप सके . . . ।"

(मौन)

मालूम नहीं यह ठीक बोध है या नहीं, पर कई महीनोंसे मुझे ऐसा लगता है कि इससे पहले धरती कभी इतने अंधकारमें नहीं रही। मुझे लगता है कि यह दुर्जेय अंधकार है।

हां, हां, दोनों चीजें हैं। यह सच है। **संभ्रांति** — यह संभ्रांति ही है, — अंधकारमय संभ्रांति, हां। अंधकारमय अस्तव्यस्तता, लेकिन यह तो श्रीअरविंद हमेशा कहते आये हैं : ज्योतिके उदयसे पहले संभ्रांति हमेशा ही और भी ज्यादा घनी और अंधकारमय हो जाती है। यह ऐसा ही है। यह अंधकारमय संभ्रांति प्रतीत होती है। और चीनी लोग . . .

माताजी, क्या आप जानती हैं कि आजकल पश्चिममें माओ-त्से-तुंगकी पुस्तकें सबसे ज्यादा प्रभाव डाल रही हैं। (केवल प्रभाव ही नहीं, बल्कि युवा पीढ़ी उन्हें पढ़ती और निगलती है।)

क्या कहता है वह आदमी ?

वह कहता है : "शक्ति बंदूककी नलीसे उपजती है।"

(माताजी चुप रहती हैं)

पश्चिममें आज यही पढ़ा जाता है। और पिछली बार जिस पुस्तकका सबसे ज्यादा शोर रहा, उसका नाम है "अभागा" या ऐसा ही कुछ। यह हिंसाका खुला समर्थन है : हिंसा द्वारा

शक्ति हथियानी चाहिये। ऐसी चीजें ही पश्चिममें सफलता पा रही हैं, इन्हीं चीजोंको सब विद्यार्थी लीलते हैं।[1]

ओह! हिंसाका समर्थन...

हिंसाका मिशन।

यह है प्राण अपनी पूर्णतामें।

जी।

ओह! मैंने जो अंतर्दर्शन देखे हैं इससे उनकी बात समझमें आती है। मैं सोचती थी... मैं अपने शरीरको दोष दे रही थी, मैं कह रही थी: यह बेचारा शरीर, इसमें दुर्भाग्यपूर्ण पुराण-पंथीपन भरा है: हमेशा भयंकर, भयंकर कल्पनाएं — और वे कल्पनाएं न थीं, वह जो कुछ हो रहा है उसके बारेमें सचेतन था... ओह! ...

तुमने अभी जो कहा वह बहुत मजेदार है, क्योंकि कल ही (इन दिनों, पिछले तीन दिनमें), वस्तुओंकी भयंकरताके प्रत्यक्ष दर्शनके सामने यह शरीर, यह शरीर रोया है... (यह शरीर भावुकतासे एकदम उल्टा है, कभी, कभी भावुक नहीं रहा)। स्वभावतः, भौतिक रूपसे उसे रोनेकी आदत कभी न थी, लेकिन... इसने रोकर आंतरिक तीव्रताके साथ कहा: "ओह! यह जगत् किसलिये है?" इस प्रकार वह इतना... इतना अधिक भयंकर, दुःखी, दयनीय था... इतना दयनीय था और... इतना भयंकर...

---

[1] यह फ्रांट्ज फानोनकी पुस्तक "रेचेड आफ द अर्थ" की बात है जिसकी मुख्य बात यह है: "केवल हिंसा ही फलदायक है। हिंसा लोगोंको एक साथ बांधती है; प्रत्येक व्यक्ति एक बड़ी श्रृंखलाकी एक कड़ी, एक विराट् हिंसात्मक संगठनका अंग है जो ऊपर उमड़ आया है।" इस पुस्तककी भूमिका जां पाल सार्त्रने लिखी है जो और भी ज्यादा स्पष्ट शब्दोंमें कहता है: "अदम्य हिंसा... मनुष्यका अपने-आपको नये सिरेसे बनाना है।" "क्रोधोन्मत्त" होकर ही "अभागे धरतीवासी मनुष्य बन सकते हैं।" "किसी यूरोपीयको गोलीसे उड़ा देनेका अर्थ है एक पंथ दो काज...। उसके बाद बच रहते हैं एक तो मृत मनुष्य और एक स्वतंत्र मनुष्य।"

ओह! ... लेकिन तुरंत ही उसे 'उत्तर' मिल गया — वह शब्दोंमें उत्तर न था, वह केवल ... मानों एक विशालता 'प्रकाश' में खुल रही थी। उसके बाद कहनेके लिये कुछ नहीं बचा।

लेकिन 'वह' विशालता यह कैसे बन सकती है?... पता नहीं। प्रश्न: 'वह' यह कैसे बन गया? वह मेरे पास इस रूपमें आया: " 'वह', वह 'अद्‌भुत', यह घिनौनी, डरावनी भीमाकार वस्तु कैसे बन गया?"

लेकिन मैं इसे फिरसे 'उस' में बदलनेकी प्रक्रिया नहीं जानती...। प्रक्रिया है... अधित्याग (कैसे कहा जाय?), आत्म-दान (वह नहीं)। लेकिन उसे हर चीज, हर चीज, ऐसी वीभत्स लगती थी: एक पूरा दिन, बहुत बहुत, बहुत कठिन रहा। लेकिन अजीब बात है, मैं उस समय जानती थी कि सिद्धार्थ बुद्धको जो अनुभूति हुई थी, यहां ठीक उसीको दोहराया जा रहा था और उन्होंने इसी अनुभूतिमें कहा था: बाहर निकलनेका बस एक ही मार्ग है: और वह है निर्वाण। इसके **साथ-ही-साथ** मैं सच्ची चेतनाकी स्थितिमें थी: एक उनका समाधान था और दूसरा सत्य समाधान। वह सचमुच मजेदार था। बौद्ध समाधान किस प्रकार **एक पग** मात्र था — बस एक पग। **उसके परे** (दूसरी पंक्तिमें नहीं, **उसीके परे**) सत्य समाधान है। यह एक निर्णायक अनुभूति थी।

(लंबा मौन)

लेकिन आखिर यह सृष्टि है क्या? ... हां, अलगाव, फिर दुष्टता, क्रूरता — हम कह सकते हैं कि नुकसान पहुंचानेकी प्यास — और फिर दुःख, दुःख पहुंचानेकी खुशी, और फिर रोग, विघटन और मृत्यु — विनाश। यह सब एक ही चीजके भाग हैं। आखिर हो क्या गया है?... मुझे जो अनुभूति हुई थी वह इन सब चीजोंकी — **अवास्तविकता**की थी, मानों तुम एक अवास्तविक मिथ्यात्वमें प्रवेश कर गये हो और जैसे ही तुम उस-मेंसे बाहर आते हो सब कुछ गायब हो जाता है — उसका **अस्तित्व नहीं** रहता, वह होता ही नहीं। यह बड़ा भयंकर है! जो हमारे लिये इतना वास्तविक, इतना ठोस, इतना भयावह है, उस सबका कोई अस्तित्व ही नहीं। वह है... तुमने 'मिथ्यात्व' में प्रवेश किया है। क्यों? कैसे? क्या? ...

लेकिन इस शरीरने अपने सारे जीवनमें, कभी, कभी एक बार भी ऐसे पूर्ण, ऐसे गहरे दर्दका अनुभव नहीं किया जैसा उस दिन... ओह! ... कुछ चीज हो.... (माताजी अपना गला दबाती हैं)। और तब उसके

अंतमें 'आनंद'। फिर गायब! मानों वह पोंछ दिया गया : "अभी नहीं, अभी नहीं, अभीतक समय नहीं हुआ।" मानों वह सब, वह सब जो इतना भयंकर है उसका अस्तित्व ही नहीं।

अंतमें, संभवत: — संभवत: — वह धरती ही थी (मुझे यह ठीक नहीं मालूम), ऐसा लगता तो है नहीं, क्योंकि चंद्रमा तो बहुत ठोस रूपसे विध्वस्त है। फिर भी एक बहुत प्रबल और बहुत यथार्थ भावना है कि यह बिलकुल सीमित चीज है, और वह इस तरह है। यानी, 'मिथ्यात्व'में है और **अवास्तविक** है। हम सब 'मिथ्यात्व' और 'अवास्तविकता' में हैं, इसीलिये चीजें ऐसी हैं। और जो बात मजेदार थी वह यह कि निर्वाणमें बच निकलना कोई समाधान न था, केवल एक उपचार और वह भी आंशिक (पता नहीं, कैसे समझाया जाय), एक आंशिक उपचार था, हम कह सकते हैं क्षणिक।

और तब, यह तो क्षणिक दौरा था। बादमें आता है लंबा मार्ग : हमें **उत्तरोत्तर** रूपांतरके काममें लगे रहना चाहिये। लगे रहना चाहिये, और तब अगले ही क्षण, वह जिसे श्रीअरविंद अतिमानसिक सत्ता कहते हैं। मानों यह एकसे दूसरेमें देशांतरण है।

लेकिन यह सब कैसे बदलेगा? मुझे नहीं मालूम।

जी हां, अभी उस दिन मुझे एक ठोस प्रत्यक्ष दर्शन हुआ था, कि सारी धरती एक काले चोगेके नीचे है — यह वही था जिसे आप 'मिथ्यात्व' और 'भ्रम' कहती हैं। वह एक ऐसी चीज थी जो समस्त पृथ्वीको ढके हुए थी।

हां, हां।

मैंने उसे बहुत ठोस रूपमें अनुभव किया; एक काला चोगा।

हां, यह वही है।

बस, उसे सारे जगत्से खींचकर अलग कर देना चाहिये।

(कुछ देर मौनके बाद) मैं उसे कह नहीं सकती (उसे व्यक्त नहीं किया जा सकता)। वह कुछ ऐसी चीज है जिसमें संत्रास, भय, पीड़ा — और करुणा है। ओह! इतनी तीव्र . . . इस शरीरने कभी, कभी ऐसा अनुभव

नहीं किया। कभी नहीं। इसके सिवा उसने शरीरको ऐसी अवस्थामें डाल दिया, जो कुछ घंटोंके लिये बहुत ...बहुत ही नाजुक हालतमें थी। और उसके बाद ऐसा हुआ मानों हर चीज — प्रत्येक चीज — एक 'स्मित' और चमकती 'रोशनी'के साथ आयी, ऐसा लगा (अगर बच्चोंकी भाषामें कहें तो) मानों प्रभु कह रहे हों: "देखो, मैं हर जगह हूं, देखो: मैं हर चीज-में हूं।" वह अविश्वसनीय था — अविश्वसनीय ... दोनोंके बीच कोई संचारण न था।

हां, तो उसी समय शरीर कह रहा था: "यह कैसी बात है? क्या इसी प्रकार चल...ते...रह...ना पड़ेगा? हमें इसी तरह चलना पड़ेगा? संसार, मनुष्य, समस्त सृष्टिको इस तरह चलते रहना पड़ेगा?" ...वह ऐसा लगता था...। मैं एकदम समझ गयी: हां, लोगोंने इसी-को अपनी भाषामें "सनातन नरक" कहा है। यह वही है। कोई ऐसा व्यक्ति रहा होगा जिसे यह प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त हुआ था।

और वे सभी उपाय — जिन्हें कृत्रिम कहा जा सकता है, जिनमें निर्वाण भी आ जाता है — बाहर निकलनेके सभी उपाय व्यर्थ हैं। उस मूर्खसे लेकर जो जीवनको समाप्त करनेके लिये आत्म-हत्या करता है, यह सभी मूर्खताओंमें सबसे बड़ी मूर्खता है, क्योंकि यह मामलेको बहुत अधिक बिगाड़ देती है, वहांसे लेकर निर्वाणतक (जिसके बारेमें कल्पना यह है कि हम जीवनसे बाहर चले जाते हैं), ये सब-के-सब उपाय **व्यर्थ** हैं। वे सब अलग-अलग स्तरके हैं, पर हैं सारे-के-सारे बिलकुल **व्यर्थ**। और फिर उसके बाद, उस समय जब तुम्हें सचमुच एक अनंत नरककी अनुभूति होती है, अचानक एकदम ...(केवल चेतनाकी एक स्थिति, उसके सिवा कुछ नहीं), अचानक एक ऐसी चेतनाकी स्थिति ... जिसमें सब कुछ प्रकाश, भव्यता, सौंदर्य, प्रसन्नता, उन्मत्तता है ... और हर चीज अनिर्वचनीय। तो यह ऐसा है: "तुम यह रहे," और फिर फट! वह प्रकट होता है और झट गायब! और तब वह 'चेतना' जो देखती है, जो अपने-आपपर दबाव डालती है और कहती है: "अब अगला कदम।" तो यह वही है। शरीरमें इन सब बातोंकी उपस्थिति थी ...। सारे जीवनमें इसने कभी, कभी इतना दर्द नहीं सहा, और अब भी ...

क्या यह, क्या यह उत्तोलक है? ... पता नहीं। परंतु मुक्ति **भौतिक** है — वह मानसिक बिलकुल नहीं है, **शारीरिक** है। मेरा मतलब यह है कि यह पलायन नहीं है, यह **यहां** है। इसकी प्रतीति बहुत जोरसे होती है।

लेकिन शरीरके लिये कुछ बहुत ही कठिन घंटे बीते। और हमेशा,

हमेशा वही। वह कहता है: "अच्छा, बहुत अच्छा।" वह विघटनके लिये बिलकुल तैयार है या...लेकिन उसका तो प्रश्न ही न था। वह प्रश्न न था...प्रश्न था 'उपचार' जाननेका...और वह कैसा है? — हमारे साधनोंके द्वारा उसे व्यक्त करना असंभव है।

लेकिन इस कारण वह परदेके पीछे या छिपा हुआ, ऐसा-वैसा कुछ नहीं है: वह **उपस्थित** है। क्यों? समग्रमें ऐसी कौन-सी चीज है जो तुम्हारे अंदरसे उस उपस्थितिको जीनेकी शक्ति हर लेती है? पता नहीं। वह है, वह **मौजूद** है। बाकी सब, जिसमें मृत्यु तथा अन्य सब चीजें आ गयीं, सचमुच मिथ्यात्व बन जाता है, यानी, कोई ऐसी चीज जिसका अस्तित्व नहीं है।

जी हां, यह एक चोगा है जिसे उतार देना है।

अगर इतना ही होता तब तो कुछ न होता!

जी नहीं, मेरा मतलब है कि यह सब, यह भ्रांति एक चोगेकी तरह है जिसे धरतीपरसे उतार देना है।

हां, यह वही है। हां, यह वही है! परंतु क्या केवल धरती है? मुझे पता नहीं। लोग यह देखनेके लिये ऊपर जायंगे?

मैं जो कुछ जानती हूं, मुझे जो लगता है वह यह है कि यह चीज यहां घन रूपमें है। यहां घनता है, यहां काम है। हो सकता है कि यह ...समस्त सौर मंडल, लेकिन मुझे पता नहीं।

(मौन)

लेकिन इसमेंसे कोई अकेला नहीं निकल सकता।

जी हां...माताजी, उस दिन आपने कुछ कहा था। आपने कहा था: "अब अपना ठीक स्थान निर्धारित करनेका समय आ गया है।" आपने कहा था: "जहांतक इस शरीरका सवाल है उसने अपना स्थान ले लिया है," लेकिन अभीतक आप औरोंसे यही करनेके लिये कहनेकी हिम्मत नहीं कर रही थीं। आपने कहा: "अब अपना स्थान लेनेका समय आ गया है।"

हां, मुझे लगता है।

लेकिन "अपना स्थान लेने" से आपका क्या मतलब है?

यह कि शरीर अभी जिस चेतनामें है, यह सब चीज अवास्तविक है।

अगर शरीरसे पूछा जाय तो वह कहेगा : "मुझे मालूम नहीं कि मैं जीवित हूं, मुझे मालूम नहीं कि मैं मृत हूं।" क्योंकि सचमुच ऐसा ही ही है। कुछ क्षणोंके लिये उसे बिलकुल लगता है कि वह मृत है; अन्य क्षणोंपर उसे लगता है कि वह जीवित है। बात ऐसी है। वह अनुभव करता है कि बात ऐकांतिक रूपसे इसपर निर्भर है कि...कि हम 'सत्य' देखते हैं या नहीं।

(मौन)

वह किसपर निर्भर है?...

(मौन)

वह, जैसा कि लोग कहते हैं, लिखते या अनुभव करते हैं, मैंने देखा है कि मानवजातिका एक बहुत बड़ा हिस्सा इस प्रत्यक्ष दर्शनसे बहुत ज्यादा घबराता है कि यह 'मिथ्यात्व' है और सब उसीकी ओर ले जाता है। मैं ऐसे लोगोंको जानती हूं (उन्होंने मुझे लिखा था), जिन्हें अभी हालमें बहुत ज्यादा डर लगा क्योंकि उन्हें अचानक शक्तिने पकड़ लिया, कोई ऐसी चीज थी जिसने उन्हें छूना शुरू किया : जीवनकी अवास्तविकताका बोध था वह। इससे पता लगता है कि जो रास्ता अभीतक तय करना है वह कितना बड़ा है। इसका मतलब है कि जल्दी समाधान पानेकी सभी आशाएं बचकानी हैं। जबतक कि...चीजें कोई और ही मोड़ न ले लें।

अगर वह उसी गतिसे चलता रहे जिस गतिसे अभीतक चलता आया है तो....इसमें शताब्दियां और शताब्दियां और शताब्दियां लगेंगी...। तब अतिमानव केवल एक पड़ाव होगा और उसके बाद बहुत-सी दूसरी चीजें होंगी...

मैं जब कभी इस विषयमें सोचता हूं, मुझे हमेशा यही लगता है कि एकमात्र समाधान यह है कि आपका शरीर ज्योतिर्मय

हो, जिसे सब देख सकें। सब लोग आ-आकर उसे देखें — आकर देखें कि भगवान् कैसे हैं!

(माताजी हंसती हैं) यह वास्तवमें बहुत सुविधाजनक होगा!

यह उनकी सभी धारणाओंको उलट-पुलट कर देगा...

हां, निश्चय ही! यह इतना सुविधाजनक होगा। क्या ऐसा होगा?... उसके बारेमें मैं तुम्हारे साथ पूरी तरह सहमत हूं। और मुझे बहुत खुशी होगी, वह चाहे कोई भी हो, इसकी परवाह नहीं कि कौन, मुझे इसकी तनिक भी इच्छा नहीं है कि वह मैं ही होऊं!

आओ और भगवान्को देखो, वे कैसे हैं!

हां, कैसे हैं! (माताजी बहुत देरतक टकटकी लगाये देखती रहती हैं।)

४ जून, १९६९

पिछली बार तुम्हारे चले जानेके बाद मैं इस विषयमें काफी कुछ देखती रही, सारे दिन... इस अद्‌भुत समाधानकी बातमें (ज्योतिर्मय शरीरकी बातमें) कुछ अर्थ है। जब तुमने यह बात कही तो अचानक किसी चीजने मूर्त्त रूप ले लिया।[1] लेकिन उसमें कोई वैयक्तिक भाव न था...। शरीरके अंदर वह (ज्योतिर्मय शरीर) बननेकी कोई, एकदम कोई महत्त्वाकांक्षा, कामना या अभीप्सा नहीं है। केवल "इसके" हो सकनेकी संभावनाके कारण एक आनंद था। अगर यह किया जाय, तो कौन, कहां और कैसेका कोई मूल्य नहीं: अगर यह किया जाय तो। मैंने उसे बड़े ध्यानसे देखा; निमिष मात्रके लिये भी उसमें यह विचार न आया:

---

[1] वास्तवमें माताजी बहुत देरतक "टकटकी लगाये देखती रहीं"। उस समयका भाव ऐसा था जिसे देखनेपर ही माना जा सकता है। शिष्यको ऐसा लगा मानों ज्योतिर्मय शक्तिका प्रपात धरतीपर झर रहा हो।

वह यही शरीर होना चाहिये। (माताजी अपनी त्वचाको उंगलियोंसे पकड़ती हैं) समझे? बस, इतना ही था: **बस यह हो जाय**, यह अवतार, यह अभिव्यक्ति — वह इस व्यक्तिको ले या उसको, एक जगहको ले या दूसरीको, नहीं, इस प्रकारकी कोई बात ही न थी: चीज अपने-आपमें एक अद्‌भुत समाधान थी। बस, इतना ही।

तो चेतनाने अवलोकन करना शुरू किया: अगर इस शरीरमें कोई भी ऐसी चीज नहीं है जो वह बननेकी "अभीप्सा" करती हो: इससे प्रमाणित होगा कि यह उसका काम नहीं है। तब वह अद्‌भुत 'मुस्कान' आयी (पता नहीं कैसे अभिव्यक्त किया जाय), वह वहां थी, वह गुजरी और उसने कहा... (उसका बिलकुल बचकाने रूपमें अनुवाद किया जा सकता है): "यह तुम्हारा धंधा नहीं है!" बस। यहीं अंत हो गया। उसके बाद मैं उसमें व्यस्त न रही। "तुम्हारा धंधा नहीं है" का मतलब यह कि इससे तुम्हारा कोई मतलब नहीं कि वह यह है या वह, या फिर वह, इससे तुम्हें सरोकार नहीं। बस इतना ही।

लेकिन अब जो उसका अपना धंधा बन गया है — इतने, इतने अधिक तीव्र रूपमें कि उसका वर्णन नहीं किया जा सकता — वह है: "तू, तू, तू, तू।..." कोई शब्द उसका अनुवाद नहीं कर सकता: एक शब्दमें कहें तो भगवान्। वही सब कुछ है, वही सबके लिये है — खानेके लिये: भगवान्; सोनेके लिये: भगवान्; कष्ट झेलनेके लिये: भगवान्... और इसी तरह (माताजी दोनों हाथ ऊपरकी ओर उठाती हैं)। एक प्रकारकी स्थिरता और निश्चलताके साथ।

१६ अगस्त, १९६९

क्या सब कुछ बुहार देना, सब खाली कर देना एक भूल है?

नहीं, नहीं, नहीं।

मैंने बहुधा अपने-आपसे पूछा है कि क्या मैं अपने आगे बढ़नेके तरीकेमें भूल कर रहा हूं। मेरा तरीका है सब सहज रूपसे

बुहार देना, उसे पूरी तरह खाली करके, एकदम नीरव और अचंचल रहते हुए ऊपरकी ओर अभिमुख होना।

हां, यह **सबसे अच्छा** उपाय है, इससे अच्छा नहीं हो सकता।

मैं हर क्षण यही करती रहती हूं।

और अगर यह न किया जाता! . . . सभी ओरसे यूं आता है (लहरोंके थपेड़ोंकी मुद्रा)।

(थोड़ी देर बाद संसारकी स्थितिके बारेमें)

अंततः, मुझे पूरा विश्वास हो गया है कि यह अस्तव्यस्तता हमें यह सिखाती है कि दिन-पर-दिन हमारा जीवन कैसा होना चाहिये, यानी, क्या हो सकता है, क्या होनेवाला है इन बातोंमें न फंसे, अपने-आपको प्रतिदिन उसीमें लगाये रहें जो हमें करना है। सभी सोच-विचार, पूर्व योजनाएं और संयोजन और इस तरहकी चीजें अव्यवस्थाके लिये बहुत अनुकूल हैं।

लगभग एक-एक मिनट इस तरह जीना (ऊपरकी ओर संकेत) केवल उसी चीजकी ओर ध्यान देना जो उस क्षण की जानी है और 'सर्व-चैतन्य'-को निर्णय करने देना . . . हम अधिक-से-अधिक विस्तृत दृष्टिके साथ भी चीजोंको नहीं जान सकते; हम चीजोंको **बहुत ही** आंशिक रूपमें — बहुत ही आंशिक रूपमें देख सकते हैं। इसलिये हमारा ध्यान इस ओर, उस ओर खिंचता है, और उनके अतिरिक्त और बहुत-सी चीजें रहती हैं। भयानक और हानिकर चीजोंको बहुत महत्त्व देकर तुम उनकी शक्ति बढ़ाते हो।

(माताजी ध्यानमें चली जाती हैं)

जब इस प्रकारकी अव्यवस्था और अस्तव्यस्तता के अंतर्दर्शन तुमपर टूट पड़ें तो तुम्हें एक ही चीज करनी चाहिये, उस चेतनामें प्रवेश कर जाओ जहां तुम केवल **एक** ही 'सत्ता', एक 'चेतना', एक 'शक्ति'को देखते हो — केवल एक ही 'इकाई' है—और यह सब उसी 'इकाई' में हो रहा है। और हमारे सभी नगण्य अंतर्दर्शन, हमारे नगण्य ज्ञान, हमारे नगण्य मूल्यांकन और हमारे नगण्य . . . ये सब कुछ नहीं हैं, सबकी 'अधिष्ठात्री चेतना' की तुलनामें ये बहुत ही छोटे, अणुके समान हैं। इसलिये अगर तुम्हारे अंदर इन विभिन्न सत्ताओंके अस्तित्वके कारणका जरा भी भान है तो तुम देखोगे कि यह

अभीप्साको संभव बनानेके लिये, अभीप्साकी सत्ताको बनाये रखनेके लिये है, आत्म-निवेदन और आत्म-दानकी गतिको, विश्वास और **श्रद्धा**को संभव बनानेके लिये है। यही वह कारण है जिसके लिये व्यक्तित्व बनाये गये थे; और जैसे-जैसे तुम पूरी सच्चाईके साथ, पूरी तीव्रताके साथ वह बनते हो ... बस यही वह सब है जिसकी आवश्यकता है।

यही एक चीज है जिसकी जरूरत है, यही **एकमात्र** चीज है, यही एकमात्र चीज है जो टिकती है; बाकी सब ... माया-जाल, मृग-मरीचिका है।

हर हालतमें यही एकमात्र उचित बात है: जब तुम कोई चीज करना चाहते हो, जब तुम कोई चीज नहीं कर सकते, जब तुम गति करते हो, जब शरीर गति करनेमें अशक्त हो जाता है ... **हर** हालतमें, **हर** हालतमें, केवल यही — यही केवल : 'परम चेतना'के साथ सचेतन संपर्कमें आओ, उसके साथ एक हो जाओ और ... प्रतीक्षा करो। लो बस।

तब तुम्हें हर क्षण, यह ठीक-ठीक आदेश मिलता जाता है कि क्या करना चाहिये — करना या न करना, क्रिया करनी या पत्थरकी तरह निश्चल बन जाना। यह सब। और यह भी कि जीवित रहा जाय या नहीं। यही एकमात्र समाधान है। अधिकाधिक, अधिकाधिक, यह निश्चित है कि यही **एकमात्र** समाधान है। बाकी सब लड़कपन है।

और सभी क्रिया-कलापका, सभी संभावनाओंका स्वाभाविक रीतिसे उपयोग किया जा सकता है — इससे समस्त मनमाना व्यक्तिगत चुनाव अलग हो जाता है। बस यही बात है। यहांपर सभी संभावनाएं हैं, सब, सब, सब कुछ है। सभी प्रत्यक्ष दर्शन और समस्त ज्ञान है — केवल व्यक्तिगत मनमानेपनको अलग कर दिया गया है। और यह व्यक्तिगत मनमानापन **इतना** बचकाना है, इतना बचकाना है ... एक मूर्खता — अज्ञान-भरी मूर्खता।

और मैं अनुभव करती हूं, इस तरह अनुभव करती हूं (माताजी हवाको अनुभव करती हैं), वह उद्वेग, ओह, वातावरणमें यह भंवर!

बेचारी मानवजाति।

(लंबा मौन)

यह सब संसारको अपनी चेतनामें प्रभुकी ओर लौटना सिखानेके लिये है ... क्यों? इसी हेतुसे सृष्टि बनी थी? ...

(मौन)

लेकिन मेरे सामने एक व्यवहारिक समस्या है: मैं जब कभी ऊपरसे अपने-आपको जोड़नेके लिये यह रिक्तता तैयार करता हूं... तो मुझे लगता है कि मुझे कभी ठीक उत्तर नहीं मिला; वहां ऐसी महाकाय शक्ति है, इतनी ठोस और फिर...

और तुम्हें कभी उत्तर नहीं मिला?

हमेशा वही होता है, यह 'शक्ति' जो यहां है, जो अविचलित...

अच्छा!

उदाहरणके लिये, कल ध्यानके समय वही चीज थी — हमेशा वही चीज होती है — यह विशालकाय शक्तिशाली 'चीज' जो वहां है लेकिन वह "कुछ नहीं कहना चाहती"।

क्या तुम्हें...का अनुभव नहीं होता...पता नहीं कैसे समझाया जाय, क्योंकि वह आराम नहीं है, न ही... पता नहीं कैसे कहा जाय; कुछ ऐसी चीज है जो... उसे कहनेके लिये शब्द नहीं हैं, पर वह तुम्हें पूरी तरह संतुष्ट कर देती है।

आरामका अनुभव होता है।

आह!

जी हां, आरामका अनुभव तो होता है, यह निश्चित है।

अहा! तब तो ठीक है, यह वही है, बाकी सब, बाकी सब कुछ व्यर्थ है।

जी, लेकिन सच्चा, ठीक आवेग कैसे पाया जाय?

वह उस स्थितिके नीचे होता है।

उसके नीचे?

वह नीचे होता है।

वह स्थिति . . . मैं अनुभवसे जानती हूं कि यह वह स्थिति है जिसमें आदमी दुनियाको बदल सकता है। आदमी एक प्रकारका यंत्र बन जाता है — ऐसा यंत्र जो यह नहीं जानता कि वह यंत्र है — लेकिन जो काम करता है (यंत्रमेंसे शक्तियोंके प्रवाहकी मुद्रा), शक्तियोंको प्रक्षिप्त करनेका काम करता है (यंत्रको केंद्र बनाकर सभी दिशाओंके विकीरित होनेकी मुद्रा)। मस्तिष्क बहुत अधिक, बहुत अधिक छोटा है, है न, — जब वह बहुत बड़ा हो, तब भी वह समझनेमें समर्थ होनेके लिये बहुत छोटा है। इसीलिये मस्तिष्कमें रिक्त स्थान होते हैं, और यह चीज होती है।

और तब तुम देखते हो कि तुम जिस छोटेसे जीवनके प्रतिनिधि हो उसकी आवश्यकताओंके बारेमें यह यंत्रवत् होता जाता है, तुम हर क्षण बिना. . . बिना हिसाब किये, बिना सोचे-समझे, बिना निश्चय किये, इस सबके बिना, न जाने कैसे, अपने-आप जो करना चाहिये वही करते जाते हो। यह ऐसा है (वही यंत्रमेंसे प्रकट होनेका संकेत)।

मुझे इसका निजी अनुभव मिला था कि अगर शरीरमें कोई गड़बड़ है (कोई दर्द, कोई तकलीफ या कोई ऐसी चीज जो ठीक तरह काम नहीं कर रही), तो इस स्थितिमेंसे गुजरनेके बाद वह तुम्हें छोड़ जाती है — वह चली जाती है, गायब हो जाती है। बहुत तीव्र पीड़ाएं थीं, न जाने कैसे, पूरी तरह गायब हो गयीं! कैसे! हां, इस तरह चली गयीं।

और फिर लोगोंके साथ और जीवनकी वस्तुओंके साथ संपर्कमें बच्चे जैसी सरलता। कहनेका मतलब. . . तुम विशेष रूपसे. . . सोचे-समझे बिना चीजें किये जाते हो।

हां, तो बात ऐसी है। मैं हमेशा उस स्थितिमें रहनेकी कोशिश करती हूं जिसका तुम वर्णन कर रहे हो, इस तरह, **जो कुछ होता है,** और हमेशा — हमेशा, बिना अपवादके — अगर कुछ करना है, तो उसे इस तरह करवाया जाता है।

मैं और कुछ नहीं कह सकती। चीज ऐसी है।

मैंने देखा है कि अलग-अलग समय और अलग-अलग लोगोंके साथ मुझसे अलग-अलग तरहसे काम करवाया जाता है, और अनुभूति भी बहुत अलग होती है — वह सब एक ही चीज है, एक ही तरीका है (बिना किसी गतिके ऊपरकी ओर संकेत)।

केवल तुम्हें उस स्थितिमें जा पहुंचना चाहिये जहां स्वभावतः कोई पसन्द नहीं है, कोई कामना नहीं है, कोई विकर्षण और आकर्षण नहीं है, कुछ भी नहीं — वह सब स्वाभाविक रूपसे जा चुका है।

और सबसे बढ़कर, विशेष रूपसे सर्वोपरि है कि कोई भय न हो। सब बातोंमें यह सबसे ज्यादा जरूरी है।

१ अक्तूबर, १९६९

२६ अगस्त, १९५३ की 'प्रेम'-संबंधी वार्त्ताके बारेमें:

> **माताजी, यह 'प्रेम' की शक्ति जो आती है — वह कभी-कभी आती है, हम अनुभव करते हैं, सचमुच प्रेम करते हैं —, उसे हमेशा क्यों नहीं रख पाते?**

तुम्हें उसे रख सकना चाहिये!

> **मेरा भी यही ख्याल है कि रख सकना चाहिये, परंतु यह हो नहीं पाता।**

मेरे बच्चे... वह हमेशा, हमेशा यहां रहता है। शरीर चाहे कुछ क्यों न कर रहा हो — लोगोंसे मिल रहा हो, स्वयं अपने साथ व्यस्त हो या सो रहा हो — वह हमेशा, हमेशा, हमेशा रहता है, सचेतन और गुंजायमान। मैं कहती हूं: "यह संभव है": यह एक तथ्य है। सिर्फ जरूरत इस बातकी है...। जो बात साधारणतया इसे रोकती है, वह यह है, कि अधिकतर लोगोंमें भौतिक चेतना बहुत धुंधली होती है; वह केवल अत्यन्त भौतिक आवश्यकताओं, कामनाओं, एकदम भौतिक प्रतिक्रियाओंसे बनी होती है, लेकिन जरूरत इस बातकी है कि कोषाणुओंमें भगवान्के लिये प्रेम जगाया जाय। एक बार वे भगवान्से प्रेम करने लगें तो यह हमेशा, सारे समय, ऐसा रहता है, वह नहीं बदलता — वह फिर नहीं बदलता। वह किसी मानसिक या प्राणिक गतिसे **बहुत अधिक** स्थिर रहता है: वह ऐसा रहता है (माताजी दोनों मुट्ठियां कस लेती हैं), वह हिलता भी नहीं। कोषाणु हमेशा इस स्थितिमें रहते हैं, इस अवस्थामें, भगवान्के साथ प्रेममें। शरीरके साथ यह बहुत विलक्षण बात है कि वह एक बार कोई बात सीख ले तो उसे भूलता नहीं। कोषाणु एक बार इसे सीख लें,

यह आत्म-निवेदन, भगवान्‌के **प्रति** समर्पण, इस आत्म-समर्पणकी **आवश्यकता**-को सीख लें तो उसे हमेशाके लिये सीख लेते हैं; वह चीज फिर **नहीं डगमगाती।** वह स्थायी रहती है, चौबीस घंटोंमें पूरे चौबीस घंटे। वह कभी रुकती नहीं, दिन-पर-दिन, बिना रुके चलती जाती है और कोई परिवर्तन नहीं आता। अगर कुछ गड़बड़ भी हो जाय (दर्द या ऐसा ही कुछ और), तो पहली गति, हां, पहली गति यही होती है, सहज रूपसे आत्म-समर्पणकी, अपने-आपको दे देनेकी, उच्चतर चेतना हस्तक्षेप नहीं करती, यह सहज होती है, यह कोषाणुओंके अंदर बसी चेतना होती है। प्राण और मन अस्थिर होते हैं, इस भांति (टेढ़ा-मेढ़ा संकेत)। विशेष रूपसे, विशेष रूपसे प्राण सब प्रकारकी चीजोंमें रस लेता है।

स्वभावतः दोनों अन्योन्याश्रित हैं: अहंकारका लोप होना चाहिये — अहंकारके **राज्य**का अन्त होना चाहिये। लेकिन साधारणतः लोग समझते हैं कि भौतिक अहंकारको विलुप्त करना संभव नहीं है; न सिर्फ यह कि यह संभव है, यह **किया जा चुका है** और शरीर चल-फिर रहा है, उसका चलना-फिरना जारी है। वह गया नहीं है (एक बार कुछ कठिन समय आया था... बस, जरा-सा)।

अब कोषाणुओंको आश्चर्य हो रहा है कि आराधनाकी गतिके बिना कैसे जिया जा सकता है। वे हर जगह, हर जगह ऐसे हैं (तीव्र अभीप्सा-की मुद्रा)। यह बहुत मजेदार है।

वे सब पुरानी कठिनाइयां जो आन्तरिक विकासमें सामने आती हैं, प्राण और मनके साथ व्यवहार करते हुए जिनसे पाला पड़ता है, पुरानी चीजोंका फिरसे उठ खड़ा होना आदि, वे सब (इस शरीरसे) जा चुकी हैं। यह वैसा नहीं है।

१८ अक्तूबर, १९६९

पूर्ण सिद्धिके लिये समस्त सत्ताको प्रकाशित होना चाहिये; लेकिन सिद्धिके आरंभके लिये शायद उस शरीरका काम ज्यादा आसान है जिसके पास विकसित मन नहीं है...। मेरा ख्याल है कि हम लोगोंके लिये जो मनकी अधिक-से-अधिक संभावनातक पहुंच चुके हैं, हम अधिकतमके द्वारा ही परे गये हैं; जब मनने अपनी अधिकतम प्राप्ति कर ली तभी उसने पदत्याग

किया; पूर्ण सिद्धिके लिये यह बिलकुल ठीक है, परंतु साधारणतः शरीरको मनकी आज्ञा माननेकी बहुत आदत होती है, वह रूपांतरित होनेके लिये काफी नमनीय नहीं होता। और इसीलिये मेरे मनको घूमनेके लिये भेज दिया गया है...लेकिन यह एक ऐसी पद्धति है जिसका अनुसरण करनेकी सलाह...औरोंको नहीं दी जा सकती। इससे दसमेंसे नौ मर जायेंगे।

मन ?

अगर मन चला जाय।

आपका ख्याल है कि मैं मर जाऊंगा ?

मन और प्राण।

जी हां, प्राणकी बात मैं समझ सकता हूं, पर यदि आप मेरा मन हटा दें ?...

नहीं, वत्स, मैं इनकार करती हूं! (माताजी हंसती हैं) नहीं, उसे... उसे उतर जाना चाहिये।

दिव्य शक्तिके तेजीसे गुजरने और शरीरतक पहुंचनेके लिये **बहुत** निष्क्रियता चाहिये। मैं देखती हूं कि हर बार जब शरीरके किसी-न-किसी अंगपर क्रिया करनेके लिये दबाव पड़ता है तो चीज बिलकुल निष्क्रिय होने लगती है जो..."जड़ताकी पूर्णता" है। समझे? यह उस चीजकी पूर्णता है जिसकी प्रतिनिधि है जड़ता — कोई ऐसी चीज जिसकी अपनी कोई क्रिया नहीं होती। जिन लोगोंका मन बहुत विकसित होता है उनके लिये यह **सबसे** कठिन चीज है, बहुत कठिन। क्योंकि समस्त शरीर जीवन-भर मनके प्रति इस तरह ग्रहणशील रहनेका अभ्यस्त रहा है। यही उसे निष्क्रिय और आज्ञाकारी बनाता है और इसी चीजको हटाना है।

कैसे समझाया जाय?...मनके द्वारा विकासका मतलब है सारी सत्ताकी, यहांतक कि अत्यन्त स्थूल द्रव्यात्मककी भी, सामान्य और निरंतर जाग्रति, एक ऐसी जाग्रति जिसका परिणाम ऐसा भी होता है जो निद्राके एकदम विपरीत है। और परम शक्तिको ग्रहण करनेके लिये तुम्हारे अंदर इससे उल्टी चीज होनी चाहिये जो निश्चलताके समान हो — निद्राकी निश्चलता तो हो **पर हो पूरी तरहसे सचेतन**, पूरी तरह सचेतन। शरीर फर्क अनु-

भव करता है। वह यहांतक फर्क अनुभव करता है कि... उदाहरणके लिये, मैं शामको लेटती हूं और ऐसी ही बनी रहती हूं, घंटों ऐसी ही लेटी रहती हूं और अगर कुछ समय बाद मैं साधारण नींदमें चली जाऊं तो मेरा शरीर तीव्र व्यथाके साथ जाग पड़ता है! और फिर, वह अपने-आपको उसी स्थितिमें रख देता है। मैं समय-समयपर इस व्यथाका अनुभव करती हूं, लेकिन सत्य वृत्तिमें लौटते ही यह तुरन्त चली जाती है, और यह है निश्चलताकी स्थिति, निश्चलता लेकिन पूर्णतया सचेतन। "निश्चलता" पता नहीं कैसे कहा जाय... परन्तु यह "निश्चलतामें जड़ता"-के एकदम विपरीत है।

और इससे अब मेरी समझमें आ रहा है कि सृष्टि जड़तासे क्यों शुरू हुई। तो उस अवस्थाको चेतनाकी सभी अवस्थाओंमेंसे गुजरकर फिरसे खोजना था (माताजी एक बड़ी-सी वक्र रेखा बनाती हैं)। और इसीने हमें यह दिया है... (हंसी)। यह अच्छा बखेड़ा है! लेकिन जो जान-बूझकर किया जाता है वह बखेड़ा नहीं होता।

लेकिन जो कठिनाई मेरे आगे बहुत बार आती है वह है अभीप्सामें भी सक्रियताकी आवश्यकता।

हां, हां।

मुझे लगता है कि मुझे सक्रिय रूपसे अभीप्सा करना बंद नहीं करना चाहिये। बहुधा मैं यह सब एक ओर छोड़कर, हिले-डुले बिना रह सकता हूं, परंतु...

हां, परंतु फिर अभीप्सा आ जाती है।

मुझे अभीप्साकी क्रियाकी आवश्यकता मालूम होती है।

हां, जड़ताके विरुद्ध प्रतिक्रिया करनेके लिये, क्योंकि अभीतक जड़ता हमारी परंपरामें है।

लेकिन ऐसी स्थितिमें क्या करना चाहिये? उसे चपटा हो जाने दिया जाय या... आग्रहपूर्वक इस सक्रिय अभीप्सामें आगे चला जाय, जो सचमुच बहुत तीव्र है?

कहना मुश्किल है, मुझे विश्वास है कि हर एकका अपना मार्ग है। लेकिन इस शरीरके लिये तो सक्रिय अभीप्साका ही मार्ग है।

सक्रिय अभीप्सा करना? तब वह निश्चलता तो न रही।

उसने चीज पा ली है, उसने उपाय समझ लिये हैं कि यह कैसे किया जाय।

दोनों एक साथ? दोनोंका ऐक्य?

हां, दोनों एक साथ हैं। उसे यही पानेमें सफलता मिली है: पूर्ण निश्चलता और **तीव्र** अभीप्सा। जब निश्चलता अभीप्साके बिना होती है तब भयंकर वेदना होती है जो तुरन्त उसे जगा देती है। हां, तो यह है तीव्र अभीप्सा। और यह बिलकुल निश्चल होती है, अंदरसे निश्चल, मानों सभी कोषाणु निश्चल हो गये हों... यह होना चाहिये। हम जिसे तीव्र अभीप्सा कहते हैं उसे अतिमानसिक स्पन्दन होना चाहिये। उसे दिव्य स्पन्दन, सत्य दिव्य स्पन्दन होना चाहिये। मैंने अपने-आपसे बहुत बार यह कहा है;

लेकिन अगर शरीर क्षण-भरके लिए भी जड़तामें — अभीप्सा बिना निश्चलतामें — जा गिरे तो उसे एक ऐसी वेदना द्वारा जगा दिया जाता है मानों वह मरने ही वाला हो! **समझे**? यहांतक है। उसके लिये निश्चलताका अर्थ है... हां, उसे लगता है कि उच्चतम स्पन्दन, **सत्य** 'चेतना'का स्पन्दन इतना तीव्र होता है कि... वह निश्चलताकी जड़ताके समान होता है — एक ऐसी तीव्रता होती है जो (हमारे लिये) अगोचर है। यह तीव्रता इतनी अधिक होती है कि हमारे लिये वह जड़ताके समान है।

यही चीज स्थापित होती जा रही है।

इसने मुझे समझा दिया है (क्योंकि अब शरीर समझता है), इसने मुझे सृष्टिकी प्रक्रिया समझा दी है...। कहा जा सकता है कि चीज पूर्णताकी एक स्थितिसे शुरू हुई, लेकिन वह निश्चेतन थी, और इसे निश्चेतन पूर्णताकी इस स्थितिसे निकलकर सचेतन पूर्णताकी ओर जाना है और दोनोंके बीच अपूर्णता है। शब्द मूर्खता-भरे हैं, पर तुम समझते हो।

(मौन)

देखो, ऐसा लगता है कि हम समझनेकी देहलीपर हैं। और यह कोई

मानसिक समझ नहीं है, नहीं, नहीं, बिलकुल नहीं (वह तो रह चुकी है, लेकिन वह कुछ नहीं है, कुछ नहीं, शून्य)। यह एक ऐसी समझ है जिसे तुम **जीते** हो। और इसे मन नहीं पा सकता, नहीं पा सकता। और ऐसा लगता है कि केवल शरीर, ऐसा शरीर जो ग्रहणशील, खुला हुआ और कम-से-कम आंशिक रूपसे रूपांतरित है वही समझ पानेमें समर्थ है। जिसे हम सृष्टि कहते हैं, उस सृष्टिको समझनेके लिये दो चीजें: क्यों और कैसे। यह विचारद्वारा संयोजित या अनुभव की हुई चीज नहीं है: यह एक जी हुई वस्तु है। और जाननेका यही एकमात्र तरीका है... यह एक चेतना है।

लेकिन देखो, जब यह समझ आती है—वह आती है और तब वह इस तरह हो जाती है (प्रकाशमान स्फीतिकी मुद्रा), वह इस तरह आती है और तब वह क्षीण हो जाती है, फिर आती है और फिर क्षीण हो जाती है; किन्तु जब वह आती है तो इतनी स्पष्ट होती है, इतनी सरल होती है कि आदमी अपने-आपसे पूछता है: "मैं इसे पहले क्यों नहीं जान सका!"

और भी अधिक समयकी जरूरत है...। कितने समयकी, मुझे नहीं मालूम। लेकिन समयकी धारणा भी तो एकदम मनमानी है।

हम सदा अपनी अनुभूतियोंको चेतनाकी पुरानी अवस्थामें अनूदित करना चाहते हैं और **यही** उसकी दुर्गति है! हम समझते हैं कि यह जरूरी है, यह अनिवार्य है—और यह व्यामोहमें डालनेवाली बात है। इसमें बहुत ज्यादा देर लग जाती है।

(मौन)

हर चीज, हर चीज, मनुष्योंने जो कुछ कहा है वह सब, उन्होंने जो कुछ लिखा है, उन्होंने जो कुछ सिखाया है, यह सब कहनेका केवल एक तरीका है। यह केवल अपनी बात समझानेकी कोशिश है, लेकिन यह है असंभव। और फिर यह सोचो (हंसते हुए), जो चीजें इतनी सापेक्ष हैं उनके लिए मनुष्यने कितना झगड़ा किया है।

(लंबा मौन)

जैसे-जैसे दिन गुजरते हैं और जो घटनाएं घटती हैं उन्हें देखते हुए शरीरकी अनुभूति इस तरह दीखती है...। किसी तरह, कुछ क्षणोंके

लिये वह 'अमरता'की चेतनामें होता है और फिर, प्रभावके कारण (फिर समय-समयपर पुरानी आदतोंके कारण), वह मर्त्यकी चेतनामें जा गिरता है और यह सचमुच... क्योंकि अब उसके लिये फिरसे मर्त्यकी चेतनामें जा गिरना एक भयंकर यंत्रणा है; और वह तभी गायब होती है जब उसमेंसे निकलकर सत्य चेतनामें प्रवेश करती है। और मैं समझ सकती हूं कि क्यों ऐसे लोग, ऐसे योगी हुए हैं जिन्होंने जगत्को मिथ्या कहा है क्योंकि 'अमरता'की चेतनाके लिये मर्त्यकी चेतना एक अवास्तविक विसंगति है। यह ऐसा है (माताजी दोनों चेतनाओंके अंदर आने और बाहर जाने-का संकेत करते हुए दोनों हाथोंकी उंगलियोंको पिरोती और निकालती हैं)। तो एक क्षण ऐसा होता है और अगले क्षण वैसा। और वह दूसरी अवस्था, 'अमरता'की अवस्था निर्विकार रूपसे शांत, प्रशांत... चकराने-वाली तेज लहरें, इतनी तेज कि वे गतिशून्य मालूम होती हैं। इस तरह, जबर्दस्त क्रिया है, लेकिन कोई चीज गति करती नहीं दीखती। और जैसे ही वह दूसरी अवस्था वापिस आती है, सभी साधारण धारणाएं भी वापिस आ जाती हैं, यानी... सचमुच, इस समय वह जिस अवस्थामें है, वह मिथ्यात्वका कष्ट और पीड़ा देती है। अभीतक ऐसा ही है (आने और जानेकी वही मुद्रा)... उसमेंसे बाहर निकल आनेकी एक, एकमात्र विधि है केवल समर्पण। वह शब्दोंद्वारा, भावोंद्वारा, किसी चीजके द्वारा व्यक्त नहीं किया जाता। वह ऐसे स्पंदनकी अवस्था है जिसमें भागवत स्पन्दन-को छोड़कर और किसी चीजका मूल्य नहीं होता। तब, केवल तभी, चीजें अपनी व्यवस्थामें वापिस आती हैं।

लेकिन यह सब, उसके बारेमें बोलते ही...

फिर भी देखो, यह सतत होता है: यह चीज रातको आती है, यह सवेरे आती है। और फिर अन्य समय जब... (विशाल, संयुक्तकी मुद्रा और स्थितिके साथ) फिर और समस्याएं नहीं रहतीं, कठिनाइयां नहीं रहतीं, कुछ भी नहीं।

(मौन)

एक पृष्ठभूमि है (विशेष रूपसे वह है), निश्चेतन निरोधकी पृष्ठभूमि जो हर चीजके पीछे है, हर चीजके, हर चीजके पीछे है; वह अभीतक हर जगह है—ऐसा है न?—तुम खाते हुए, सांस लेते हुए इस निषेधको अपने अंदर लेते हो...। इस सारेका रूपांतर करना अभीतक एक विराट् कार्य है। लेकिन जब, यदि यूं कहें कि, हम "दूसरी तरफ"

होते हैं (यहां "तरफ" नहीं होती), बल्कि उस दूसरी स्थितिमें होते हैं तो यह इतना सरल, इतना स्वाभाविक लगता है कि हम अपने-आपसे पूछते हैं, यह ऐसा क्यों नहीं है, यह इतना कठिन क्यों लगता है; और फिर, जैसे ही तुम दूसरी तरफ होते हो कि (माताजी दोनों हाथोंसे सिर पकड़ लेती हैं) .... निःसंदेह मिश्रण अभीतक बना हुआ है।

वास्तवमें, सामान्य अवस्था, पुरानी स्थिति सचेतन रूपसे (यानी, यह एक सचेतन प्रत्यक्ष दर्शन है), मृत्यु और दुःखकी स्थिति है। और उधर दूसरी स्थितिमें, मृत्यु और दुःख बिलकुल ... अवास्तविक चीजें मालूम होती हैं।

यह लो (माताजी "रूपांतर" प्रतीकवाला फूल देती हैं)।

अधीर न हो!

विश्वासपूर्ण धीरज।

सच्ची बात तो यह है कि हर एकके लिये, हर चीज जितनी अच्छी हो सकती है, है। सारे समय पुरानी गतियां अधीर होती रहती हैं।... यानी, जब हम सर्वको देखते हैं तो पता चलता है कि अधीरताको जड़ताके विरुद्ध प्रतिक्रियाके रूपमें पैदा किया गया है—लेकिन अब समाप्त हो गया है, वह समय चला गया।

१९ नवंबर, १९६९

आज सवेरे आठ बजे मैं बहुत-सी बातें कह सकती थी... क्योंकि एक ऐसा दिन आया जब जो कुछ हुआ था उसके परिणामस्वरूप बहुत-सी समस्याएं उठ खड़ी हुईं। फिर आज सवेरे (रातके अंतमें), मुझे अनुभूति हुई जो स्पष्टीकरण थी। और मैं दो घंटेतक सृष्टिके 'क्यों' और 'कैसे'के प्रत्यक्ष दर्शन (विचार नहीं: प्रत्यक्ष दर्शन)में रही। वह इतना प्रकाशमय था, इतना स्पष्ट था, इतना अकाट्य था। वह अवस्था कम-से-कम चार-पांच घंटेतक रही और फिर वह निथर गयी; धीरे-धीरे अनुभूतिकी तीव्रता और स्पष्टता कम होती गयी....। मैं उसी समय बहुत-से लोगोंसे मिली थी, फिर.... लेकिन अब समझाना कठिन है। लेकिन हर चीज इतनी स्वच्छ हो गयी थी, सभी परस्पर-विरोधी सिद्धांत, हर चीज तलीमें थी (माताजी ऊपरसे देखती हैं), और सभी व्याख्याएं, श्रीअरविंदने जो बातें

कही थीं वे सब और कुछ बातें जो 'क' ने कही थीं वे सब अनुभूतिके परिणामस्वरूप दिखायी दीं : हर चीज अपने स्थानपर और बिलकुल स्पष्ट। उस समय मैं उसे कह सकती थी, लेकिन अब जरा कठिन होगा।

ऐसा नहीं है क्या? हमने जो कुछ पढ़ा है, सभी सिद्धांतों और व्याख्याओंके बावजूद (कैसे कहूं?), "व्याख्या" से कुछ छूट गया था, उसे "समझाना" मुश्किल था (यह समझाना या व्याख्या करना नहीं है : वह तो बिलकुल नगण्य है)। उदाहरणके लिये, दुःख-दर्द और दुःख-दर्द पहुंचानेकी इच्छा, 'अभिव्यक्ति' की यह दिशा। हां, इससे पहले प्रेम और घृणाके मौलिक तादात्म्यका अंतर्दर्शन हो चुका है, क्योंकि चीज एकदम छोरोंपर थी, लेकिन बाकीके लिये कठिन था। आज यह प्रकाशमान रूपसे सरल है — हां, वही है, इतना स्पष्ट! (माताजी अपना लिखा हुआ एक पुरजा देखती हैं)। शब्द कुछ नहीं हैं। और फिर, मैंने अनगढ़ी पेंसिलसे यूं ही घसीटा लगाया था...। पता नहीं तुम शब्द देख सकते हो या नहीं। मेरे लिये वे किसी यथार्थ चीजके प्रतीक थे; अब वे शब्दोंके अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। (शिष्य पढ़ता है):

> स्थिरता और परिवर्तन
> जड़ता और रूपांतर...

हां, प्रभुमें वे निश्चय ही अभिन्न तत्त्व हैं। और विशेष चीज थी इस अभिन्नताकी सरलता। और अब वे शब्दोंसे बढ़कर कुछ नहीं।

> स्थिरता और परिवर्तन
> जड़ता और रूपांतर
> नित्यता और प्रगति

> ऐक्य = ... (शिष्य पढ़ नहीं पाता)

यह लिखनेवाली मैं न थी, यानी, साधारण चेतना न थी और पेंसिल.. पता नहीं मैंने क्या लिखा है।

(माताजी पढ़नेकी कोशिश करती हैं लेकिन व्यर्थ)

वह सृष्टिका अंतर्दर्शन था — अंतर्दर्शन, समझ, कैसे, क्यों, किस ओर, वहां सब कुछ था, सब कुछ एक साथ और स्पष्ट, स्पष्ट, स्पष्ट... मैं

कहती हूं, मैं प्रकाशमान और चौंधियानेवाले स्वर्णिम प्रभामंडलमें थी।
हां, तो वहांपर धरती सृष्टिके प्रतीकरूप, केंद्रमें थी, और पत्थरकी जड़ताका तादात्म्य था जो सबसे अधिक जड़ है और... (माताजी फिर पढ़नेकी कोशिश करती हैं)।
पता नहीं वह आयेगी या नहीं।

(माताजी लंबी एकाग्रतामें चली जाती हैं)

हम कह सकते हैं (समझानेकी सरलताकी दृष्टिसे मैं "परम प्रभु" और "सृष्टि" कहूंगी), परम प्रभुमें एक ऐसा ऐक्य है जिसमें सभी संभावनाएं बिना किसी भेद-भावके मिल जाती हैं; हम कह सकते हैं कि सृष्टिमें इस ऐक्य का निर्माण करनेवाली सभी चीजोंका परस्पर विरोधियोंको विभाजित करके प्रक्षेपण है, यानी, उन्हें अलग करके प्रक्षेपण है (इसीको पकड़कर किसीने कहा है कि सृष्टि अलगाव है), उदाहरणके लिये, दिन और रात, काला और सफेद, शुभ और अशुभ आदि (यह सब, लेकिन यह हमारी व्याख्या है)। यह समग्र, सब मिलकर पूर्ण एकता है, निर्विकार और... अविच्छेद्य। सृष्टिका मतलब है इन सब चीजोंका, जो ऐक्यमें "समाविष्ट" हैं, अलग होना — हम इसे चेतनाका विभाजन कह सकते हैं — चेतनाके विभाजनका आरंभ होता है ऐक्यके अपने बारेमें सचेतन होनेमें, ताकि वह अपने **ऐक्य**में विविधताके बारेमें सचेतन हो सके। और तब यह मार्ग अपने खंडोंके कारण हमारे लिये देश और कालमें अनूदित होता है। हमारे लिये, जैसे हम हैं, यह संभव है कि इस 'चेतना' का हर बिंदु अपने बारेमें सचेतन हो और साथ ही अपने मूलगत 'ऐक्य' के बारेमें सचेतन हो। और यह काम किया जा रहा है, यानी, इस चेतनाका छोटे-से-छोटा तत्त्व 'चेतना' की इस स्थितिको रखते हुए, समग्र मौलिक चेतनाको खोजनेकी प्रक्रियामें है — इसका परिणाम है **मूलग**त चेतना जो अपने 'ऐक्य'के बारेमें, **और** समस्त लीलाके बारेमें, इस 'ऐक्य'के अनंत तत्त्वोंके बारेमें सचेतन है। हमारे लिये यह चीज कालके भावमें अनूदित होती है: 'निश्चेतन' से चेतनाकी वर्तमान स्थितितककी गति। और 'निश्चेतना' प्रथम 'ऐक्य' का प्रक्षेपण है (अगर उसे ऐसा कहा जा सके, ये सभी शब्द बिलकुल निरर्थक हैं), वह उस तात्त्विक ऐक्यका प्रक्षेपण है जो केवल अपने ऐक्यके बारेमें सचेतन है — हां, वही 'निश्चेतना' है। और यह 'निश्चेतना' उन सताओंमें अधिकाधिक सचेतन होती जाती है जो अपने अत्यल्प, आणविक अस्तित्वके बारेमें सचेतन होनेके साथ-ही-साथ, जिसे हम प्रगति, विकास या

रूपांतर कहते हैं उसके द्वारा मूलगत 'ऐक्य' के बारेमें सचेतन हो जाते हैं। और यह बात, जिस तरह दिखायी दी, सारी चीजकी व्याख्या कर देती है।

शब्द कुछ भी नहीं हैं।

वहां हर चीजको, हर चीजको, **हर एक** चीजको, स्थूलतमसे लेकर सूक्ष्मतम चीजतकको अपना स्थान मिल जाता है — स्पष्ट, स्पष्ट, स्पष्ट, अंतर्दर्शन।

और अशुभ, जिसे हम "अशुभ" कहते हैं उसका समग्रमें एक **अनिवार्य** स्थान है। जिस क्षण हम 'उस' के बारेमें आवश्यक रूपसे सचेतन हो जायं उस क्षणसे यह 'अशुभ' नहीं लगेगा। अशुभ एक आणविक तत्त्व है जो अपनी आणविक चेतनाको देख रहा है; लेकिन चूंकि चेतना तत्त्वतः, एक ही है इसलिये वह फिरसे ऐक्य-चेतनाको पा लेती है — दोनों एक साथ। उसीको, हां, **उसीको** उपलब्ध करना चाहिये। उस क्षण मुझे इसी अद्‌भुत चीजका अंतर्दर्शन हुआ था।... और आरंभमें (क्या कोई "आरंभ" भी है?) जो केंद्रीय उपलब्धिसे अधिक-से-अधिक दूर है, जिसे हम बाह्यांचल कह सकते हैं वह वस्तुओंकी अनंत विविधता, संवेदनोंकी विविधता, भावनाओंकी, सबकी — चेतनाकी विविधता बन जाती है। इस अलगावकी क्रियाने ही जगत्‌का निर्माण किया है और सतत निर्माण करती रहती है, साथ-ही-साथ यह हर चीजको समयमें बनाती जाती है: दुःख-कष्ट, सुख, सब कुछ, सब कुछ जो भी निर्मित होता है वह इसीके द्वारा... जिसे "छितराव" कहा जा सकता है परंतु यह असंगत है, यह छितराव नहीं है — स्वयं हम देशकी भावनामें रहते हैं इसलिये छितराव और एकाग्रताकी बात करते हैं, लेकिन यह ऐसी कोई चीज नहीं है।

लेकिन मैं समझ सकती हूं कि 'क' यह क्यों कहा करते थे कि हम 'संतुलन' कालमें रह रहे हैं; मतलब यह हुआ कि चेतनाके इन अनगिनत बिन्दुओंके, इन परस्पर विरोधियोंके संतुलनसे ही केंद्रीय 'चेतना' फिरसे पायी जा सकती है। और जो कुछ कहा गया है वह मूढ़ता है — यह कहते हुए मैं साथ-ही-साथ यह भी देख सकती हूं कि यह किस हदतक मूढ़ता है। लेकिन अन्यथा करनेका कोई मार्ग ही नहीं है। यह कुछ ऐसी चीज है... कोई **ऐसी ठोस** चीज, इतनी सत्य, हां, इतनी पू-री... त-र-ह-से... **वह**।

जबतक मैं वह चीज जी रही थी वह ... लेकिन शायद तब मैं यह न कह पाती। वह (माताजी पुरजेकी ओर इशारा करती हैं), मैं कागज लेकर लिख लेनेके लिये बाधित हुई। लेकिन इस तरह कि अब मुझे

नहीं मालूम मैंने क्या लिखा है...। पहली चीज जो लिखी गयी वह यह थी :

स्थिरता और परिवर्तन

यह मौलिक 'स्थिरता' का विचार था (क्या यह कहा जा सकता है?) जो 'अभिव्यक्ति' में जड़ताद्वारा और वृद्धिका विचार परिवर्तनद्वारा अनूदित हुआ है। तब आये :

जड़ता और रूपांतर

लेकिन वह चला गया, भाव चला गया — शब्दोंमें एक भाव था।

नित्यता और प्रगति

ये परस्पर विरोधी थे (ये तीनों चीजें)।

उसके बाद जगह छूटी हुई थी (माताजी त्रिविध विरोधोंके नीचे लकीर खींचती हैं), और फिर एक बार 'दबाव', और तब मैंने लिखा :

ऐक्य = ... (तीन अक्षर जो पढ़े नहीं जाते)

और वह अनुभूति की बहुत अधिक सच्ची अभिव्यक्ति थी, लेकिन यह अपाठ्य है — मेरा ख्याल है कि यह जान-बूझकर अपाठ्य रखी गयी है। इसे पढ़ सकनेके लिये तुम्हें अनुभूति होनी चाहिये। (शिष्य पढ़नेकी कोशिश करता है) :

मुझे लगता है कि यहां एक शब्द "आराम" है।

हां, यह हो सकता है। आराम और...

(माताजी एकाग्रतामें चली जाती हैं)

यह शब्द "शक्ति" नहीं है?

जी हां, "शक्ति और आराम" मिलकर।

हां, यही है।

ये शब्द मैंने नहीं चुने थे, अतः वह कोई विशेष शक्ति रही होगी —

जब मैं "मैं" कहती हूं तो उसका मतलब होता है वह चेतना जो यहां है (सिरके ऊपर इशारा); यह वह चेतना नहीं है। यह कोई ऐसी चीज थी जो दबाव डाल रही थी जिसने मुझे लिखनेके लिये बाधित किया।

(माताजी नकल करती हैं)

स्थिरता और परिवर्तन
जड़ता और रूपांतर
नित्यता और प्रगति

ऐक्य = शक्ति और आराम मिलकर।

इसका भाव यह है कि दोनों मिलकर चेतनाकी वह अवस्था ले आते हैं जो अपने-आपको व्यक्त करना चाहती थी।

यह विश्वके परिमाणमें था — व्यक्तिके परिमाणमें नहीं।

मैंने दोनोंके बीच एक लकीर लगा दी जिसका मतलब है कि दोनों एक साथ नहीं आये।

लेकिन आप बहुधा इस अतिमानसिक अभिव्यक्तिके बारेमें बोलते समय कह चुकी हैं कि वह एक विस्मयकारक गति थी, और साथ ही यह भी कि वह मानों एकदम निश्चल थी। आपने यह बहुत बार कहा है।

लेकिन तुम जानते हो कि बहुत बार मुझे याद नहीं रहता कि मैंने क्या कहा था।

आप कहती हैं: स्पंदन इतना तेज होता है कि वह अगोचर होता है, वह मानों जमकर स्थिर हो जाता है।

हां, लेकिन यह एक 'महिमा थी' थी जिसमें मैंने आज सवेरे घंटोंतक निवास किया।

और तब, सब, सब, सब धारणाएं, सभी, अत्यधिक बौद्धिक धारणाएं भी सभी, मानों ... मानों बचकानी बन गयीं। वह इतना स्पष्ट था कि उसकी जो प्रतीति थी: उसके बारेमें बोलनेकी कोई जरूरत नहीं।

सभी मानव प्रतिक्रियाएं, अधिक-से-अधिक ऊंची, अधिक-से-अधिक शुद्ध और अधिक-से-अधिक उदात्त प्रतिक्रियाएं भी **इतनी** बचकानी लगती थीं... श्रीअरविंदका लिखा हुआ एक वाक्य सारे समय मुझे याद आ रहा था। एक दिन, पता नहीं कहां, उन्होंने कुछ लिखा था, एक लंबा-सा वाक्य था जिसमें यह आता है: "और जब मुझे ईर्ष्या होती है तो मैं जान लेता हूं कि वह बूढ़ा अभीतक मौजूद है।" अब शायद तीस वर्षसे ऊपर हो गये जब मैंने यह वाक्य पढ़ा था — हां, लगभग तीस वर्ष, — और मुझे याद है जब मैंने "ईर्ष्या" शब्द पढ़ा तो मैंने अपने-आपसे कहा: "श्रीअरविंद कैसे ईर्ष्या कर सकते हैं!" तो अब तीस वर्ष बाद मेरी समझमें आया कि "ईर्ष्या" से उनका क्या मतलब था। यह वह चीज बिलकुल नहीं है जिसे लोग "ईर्ष्या" कहते हैं। वह एकदम चेतनाकी और ही अवस्था थी। मैंने उसे स्पष्ट देखा। और आज सवेरे मुझे यह फिरसे याद आया: **जब मैं ईर्ष्या करता हूं तो मैं जान लेता हूं कि वह बूढ़ा आदमी अभीतक मौजूद है।** उनके लिये "ईर्ष्या" करनेका वह अर्थ नहीं है जिसे हम "ईर्ष्या" करना कहते हैं।... वह यह अति सूक्ष्म कण है जिसे हम व्यक्तित्व कहते हैं, चेतनाका यह अत्यंत लघु कण जो अपने-आपको केंद्रमें रखता है, जो प्रत्यक्ष दर्शनका केंद्र है जो परिणामतः चीजोंको इस तरह आते देखता है (अपनी ओर संकेत) या इस तरह जाते देखता है (बाहरकी ओर संकेत), जो कुछ उसकी ओर नहीं आता वह उसे एक ऐसी चीजका बोध देता है जिसे श्रीअरविंद "ईर्ष्या" कहते हैं: यह बोध कि चीजें केंद्रकी ओर आनेकी जगह छितरा रही हैं। इसीको श्रीअरविंद ईर्ष्या करना कहते हैं। तो जब वे कहते हैं: "जब मैं ईर्ष्याका अनुभव करता हूं (उनके कहनेका मतलब यही था), तो मैं जान लेता हूं कि बूढ़ा आदमी अभीतक मौजूद है," यानी, यह चेतनाका यह अणुवत् कण **अभीतक** अपने केंद्रमें है: यह क्रियाका केंद्र है, बोधका केंद्र है, संवेदनका केंद्र है...

(मौन)

हां, मैं देख सकती थी — जब मैं अपना सारा भौतिक काम करती हूं — तब मैं देख सकती थी कि सारा काम चेतनामें जरा भी परिवर्तन किये बिना किया जा सकता है। उसने मेरी चेतनामें परिवर्तन नहीं किया; जिस चीजने मेरी चेतनापर परदा डाला वह चीज थी लोगोंसे मिलना-जुलना; तब मैंने यहां रहकर वह करना शुरू किया जो मैं रोज करती रही हूं — अर्थात्, लोगोंपर दिव्य चेतना प्रक्षिप्त करना। लेकिन

वह सीमाओंपर वापिस आ गयी... (इसे कैसे बुलाया जा सकता है?) यानी, अंदर **रहने**की जगह जब तुमने मुझसे पूछा तो मैं इसे देखने लगी। लेकिन वह भावना वहां न रही — वहां **केवल वही** था, है न! केवल वही था और हर चीज, हर चीज बदल गयी — रूप-रंग, भाव आदि बदल गये थे...

यह अतिमानसिक चेतना होनी चाहिये: मेरा ख्याल है कि यह अतिमानसिक चेतना ही है।

> **लेकिन हम भली-भांति कल्पना कर सकते हैं कि एक काफी विस्तृत और द्रुत चेतनाके लिये, जो केवल मार्गके जरा-से भागको ही नहीं, एक ही समयमें समस्त मार्गको देख सकता है...**

हां, हां।

> **समग्र एक गतिशील पूर्णता है।**

हां।

> **'अशुभ' है अपनी दृष्टिको एक छोटे-से कोणपर सीमित रखना; तब हम कह सकते हैं: "यह अशुभ है," लेकिन अगर हम समस्त पथको देखें...। समग्र चेतनामें देखें तो स्पष्ट है कि अशुभ कुछ है ही नहीं।**

कोई विपर्याय नहीं है, कोई विरोधी तत्त्व नहीं है — कोई विरोध भी नहीं है, मैं कहती हूं: कोई विपर्याय नहीं है। एक वही 'ऐक्य' है। उस 'ऐक्य' में **जीना** है। उसे शब्दों और विचारोंमें अनूदित नहीं किया जा सकता। मैं कहती हूं, वह... निस्सीम विस्तार है, प्रकाश...बिना गतिका प्रकाश है और साथ-ही-साथ आराम...एक ऐसा आराम जिसे इस रूपमें नहीं पहचाना जाता। अब मुझे विश्वास है कि यह वही है, वही अतिमानसिक चेतना।

और आवश्यक रूपसे, आवश्यक रूपसे उसे धीरे-धीरे रूप-रंग बदलने होंगे।

(लंबा मौन)

ऐसे कोई शब्द नहीं हैं जो भागवत महिमा समझा सकें। सारी चीज

किस तरह मिली हुई है ताकि सब कुछ यथासंभव तेजीसे चल सके। और व्यक्ति उस हदतक दुःखी है जिस हदतक वे उसके बारेमें सचेतन नहीं होते और उन्हें जो हो रहा है उसके बारेमें गलत स्थिति लेते हैं।

लेकिन यह सोचना कठिन है कि हर क्षण . . . पूर्णता होनी चाहिये।

हां, ऐसा ही।

हर क्षण पूर्णता है।

हर क्षण, कोई और चीज नहीं है। जब मैं वहां थी तो वहां कोई और चीज न थी। और फिर भी मैंने तुमसे कहा है, यह वह समय था जब मैं शारीरिक रूपसे बहुत व्यस्त थी — सारा काम हो रहा था, **किसी चीज**में कोई बाधा न थी। इसके विपरीत, मेरा ख्याल है कि मैं सामान्यकी अपेक्षा बहुत ज्यादा अच्छी तरह काम करती थी . . .। पता नहीं, कैसे समझाया जाय। यह ऐसा नहीं था मानों कोई चीज "जोड़ी" गयी हो : यह बिलकुल स्वाभाविक था।

उस चेतनामें जीवन जैसा है, वैसा जिया जा सकता है — और तब वह काफी अच्छी तरह जिया जाता है! . . . कुछ भी बदलनेकी जरूरत नहीं है। जो कुछ बदलना है वह अपने-आप स्वाभाविक तौरसे बदल जाता है।

मैं एक उदाहरण देती हूं। कुछ दिनोंके लिये मुझे . . . के साथ कुछ कठिनाई हुई। मैं उसका नाम नहीं बताऊंगी। उसकी कुछ गतियोंको ठीक करनेके लिये उसपर दबाव डालना पड़ा। आज वह उसके बारेमें साधारणसे ज्यादा भिन्न तरहसे सचेतन था, और अंतमें उसने कहा कि वह परिवर्तनके मार्गपर है (और यह बात ठीक है), और यह सब बिना एक शब्दके ही नहीं, दबाव डालनेके लिये चेतनाकी किसी गतिके बिना हुआ। तो यह बात है। यह प्रमाण है . . .। सब कुछ यंत्रवत् होता है, किसी हस्तक्षेपकी आवश्यकताके बिना 'सत्य'की **स्थापना**-सा : केवल सत्य चेतनामें निवास करना, बस इतना ही, यही काफी है।

तो बस, यही बात है।

लेकिन तब, सब बातोंके बावजूद, शरीरने सारे समय अपनी आवश्यकताओंकी जरा-सी चेतना रखी थी (यद्यपि वह अपने साथ व्यस्त न था;

मैं हमेशा कहती थी : वह अपने साथ व्यस्त नहीं है उसे रस नहीं है), लेकिन यही वह बात है जिसके लिये श्रीअरविंद कहते थे : "मुझे लगता है कि मैं अब भी वही बूढ़ा आदमी हूं।" मैं आज इस बातको समझ पायी, क्योंकि आज वह न था। हां, तो इस प्रकार अभीतक जो बिलकुल ठीक नहीं है उसका बहुत शांत-स्थिर बोध — इधर दर्द, उधर कठिनाई — बहुत शांत, बहुत उदासीन, (कोई महत्त्व पाये बिना) उसका **बोध होता** है। और अब यह भी गया! एकदम साफ! ... मैं आशा करती हूं कि वह लौटेगा नहीं। वह वास्तवमें ... मैं समझती हूं, यह रूपांतर है। व्यक्ति स्वर्णिम विस्तारमें सचेतन है — यह अद्‌भुत है — ज्योतिर्मय, स्वर्णिम, शांत, शाश्वत और सर्वशक्तिमान।

और यह आया कैसे? ... वास्तवमें उसे व्यक्त करनेके लिये कोई शब्द नहीं है, भागवत कृपाके इस चमत्कार ... भागवत कृपा, भागवत कृपा एक ऐसी चीज है जो अपनी स्पष्ट दृष्टिवाली सहृदयताके साथ सारी समझके परे है। स्वभावतः शरीरको अनुभव था। कुछ बात हुई थी जो मैं तुम्हें न बताऊंगी और उसकी सच्ची प्रतिक्रिया हुई। वह पुरानी प्रतिक्रिया न हुई, उसमें सत्य प्रतिक्रिया हुई — वह मुस्काया, वह परम प्रभुकी 'मुस्कान' से मुस्काया। वह पूरे डेढ़ दिन रही। इस कठिनाईने शरीरको अंतिम प्रगतिके योग्य बनाया, उस दिव्य चेतनामें रहने योग्य बनाया; अगर सब कुछ सामंजस्यपूर्ण होता तो वही चीजें बरसोंतक चल सकती थीं। वह अद्‌भुत था, अद्‌भुत!

और मनुष्य कितने मूढ़ हैं! जब भागवत कृपा उनके पास आती है तो वे उसे "ओह! कैसी विभीषिका है!" कहते हुए धकेल देते हैं! मैं इसे बहुत जमानेसे जानती हूं, पर मेरी अनुभूति चौंधियानेवाली है।

जी हां, हर चीज पूर्ण रूपसे, अद्‌भुत रूपसे, हर क्षण वही है जो उसे होना चाहिये।

ठीक ऐसा ही है।

लेकिन हमारी दृष्टि मेल नहीं खाती।

हां, यह हमारी पृथक् चेतना है।

सब कुछ विद्युत् गतिसे उस चेतनाकी ओर लाया गया है जो बिन्दुकी चेतना होनेके साथ-साथ समग्रकी चेतना होगी।

(लंबा मौन)

(माताजी अपने नोटकी नकल कर चुकती हैं) लो, मैं इसपर आजकी तारीख लिखती हूं।

आज १९ नवंबर है।

१९ नवंबर, १९६९ अतिमानसिक चेतना।

(मौन)

अतिमानसिक चेतनाका पहला अवतरण २९ तारीखको हुआ था और यह १९ तारीख है।... यहां ९ लक्ष्य करने लायक है....। इतनी सारी चीजें हैं जिन्हें हम नहीं जानते!

(मौन)

मुझे आंशिक रूपमें पहले ही यह अनुभूति हो चुकी थी कि अगर हम आंतरिक सामंजस्यकी इस अवस्थामें हों और एकाग्रताका कोई भी अंश शरीरकी ओर मुड़ा न हो तो शरीर बिलकुल अच्छी तरह काम करता है। यह... स्वकेंद्रित होना ही सब कुछ बिगाड़ देता है। और मैंने यह बहुत बार देखा है, बहुत बार...। वास्तवमें, आदमी अपने-आपको बीमार **कर लेता है**। यह चेतनाकी संकीर्णता है, उसका विभाजन है। अगर तुम उसे क्रिया करने दो...। हर जगह एक दिव्य चेतना है, एक दिव्य कृपा है जो सब कुछ करती है ताकि सब ठीक चल सके। लेकिन इस मूर्खताके कारण ही सब कुछ बिगड़ जाता है — अजीब है यह! अहं-केंद्रित मूढ़ताको ही श्रीअरविंद "वह बूढ़ा आदमी" कहते हैं।

यह सचमुच मजेदार है।

१० दिसंबर, १९६९

प्रगति दानवाकार पग ले रही है — वह मकानको जरा हिला तो देती है, पर बढ़ रही है दानवाकार कदमोंसे। और 'क' जैसे कुछ लोगोंके लिये यह बहुत सचेतन है। बहुत समय पहले उसके घुटनेमें कुछ चोट लग गयी थी और यह पैर दूसरे पैरसे ज्यादा कमजोर है। उसके खुल जानेकी संभावना थी। उसने देखा कि जब वह उचित वृत्तिमें रहती थी तो **कुछ न होता था**, ऐसा लगता था कि तकलीफ बिलकुल चली गयी। जैसे ही वह सामान्य चेतनामें जा गिरती कि बीमारी वापिस आ जाती थी . . .। उसे ऐसे अनगिनत अनुभव हुए। मुझे यह बात बहुत रोचक लगी। और बातें भी।

और यह सचमुच रोचक है। यह सचमुच रोचक है क्योंकि इसमें बिलकुल स्वच्छ और प्रत्यक्ष स्पष्टता है, क्योंकि यह **पूरी तरहसे चेतनाकी एक अवस्था है**। जब तुम्हारे अंदर चेतना हो, (यानी, चेतना अधिकाधिक सत्य होती जाय — कोई अवरुद्ध चीज नहीं, बल्कि आरोहण करती हुई चेतना), जब तुम उसके अंदर हो तो हर चीज बिलकुल ठीक होती है, लेकिन जैसे ही तुम पुरानी प्रगतिशून्य या धीरे-धीरे लगभग अदृश्य प्रगति करनेवाली चेतनामें जा गिरते हो वैसे ही अव्यवस्था लौट आती है। और यह मानों बहुत ही स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूपमें दिया गया पाठ है।

यह सचमुच रोचक है।

और शरीर सीखता चला जाता है। वह तेजीसे सीखता है।

(मौन)

निश्चय ही जब मनुष्य औरोंमें पूर्णता पानेके लिये प्रतीक्षा करना छोड़कर स्वभावतः अपने-आपको पूर्ण करनेकी ओर मुड़ेगा तो यह एक बड़ा कदम होगा . . .। यह उलटाव सच्ची प्रगतिका सच्चा आधार है। पहली मानव सहजवृति है : यह परिस्थितियोंका दोष है, व्यक्तियोंका दोष है, दोष . . .। वह ऐसा है, यह वैसा है . . . और यह बात अनंतकालतक चलती रहती है। **पहला** कदम, सबसे पहला कदम है यह कहना : अगर मैं वैसा होऊं जैसा मुझे होना चाहिये या यह शरीर ऐसा हो जैसा होना चाहिये, तो इसके लिये सब कुछ ठीक हो जायेगा। अगर प्रगति करनेके लिये तुम दूसरोंके प्रगति करनेकी प्रतीक्षा करोगे तो तुम्हें अनिश्चित

कालतक प्रतीक्षा करनी होगी। यह पहली बात है जिसे सब जगह फैला देना चाहिये। कभी दूसरोंको या परिस्थितियोंको दोष न दो, क्योंकि परिस्थितियां चाहे जैसी क्यों न हों, चाहे बुरी-से-बुरी दीखनेवाली परिस्थितियां हों, अगर तुम सत्य वृत्ति रखो, अगर तुम्हारे अंदर सत्य चेतना हो तो तुम्हारी आंतरिक प्रगतिके लिये उनका कोई महत्त्व न होगा, कोई महत्त्व न होगा — मैं यह कहती हूं और इसमें मृत्युको भी गिन लेती हूं।

वास्तवमें यह सीखनेके लिये पहला पाठ मालूम होता है।

(मौन)

श्रीअरविंदने लिखा है (मैं भावानुवाद करती हूं) कि पापकी धारणा प्रगतिको तेज करनेके लिये लायी गयी थी और तुरंत (हंसते हुए) मनुष्यने और सबके अंदर पाप देखा — लेकिन स्वयं अपने अंदर कभी नहीं। श्रीअरविंदका वाक्य बड़ा मनोहर है, लेकिन मुझे याद नहीं।[1]

१३ दिसंबर, १९६९

मेरे पास श्रीअरविंदके 'सूत्र' प्रायः रोज ही आते रहते हैं। इन्हें मैं बिलकुल भूल चुकी थी...। वे बहुत मजेदार बातें हैं...। कुछसे मुझे ऐसा लगता है कि वे उस अतिमानसिक चेतनाकी एक प्रकारकी प्रतिलिपि हैं (हम उन्हें बौद्धिक कह सकते हैं, लेकिन वे हैं नहीं, यह मानस भावप्राप्त उच्चतर मन है, यानी, वहां विचारकी पहुंच है) जिसकी अनुभूति मुझे हुई थी, जिसमें शुभ और अशुभका भेद और ऐसी सब चीजें बचकानी लगती हैं। श्रीअरविंद 'सूत्रों'में इन बातोंको इस तरह व्यक्त करते हैं कि

---

[1] ६८— पाप-भावनाका होना आवश्यक था ताकि मनुष्य अपनी निजी अपूर्णताओंसे उकता जाय। यह अहंकारका संशोधन करनेके लिये भगवान्‌का उपाय था। परंतु मनुष्यका अहंकार स्वयं अपने पापोंके प्रति तो बहुत ही धीमे रूपमें और दूसरोंके पापोंके प्रति बहुत तीव्र रूपमें जाग्रत् रहकर भगवान्‌के इस उपायका सामना करता है।

बुद्धिगम्य हो जायं। केवल...जो लोग समझते हैं वे अच्छी तरह नहीं समझते! क्योंकि वे पुरानी रीतिसे समझते हैं।

क्या तुम्हें वे सूत्र याद हैं? एक है जहां वे कहते हैं: "अगर मैं राम नहीं बन सकता तो रावण बनना चाहूंगा..." और वे कारण समझाते हैं। यह उसी सूत्रावलीमें है।[1]

(मौन)

यहां एक व्यावहारिक समस्या है: यह तो स्पष्ट है कि हम कुछ गतियोंको दूर करना चाहेंगे क्योंकि हमें लगता है कि वे दोष-पूर्ण हैं, लेकिन हमें पता नहीं चलता कि यह करें कैसे। क्या यह ऊपरसे है? जब-जब ऐसी गति सिर उठाये उसपर प्रकाश डाला जाय और फिर——

यह गतिके प्रकारपर निर्भर है; इसपर निर्भर है कि वह सत्ताके किस भाग में है और किस जातिकी है।

मुझे विश्वास है कि हर कठिनाई एक विशेष समस्या है। तुम कोई सामान्य नियम नहीं बना सकते।

---

[1] २२१ —— मनुष्य शत्रुओंकी बात करते हैं, पर कहां है वे? मैं तो केवल विश्वके विशाल अखाड़ेमें किसी एक या दूसरे पथके पहलवानोंको ही देखता हूं।

२२२ —— संत और देवदूत ही दिव्य सत्ताएं नहीं हैं; दैत्य और असुरके लिये भी प्रशंसाके शब्द कहो।

२२३— पुराने ग्रंथोंमें असुरोंको ज्येष्ठ देवता कहा जाता है। और वे अब भी वही हैं; कोई भी देवता पूरी तरहसे दिव्य नहीं होता जबतक कि उसमें एक असुर न छिपा हुआ हो।

२२४ —— यदि मैं राम नहीं हो सकता तो मैं रावण होऊंगा; क्योंकि वह विष्णुका अंधकारमय पक्ष है।

उदाहरणके लिये, उस दिन आपने कहा था कि जनम एक "रेचन" है . . .

(माताजी हंसती हैं)

आपको याद है: जिन लोगोंने हर चीज दबा दी है वे देखते हैं कि वही चीजें बच्चोंमें प्रकट हो रही हैं।[१]

हां, हां!

और आपने कहा था कि इससे पता चलता है कि क्या नहीं करना चाहिये।

हां।

तो अब मैं यह जानना चाहूंगा कि दमनके बिना उपचारका

---

[१] "उन लोगोंका एक बहुत बड़ा भाग जो बिना चाहे, बस "यूं" ही बालक पैदा कर लेते हैं, और जो शिक्षित होते हैं, यानी, जिनके दिमागोंमें कुछ विचार ठूंसे गये होते हैं, यानी, अमुक दोष हैं जो नहीं होने चाहिये और अमुक गुण हैं जो होने चाहिये — ये सब बातें जो उनकी सत्तामें धंसा दी गयी थीं, सभी भ्रष्ट सहजवृत्तियां ऊपर उठ आती हैं। मैंने अवलोकन किया, देखा और बहुत, बहुत पहले कहीं पढ़ा है (शायद वह रेनांमें था), उसने लिखा था कि हमें अच्छे और बहुत आदरणीय मां-बापपर विश्वास न करना चाहिये (हंसते हुए), क्योंकि जनम एक "रेचन" है! और उसने यह भी कहा था कि बुरे लोगोंके बच्चोंको सावधानीसे देखो, वे प्रायः प्रतिक्रिया होते हैं! और अपनी अनुभूतिके बाद, जो मैंने देखा है उसके बाद मैंने अपने-आपसे कहा: यह आदमी बिलकुल ठीक कहता था! यह लोगोंके लिये अपने-आपको रेचन देनेका एक तरीका है। वे जो चीजें नहीं चाहते उन्हें इस तरह बाहर निकाल देते हैं। . . . और यह बहुत मजेदार है। इससे हमें इस बातकी **चाबी** मिलती है कि हमें क्या करना चाहिये। यह दिखाकर कि क्या नहीं करना चाहिये, यह बात तुम्हें इसकी चाबी देती है कि क्या करना चाहिये।"

क्या तरीका है? क्योंकि यथार्थतः प्रकाश डाला जाता है, लेकिन इससे गलत गति नीचे चली जाती है।

हां, यह सामान्य नियम है। इससे उलटी चीज करनी चाहिये: उसे भूमिगत करनेकी जगह निवेदित कर देना चाहिये। उस चीजको, उस गतिको प्रकाशके सामने **प्रक्षिप्त** करना चाहिये...। साधारणतः वह छटपटाती और इनकार करती है। लेकिन (हंसते हुए) यही एकमात्र उपाय है। इसीलिये यह चेतना इतनी मूल्यवान् है...। हां, जो चीज दमनको लाती है वह है भले-बुरेकी धारणा, जो बुरा समझा जाता है उसके लिये उस तरहका तिरस्कार या लज्जा, और तब तुम यूं करते हो (पीछे हटनेकी मुद्रा), तुम उसे देखना नहीं चाहते, तुम वहां रहना नहीं चाहते। होना यह चाहिये... पहली चीज — सबसे पहली चीज जो हमें जाननी चाहिये वह है चेतनाकी दुर्बलता जो विभाजन करती है। एक और 'चेतना' है, (अब मुझे इसका विश्वास है) एक ऐसी चेतना है जिसमें यह भेद नहीं है, जिसमें, जिसे हम 'अशुभ' कहते हैं, वह भी उतना ही जरूरी है जितना वह जिसे हम 'शुभ' कहते हैं। अगर हम अपने संवेदनको प्रक्षिप्त कर सकें — अपनी क्रियाको या अपने बोधको — उस प्रकाशमें प्रक्षिप्त कर सकें तो उससे उपचार मिल जायगा।[1] उसे नष्ट करने लायक चीज समझकर उसका दमन करने या त्याग करनेकी जगह (उसे नष्ट नहीं किया जा सकता!), उसे प्रकाशमें प्रक्षिप्त करना चाहिये। इसके कारण मुझे कई दिनोंतक एक बड़ी मजेदार अनुभूति होती रही: अमुक चीजोंको (जिन्हें तुम स्वीकार नहीं करते और जो सत्तामें असंतुलन पैदा करती हैं), उन्हें अपनेसे दूर फेंकनेकी कोशिश

---

[1] इस वार्ताके प्रकाशित होनेके समय माताजीने यह टिप्पणी जोड़ दी:

"इस 'चेतना' में जहां दो विपरीत चीजें, दो विरोधी बातें एक साथ जोड़ दी जाती हैं, दोनोंकी प्रकृति बदल जाती है। वे वही नहीं बनी रहतीं जो वे थीं। वे केवल जोड़ी नहीं जातीं कि जैसी-की-तैसी बनी रहें: उनकी प्रकृति बदल जाती है। और यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। उनकी प्रकृति, उनकी क्रिया, उनके स्पंदन जुड़नेके साथ ही एकदम बदल जाते हैं। विभेद उन्हें वह बनाता है जो वे हैं। विभेदको अलग कर दो और उनकी प्रकृति बदल जायगी। तब 'शुभ' और 'अशुभ' नहीं बना रहता, कुछ और ही होता है, कोई चीज पूर्ण और समग्र।"

करनेकी जगह, उन्हें स्वीकार कर लो, अपने अंशके रूपमें स्वीकार कर लो . . . (माताजी अपने हाथ फैलाती हैं) और उन्हें निवेदित कर दो। वे निवेदित होना नहीं चाहतीं, लेकिन उन्हें बाधित करनेका एक तरीका है। उन्हें बाधित करनेका एक तरीका है : हम जिस अनुपातमें अपने अंदरसे अस्वीकृतिकी भावनाको कम कर सकेंगे उसी अनुपातमें उनका प्रतिरोध घटता जायगा। अगर हम इस अस्वीकृतिके भावकी जगह उच्च-तर समझको ला सकें तो सफलता मिलती है। यह बहुत ज्यादा आसान है।

मेरा ख्याल है कि यही है। वे सब गतियां, सभी, जो तुम्हें नीचेकी ओर घसीटती हैं उन सबका उच्चतर समझके साथ संपर्क करवाना चाहिये।

स्पष्ट है कि यह मनके परे है। जैसा मैंने अभी कहा श्रीअरविंदके सूत्र बुद्धिगम्य अभिव्यंजना हैं, फिर भी वे कम तो कर ही देते हैं; वे कम कर देते हैं। उनमें शब्द-रहित प्रज्ञाकी चकाचौंध नहीं है — वहीं, केवल वहीं चीजें व्यवस्थित की जा सकती हैं।

स्वयं अपने-आपको समझनेसे भी चीज घट जाती है। कुछ न कहना चाहिये। (हंसते हुए) यह ऐसा है जैसे रंगकी एक ऐसी परत लगाना जो विकृत कर दे।

(माताजी अचानक पाससे एक कापी उठाती हैं और जो पत्र उन्होंने बातके आरंभमें पढ़ा था उसका उत्तर लिखती हैं।)

यह इस तरह आया। यह इसी तरह होता है: एकदम अचानक! और तब वह ठहरा रहता है, जबतक मैं लिख न लूं तबतक जाना नहीं चाहता। यह बहुत मनोरंजक है।

यह मनोरंजक है क्योंकि यह मेल नहीं खाता।. . . (मैं अब यह भी नहीं कह सकती कि मैं जो सोच रही हूं उसके साथ मेल नहीं खाता, क्योंकि अब मैं सोचती ही नहीं) मेरी अनुभूतिके साथ मेल नहीं खाता, दूसरेको जिस चीजकी जरूरत है उसके साथ मेल खाता है। दूसरेके लिये उत्तर लिखवा दिया जाता है। शब्द, मुहावरे, वाक्य-रचना, प्रतिपादन उस व्यक्तिके साथ बदल जाते हैं जिसे लिखा जा रहा हो। और (माताजीकी) जो चेतना वहां है (ऊपरकी ओर संकेत), इसके साथ कोई संबंध नहीं रखती। वह प्राप्त करती है और फिर यह चीज नीचे आती है और इस तरह करती जाती है (हथौड़ी चलानेका संकेत), जबतक मैं लिख न लूं! जबतक लिख न लिया जाय तबतक यह वापिस नहीं जाना चाहती। यह बहुत मनोरंजक

है...। इस भांति वह अपने-आपको थकाये बिना कठिन परिश्रम कर सकती है। (माताजी हंसती हैं)

मैं बहुत चाहूंगा कि मुझे एक बीज मिल जाय।

यह लो (माताजी हंसते हुए अपने हाथ देती हैं)।

क्योंकि मानसिक नीरवतामें भी — मुझे हमेशा मानसिक नीरवतामें लिखनेकी आदत है — लेकिन हर चीजके बावजूद इस नीरवतामें भी मैं सावधान रहता हूं कि पुराने रूप या प्रतिक्रियाएं आकर अपने-आपको नीरवतामें व्यक्त करना शुरू न कर दें।

हां, हां।

मुझे इसका भय है।

हां, पुरानी चीजें उठ आती हैं।

लेकिन क्या तुम्हें यह नहीं लगता कि वे ऊपरसे आती हैं?

मुझे लगता है कि 'शक्ति' वहां है और वह नीचे उतरती है।

हां, तो फिर?

लेकिन फिर, जब मैं लिखता हूं तो अपने-आपसे कहता हूं...।

ओह! यह प्रायः होता है।

मैं अपने-आपसे कहता हूं: शायद मुझे यह न कहना चाहिये था।

लेकिन यह तो मनका दखल देना हुआ।

पता नहीं।

यह मेरे साथ भी होता है। कभी-कभी, मैं लिखकर भेज देती हूं और बादमें मुझे याद आता है कि मैंने क्या लिखा था और मैं अपने-आपसे कहती हूं: धत्! मुझे यह न कहना चाहिये था! ...और मैं पता लगा लेती हूं कि वह ठीक था — मेरी प्रतिक्रिया मानसिक थी।

मेरे साथ यह बहुत बार हुआ हैं। उदाहरणके लिये, उस दिन मुझे 'ज' को लिखना था। वह बहुत बार अवांछनीय बातें लिखता है, लेकिन मैं कुछ नहीं कहता; लेकिन उस दिन मैंने उसे एक कड़ा पत्र लिखा और उससे पूछा कि इस सबका मतलब क्या है? बादमें मैंने अपने-आपसे कहा: नहीं, मुझे टस-से-मस न होना चाहिये, और मैंने पत्र नहीं भेजा...। क्या करना चाहिये, मुझे पता नहीं।

यह, वत्स... (मौन)

यह कठिन है।

हां...लेकिन जब तुम ऊपरकी ओर मुड़ते हो या जब तुम अभीप्सा करते हो या जब तुम परम चेतनाकी ओर इस तरह खुलते हो, तो वह मूर्त्त हो जाती है।

जी हां, वह ठोस होती है।

वह मूर्त्त होती है? व्यक्तिको... समझे, **एक** ही रास्ता है, अहंको जाना चाहिये। बस, यही है। यही है। केवल जब "मैं" के स्थानपर कुछ भी न रहे: वह इस तरह बिलकुल चपटा हो जाय (किसी बहुत बड़ी, बराबर, बिना शिकनकी चीजका संकेत), जिसमें एक प्रकारका... यह शब्दोंके द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता, एक बहुत ही **स्थायी** संवेदनके साथ: "जैसी तेरी इच्छा, जैसी तेरी इच्छा।" (शब्द बहुत तुच्छ बन जाते हैं।) वास्तवमें यह ठोस संवेदन होना कि इस (शरीर)का अस्तित्व ही नहीं है, इसका केवल उपयोग किया जा रहा है — केवल 'वह' है। 'वही' यह करता है (दबावका संकेत)। उसका यह संवेदन यह सचेतन 'विस्तार'

(माताजी बाहें फैलाती हैं) ...अंतमें तुम निश्चय ही उसे देखते हो ("देखते हो", यह प्रतीकोंवाला अंतर्दर्शन नहीं है, यह एक दृष्टि है...। पता नहीं किस तरहकी! परंतु वह बहुत ठोस है, बिम्बोंवाले अंतर्दर्शनसे कहीं अधिक ठोस है), इस **बृहत्** 'शक्ति' का अंतर्दर्शन, यह **बृहत्** 'स्पंदन' जो दबाव डालता है, दबाव डालता है, दबाव डालता है, दबाव डालता है ...और यह जगत् जो उसके नीचे कुलमुलाता है (!) और चीज खुल जाती है और जब वह खुल जाती है तो वह प्रवेश करता और फैलता है। यह सचमुच मजेदार है।

यही एकमात्र समाधान है। कोई और नहीं। बाकी सब ... अभीप्साएं, कल्पनाएं, प्रत्याशाएं...। यह अभीतक अति-मानव है, अतिमानस नहीं। यह एक उच्चतर मानव जाति है जो सारी मानवताको ऊपर खींचनेकी कोशिश करती है, लेकिन वह... इसका कोई फायदा नहीं, इसका कोई फायदा नहीं।

चित्र बहुत स्पष्ट है। यह समस्त मानवजाति ऊपर चढ़नेके लिये चिपटी रहती है, जो इस तरह पकड़े रहनेकी कोशिश करती है, पर वह अपने-आपको देना नहीं चाहती — वह लेना चाहती है! इससे काम न चलेगा। उसे अपने-आपसे हाथ धोने होंगे। तभी वह वस्तु आकर अपना स्थान ले सकेगी।

सारा रहस्य इसीमें है।

उदाहरणके लिये, मानवजातिका यह सारा पक्ष जो चीजोंको **जोरसे** हथियाना चाहता है और उन्हें ऊपरसे खींचता है (माथेतककी ऊंचाईका संकेत) ...यह मजेदार है; यह नहीं कहा जा सकता कि यह मजेदार है, परंतु यह **वह नहीं** है! वह नहीं है, यह कहनेकी जरूरत नहीं कि मानवताके अंदर कोई चीज समझ सके उससे पहले ये सब संभावनाएं समाप्त करनी होंगी... केवल वही है (माताजी आत्म-विलोपनकी मुद्रामें हाथ फैलाती हैं), अपने-आपको दंडवत् लिटाकर, जबतक कि स्वयं वह गायब न हो जाय।

वास्तवमें, यह — गायब होना सीखना — सबसे कठिन चीज है।

(मौन)

अच्छा ठीक है, वत्स (हंसते हुए), हम जा पहुंचेंगे।

२७ दिसंबर, १९६९

लगता तो ऐसा है कि सब कुछ भौतिक द्रव्यमें डूबा हुआ है. . .। समस्याओं और व्यावहारिक कार्योंमें इस तरह डूबे रहनेकी प्रतीतिके बावजूद क्या कोई योग या कोई और चीज हो रही है — जब कि ऐसा लगता है कि हम बाहरी तौरपर इतने तल्लीन हैं कि ऐसा कोई बोध नहीं होता कि हम कुछ कर रहे हैं?

ओह! लेकिन अब सारी सत्ता (शरीरने इसे भली-भांति समझ लिया है), सारी सत्ता जानती है कि हर चीज, हर चीज, जहांतक हो सके तुम्हें जल्दी-से-जल्दी आगे बढ़ानेके लिये आती है। बाधाएं, विरोध, गलत-फहमियां, व्यर्थ चिंताएं, हर चीज, हर चीज, हर एक चीज तुम्हें आगे बढ़ानेके लिये आती है; वह कभी एक बिंदुको, कभी दूसरेको, कभी किसी औरको छूती है ताकि तुम जितनी तेजीसे हो सके, उतनी तेजीसे आगे बढ़ सको। अगर तुम इस भौतिक द्रव्यके साथ संबद्ध न हो तो यह कैसे बदलेगा?

और यह बहुत स्पष्ट है, यह बिलकुल प्रत्यक्ष है कि सभी आपत्तियां, सभी विरोध एक ऊपरितलीय मनसे आते हैं जो चीजोंका केवल बाहरी रूप ही देखता है। यथार्थमें यह तुम्हारी चेतनाको इसके बारेमें सावधान करनेके लिये है ताकि वह ऐसी चीजोंसे धोखेमें न आ जाय और साफ देख सके कि यह सब बिलकुल बाहरी है और सतही है और इसके पीछे जो कुछ किया जा रहा है वह . . . रूपांतरकी दिशामें यथासंभव तेजीसे बढ़ रहा है।

(लंबा मौन)

अपने उच्चतर स्तरपर बुद्धि आसानीसे समझ लेती है कि वह कुछ नहीं जानती और वह बड़ी आसानीसे उस वृत्तिमें आ जाती है जिसकी प्रगतिके लिये जरूरत है। लेकिन वे लोग भी जिनमें यह बुद्धि है, वे भी जब भौतिक चीजोंका सवाल होता है तो सहजवृत्तिसे यही मानते हैं कि वहां सब कुछ निश्चित अनुभवोंके आधारपर जाना, समझा गया है और यहीं तुम असुरक्षित हो जाते हो। शरीरको ठीक यही बात सिखायी जा रही है — चीजों-को देखने और समझनेकी वर्तमान पद्धति जो अच्छे-बुरे, शुभ-अशुभ, प्रकाशमय, धुंधले . . . सब प्रकारकी विपरीतताओंपर आधारित है; वह

बेकार है; सारा निर्णय, जीवनकी सारी कल्पना उस (भौतिक जीवन) पर आधारित है और तुम्हें इस बोधकी मूर्खता सिखानेके लिये है। मैं उसे देखती हूं। काम बहुत तनावपूर्ण और बहुत आग्रही हो गया है मानों तेज चलनेके लिये आदेश है।

व्यावहारिक भाग भी जो यह सोचता था कि उसने यह सीख लिया है कि कैसे जिया जाय, और यह कैसे जाना जाय कि क्या करना है और कैसे करना है, उसे भी यह समझना होगा कि वह सच्चा ज्ञान न था और न बाह्य चीजोंका उपयोग करनेकी सच्ची विधि थी।

(मौन)

कुछ मनोरंजक चीजें भी हैं...। यह 'चेतना' जो सारे समय कार्यरत रहती है वह मानों शरीरको 'चिढ़ाती' है; वह हमेशा कहती रहती है: "देखो, तुम्हें संवेदन होता है, अच्छा तो इसका आधार क्या है? तुम्हारा ख्याल है कि तुम इसे जानते हो, क्या तुम वास्तवमें जानते हो कि इसके पीछे क्या है?" जीवनकी सभी छोटी-मोटी चीजोंके लिये, हर क्षण-की चीजोंके लिये यही होता है। और तब शरीर ऐसा हो जाता है (माताजी बड़ी-बड़ी आंखें आश्चर्यसे खोलती हैं), और अपने-आपसे कहता है: यह सच है, मैं कुछ नहीं जानता। उसका उत्तर हमेशा एक ही होता है: "मैं यह दावा नहीं करता कि मैं जानता हूं, भगवान्‌की जो इच्छा हो वही करें।" ऐसी बात है। और फिर, यह चीज है (अगर उसे स्थायी रूपसे पकड़ा जा सके तो अच्छा हो) : (चीजको सरलतम ढंगसे कहें तो) प्रभुके कार्यमें अहस्तक्षेप।

(मौन)

यह **तथ्य**के द्वारा दिखाया गया है, हर क्षणकी अनुभूति यह दिखाती है कि जब कोई चीज इस तरहकी उपार्जित बुद्धि, उपार्जित समझ या जी हुई अनुभूतिके द्वारा की जाती है तो वह किस हदतक... 'मिथ्या' (या बहरहाल भ्रामक) होता है। और उसके पीछे **कोई और चीज** होती है जो उसका और (उसी तरह हर चीजका) उपयोग करती है, लेकिन वह इस ज्ञानसे बंधी नहीं रहती, न उसपर आश्रित होती है और न ही उसपर आश्रित होती है जिसे हम "जीवनका अनुभव" कहते हैं, और न ऐसी ही किसी और चीजपर आश्रित होती है। उसकी दृष्टि बहुत अधिक प्रत्यक्ष,

बहुत गहरी और अधिक "दूरतक" जानेवाली होती है, यानी, वह बहुत अधिक दूरतक, बहुत अधिक विस्तारमें और बहुत आगेतक देख सकती है। कोई बाहरी अनुभूति यह चीज नहीं दे सकती...। यह एक विनम्र वृद्धि है जिसमें कोई विस्फोट नहीं होता, कोई "दिखावा" नहीं होता : यह एक छोटी-सी, हर मिनटकी — हर मिनट, हर सेकंडकी बात है, सब कुछ। मानों सारे समय कोई चीज तुम्हें जीवनका, देखने और करनेका साधारण मार्ग दिखाती है और फिर... सच्चा मार्ग। इस तरहसे दोनों। सभी चीजोंके लिये।

यह इस हदतक कि अमुक स्पंदनोंके प्रति तुम्हारी वृत्ति पूर्ण विश्राम ला सकती है या तुम्हें पूरी तरह बीमार कर सकती है! जब कि स्पंदन एक ही होगा। ऐसी चीजें, चकरानेवाली चीजें होती हैं। और हर क्षण ऐसा होता है — हर क्षण, हर चीजके लिये।

हां, तो यहां चेतना वृत्तिका एक विशेष मोड़ लेती है और सब कुछ आनंद और सामंजस्य हो जाता है; चीज वही बनी रहती है और फिर (माताजी सिरको जरा बाईं ओर झुकाती हैं), चेतनाकी वृत्तिमें जरा-सा हेर-फेर, और चीज लगभग असह्य हो उठती है! सारे समय, सारे समय इस तरहकी अनुभूतियां...। बस, यह दिखानेके लिये कि **केवल एक ही चीज** है जिसका महत्त्व है, वह है चेतनाकी वृत्ति : व्यक्तिगत सत्ताकी पुरानी वृत्ति (माताजी अपनी ओर खींचनेका संकेत करती हैं), या यह (विस्तारका संकेत)। संभवतः यह (हमारी समझमें आनेवाले शब्दोंमें कहें तो) अहंकी उपस्थिति और अहंका लोप होना चाहिये। यही है।

और फिर, जैसा मैंने कहा, जीवनकी सभी क्रियाओंके लिये, बिलकुल मामूली बातोंके लिये यह दिखाया जाता है कि अगर अहंकी उपस्थितिको रहने दिया जाय (यह निश्चय ही तुम्हें समझानेके लिये है कि यह है क्या), तो यह सचमुच असंतुलनकी ओर ले जा सकता है। एकमात्र उपाय है अहंका गायब होना — साथ-ही-साथ समस्त बीमारीका लोप। क्योंकि हम जिन चीजोंको बिलकुल नगण्य समझते हैं, बिलकुल...। और यह बात हर चीज, हरेक हरेक, चीजके लिये है, सब समय, सारे समय, रात-दिन।

और फिर यह उन सब नासमझियों और गलतफहमियोंके कारण और भी पेचीदा हो जाती हैं जो ऐसे आती हैं (माताजी ऐसा संकेत करती हैं मानों एक भरी गाड़ी उनपर उल्टायी जा रही है), मानों वह सब एक साथ खोल दिया गया है और चीजें निकल पड़ी हैं। वह सब एक साथ अरराकर गिर पड़ती हैं ... ताकि अनुभूति सभी क्षेत्रोंमें पूर्ण हो।

यह ऐसा है मानों हर मिनट मृत्युकी उपस्थिति और अमरताकी उप-

स्थितिका क्रियात्मक प्रदर्शन दिया जा रहा हो(माताजी अपना हाथ दाईं ओर, फिर बाईं ओर झुकाती हैं), इस तरह **छोटी-से-छोटी** चीजों में — सभी चीजोंमें, छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी चीजोंमें, हमेशा; और तुम हमेशा देखते हो . . . कि तुम यहां हो या वहां (वही एक ओर या फिर दूसरी ओर झुकनेका संकेत), हर सेकेंड तुम्हें मृत्यु और अमरतामें चुनाव करनेके लिये कहा जाता है।

और मैं देखती हूं कि इसके लिये शरीरको गंभीर और श्रमसाध्य तैयारीमेंसे गुजरना होगा ताकि . . . चिंता या प्रतिक्षेपके स्पंदनके बिना . . . अनुभूतिके संघातको सह सके। उसे अपनी निरंतर शांति और सतत मुस्कानको बनाये रखनेके योग्य होना चाहिये।

(लंबा मौन)

बहुत-सी चीजें हैं . . . असंभवनीय चीजें।

मानों हर चीजमें हमें विरोधोंकी उपस्थिति जीनेकी जरूरत है ताकि हम यह पता लगा सकें . . . यह पता लगा सकें कि जब विरोध आपसमें मिलते हैं, भाग निकलनेकी जगह जुड़ते हैं तो क्या **होता** है। उससे एक परिणाम आता है, और वह भी व्यावहारिक जीवनमें।

३१ जनवरी, १९७०

मैं ठीक तरह नहीं जानता कि क्या वृत्ति अपनाऊं। मुझे जो समस्या तंग कर रही है उसे एक साधारण प्रश्नके रूपमें रख रहा हूं, क्या सब कुछ निर्दिष्ट है ?

तुम जानते हो, मेरे वत्स, **अधिकाधिक** और **निरपेक्ष** भावसे, मैं **देखती** हूं — मैं **देखती** हूं — हाँ, मैं देखती हूं, मैं अनुभव करती हूं : **हर चीज** निर्णीत है।

हर चीज निर्णीत है।

और हर चीजके अस्तित्वका कारण है जो हमारी पकड़में नहीं आता, क्योंकि हमारी दृष्टि काफी विस्तृत नहीं है।

और तुम समझते हो न, जीवन, सत्ता, वास्तवमें सारे संसारका **कोई अर्थ** न होता अगर बात ऐसी न होती।

जी हां।

यह... यह एक प्रकारका निरपेक्ष विश्वास है। मैं उसे **देखती** हूं। हां, यह एक ऐसी चीज है जिसे मैं देख रही हूं।

कैसे कहा जाय? ... अब मैं इस विश्वासका मूल्य चुका रही हूं! शरीरको सत्ता हस्तांतरित करते हुए (जिसे मैं हस्तांतरित करना कहती हूं) कठिन क्षणोंसे, वास्तवमें कठिन क्षणोंसे पाला पड़ता है। इस तरह साधारण दृष्टिसे यह निरर्थक होगा। क्योंकि हम जिसे "परिवर्तन" कह सकते हैं उसके साथ कठिनाइयां बढ़ती हुई प्रतीत होती हैं, लेकिन... सच्ची दृष्टिके लिये जब हम सच्ची दृष्टिके **अंतर**में हों तो मिथ्यात्वकी जूठन ही समस्त रोगोंकी जड़ है (जो अभीतक मिली-जुली चीज है)। और एकदम भौतिक दृष्टिसे भी ऐसा ही है (नैतिक दृष्टिसे इसे बहुत पहले ही जीत लिया गया था: कामनाओंके गायब होनेसे **सभी** तकलीफें गायब हो जाती हैं; उनका स्थान ले लेती है एक सतत और बिल्कुल सच्ची मुस्कान — यत्न-साध्य या बनावटी नहीं — सहज-स्वाभाविक मुस्कान), मेरा मतलब है भौतिक रूपसे, शारीरिक रूपसे: रोग, कष्ट और अन्य सब। यह वही चीज है। हां... तुम कम तैयार हो। जड़-तत्त्व बदलनेमें ज्यादा धीमा है, अतः ज्यादा प्रतिरोध आता है।

और एकमात्र समाधान, हर क्षण, हर हालतमें एकमात्र समाधान है (आत्म-निवेदनकी मुद्रा): "जो तेरी इच्छा," यानी, पसंद और कामनाका लोप। कष्ट न झेलनेको भी पसंद न करना।

लेकिन यह समझना कठिन है कि यह 'चेतना'... यह आसानीसे समझमें आ जाता है कि बृहत् और शाश्वतमें वह सबपर शासन करती है, लेकिन क्या वह ब्योरेकी छोटी-छोटी बातोंमें भी शासन करती है...

अत्यंत सूक्ष्ममें।

अत्यंत सूक्ष्ममें . . .

ठीक यही चीज मैं देख रही थी। मैं समझ सकती हूं कि क्यों। आज सवेरे यह समस्या थी : व्यक्तिगत चेतना, जब बहुत ज्यादा विस्तृत हो तब भी यह अनुभव नहीं कर पाती, यानी, ठोस रूपमें नहीं समझ पाती कि एक ही समयमें समग्रके बारेमें सचेतन होना संभव है। क्योंकि वह उस प्रकारकी नहीं है। उसे यह सभझनेमें कठिनाई होती है कि समग्रकी चेतना एक ही समयमें, एक साथ, समग्र और छोटे-से-छोटे ब्योरेके बारेमें सचेतन होती है। वह . . .

जी, हां, यह कठिन है . . . पर है आश्वासनदायक।

हां, यह तुम्हें शांत कर देता है, शांत कर देता है, शांत . . . मैंने उस दिन तुमसे कहा था कि शरीरको मरे बिना मृत्युका अनुभव हो चुका है और इस अनुभवने शरीरको यह कहने योग्य बनाया : "अच्छा है, यह बहुत अच्छा है," स्वीकार करना, बिना (कैसे कहा जाय ?) . . . बिना प्रयासके — लगे रहना। और तब वह चला गया। शरीरके विघटनके साथ ही लुप्त हो जानेकी पुरानी भ्रांति तो बहुत समयसे नहीं है। और अब स्वयं शरीरको विश्वास है कि अगर वह छितर भी जाय तो इससे उसकी चेतनाका क्षेत्र विस्तृत हो जायगा . . .। पता नहीं कैसे समझाया जाय, क्योंकि चेतनाके लिये निजी या व्यक्तिगतका भाव और निजीकी आवश्यंकता गायब हो गयी है।

और मैं भली-भांति देखती हूं कि शरीर इस बातसे बहुत अच्छी तरह-से अवगत है कि उसे केवल प्रतिरोधके कारण, — 'सत्य' के प्रति अपने प्रतिरोधके कारण — कष्ट सहन करना पड़ता है। जहां कहीं पूर्ण लगाव है वहीं कष्ट तुरंत गायब हो जाता है।

(मौन)

लेकिन देशों और प्रदेशोंके लिये भी यही बात है : वही अधिकारका हस्तान्तरण। व्यक्तिगत अधिकारके स्थानपर दिव्य अधिकार आनेवाला है और अधिकारका यह बदलना ही उस अकथनीय अव्यवस्थाका कारण है जिसमें मनुष्य रह रहे हैं — अपने प्रतिरोधके कारण।

(लंबा मौन)

सत्ताका कोई भाग (वह कोई-सा भाग क्यों न हो) संक्रमणके जितने निकट पहुंचता है, यानी, वह इस संक्रमणके लिये जितना अधिक तैयार होता है, उसकी अतिसंवेदनशीलता भी उतनी ही बढ़ती है। अतः, जब व्यक्ति समस्याओंके स्तरके पार हो जाता है और वैश्व दृष्टिसे देख सकता है तो उसकी व्यक्तिगत अति संवेदनशीलताके लिये समस्याएं भी बहुत ही तीव्र रूपसे संवेदनशील हो उठती हैं। मैंने इसे पहले भी देखा था; अब यह शरीरके लिये फिरसे हो रहा है। उसमें एक अतिसंवेदनशीलता बढ़ रही है... हां, भयंकर रूपसे। जो लोग यह नहीं जानते कि ऐसा क्यों है वे सचमुच भयभीत हो उठते हैं... रोगकी संभावना... और...। समस्याओंके लिये भी यही बात है। केवल जो लोग **जानते** हैं और समझ गये हैं उनके लिये यह अंतिम प्रगति करनेका, इसका (माताजी दोनों हाथ ऊपरकी ओर उठा देती हैं) अवसर है।

सार यह कि अभीतक जिस चीजको अपने पृथक् अस्तित्वकी भ्रांति है उसे लुप्त हो जाना चाहिये। उसे अपने-आपसे कहना चाहिये : इसके साथ मेरा कोई संबंध नहीं, मेरा अस्तित्व नहीं है। यही अच्छे-से-अच्छी वृत्ति है जिसे व्यक्ति अपना सकता है। तब... उसे महान् 'वैश्व लय'में उठा लिया जाता है।

१४ मार्च, १९७०

माताजीके पढ़े हुए अंतिम सूत्रोंके बारेमें :

> "३८३ — हमारी असाध्य बर्बरताके कारण आधुनिक मनुष्यजातिके लिये मशीनें आवश्यक हैं। यदि हमें अपने-आपको चकरानेवाली आरामदेह वस्तुओं और साजो-सामानके ढेरमें ढककर रखना है तो हमें कला और उसकी प्रणालियोंको छोड़ना पड़ेगा; कारण, सरलता एवं स्वतंत्रताको छोड़नेका अर्थ है सुन्दरताको छोड़ना। हमारे पूर्वजोंका वैभव बड़ा समृद्ध और आडम्बरयुक्त भी था, किंतु कभी बोझ नहीं बना।
>
> ३८४ — मैं यूरोपीय जीवनकी बर्बर सुख-सुविधाओं तथा

बोझिल आडम्बरको सभ्यताका नाम नहीं दे सकता। जो लोग अपनी आत्मामें स्वतंत्र और अपनी जीवन-व्यवस्थामें अभिजात ढंगसे लयबद्ध नहीं हैं, वे सभ्य नहीं हैं।

३८५ — आधुनिक समयमें और यूरोपीय प्रभाव-तले कला जीवनकी एक ग्रंथि या एक अनावश्यक दासी बन गयी है, जब कि इसे होना चाहिये था मुख्य कार्यकर्ता या एक अनिवार्य व्यवस्थापक।

जबतक मन जीवनपर इस अभिमानपूर्ण निश्चयताके साथ शासन करता रहेगा कि वह सब कुछ जानता है, तबतक भगवान्‌का राज्य कैसे स्थापित हो सकता है?

(१२-३-७०)

३८६ — रोग अनावश्यक रूपसे लंबा हो जाता है और प्रायः ही मृत्युका कारण बन जाता है, जब कि ऐसा होना आवश्यक नहीं है, और यह इस कारण होता है कि रोगीका मन अपने शरीरकी व्याधिको प्रश्रय देता है, और उसीपर लगा रहता है।

पूर्णतया सत्य है यह!

३८७ — चिकित्सा-विज्ञान मनुष्यजातिके लिये वरदानसे अधिक अभिशाप रहा है। इसने महामारियोंके वेगको नष्ट अवश्य कर दिया है, तथा एक अद्‌भुत प्रकारकी शल्य-चिकित्साको जन्म दिया है, किंतु साथ ही इसने मनुष्यके प्राकृतिक स्वास्थ्यको दुर्बल बना दिया है तथा विभिन्न प्रकारके रोगोंकी बाढ़-सी ला दी है; इसने मन और शरीरमें भय और निर्भरताकी भावनाको बद्धमूल कर दिया है; इसने हमारे स्वास्थ्यको, प्राकृतिक स्वस्थताको आधार न मानकर धातु और वनस्पति जगत्‌के निस्तेज और निःस्वाद प्रभावका सहारा लेना सिखाया है।

३८८ — चिकित्सक रोगपर किसी औषधिका निशाना लगाता है; कभी वह लग जाता है तो कभी चूक जाता है। चूकने-का कोई हिसाब नहीं रखा जाता, पर लगनेका लेखा-जोखा

रखा जाता है, उसपर विचार किया जाता है और फिर उसे विज्ञानका सुसंगत रूप दे दिया जाता है।

बड़ा अद्‌भुत है यह। अद्‌भुत!

३८९ — हम बर्बरतापर हंसते हैं क्योंकि वह ओझाओंमें विश्वास करती है। किंतु डाक्टरोंपर विश्वास करनेवाली सभ्य जातियां कौन-सी कम अंधविश्वासी हैं? प्रायः बर्बर देखता है कि जब कोई विशेष मंत्र बार-बार उच्चारा जाता है तो उसका रोग दूर हो जाता है, वह विश्वास कर लेता है। सभ्य रोगी देखता है जब वह किसी विशेष नुस्खेकी दवाई लेता है तो वह प्रायः उस रोगसे मुक्त हो जाता है, वह विश्वास कर लेता है। इनमें भेद कहां हुआ?

इसका यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दवाईकी रोग-मुक्तिकी शक्ति रोगीके विश्वाससे आती है।

यदि मनुष्योंको भगवत्कृपामें पूर्ण विश्वास होता तो वे शायद बहुत-सी व्याधियोंसे बच जाते।

(१३-३-७०)

(श्रीमातृवाणी, खंड १०; पृ० ३३७–४०)

तुमने अंतिम सूत्र देखे?

जी, बीमारियों और डाक्टरोंके बारेमें...... लेकिन एक और सूत्र है जिसमें एक छोटा-सा वाक्य आता है जो मुझे अद्‌भुत लगता है। वे कहते हैं: "आधुनिक मानवजातिके लिये मशीनें आवश्यक हैं — उसकी असाध्य बर्बरताके कारण......"

(माताजी सिर हिलाती हैं और बहुत देरतक चुप रहती हैं) आज मुझे समाचार मिला है कि 'क' गुजर गयी। उसका एक बड़ा ऑपरेशन हुआ था, वह ठीक हो गयी, घर लौट आयी। उसने मुझे लिखा: "मैं दिन-पर-दिन अच्छी होती जा रही हूं..." और फिर चल बसी। मुझे यह समाचार आज ही मिला है। ऐसा होता है।

'ज' के साथ भी ऐसा ही हुआ था...। वही बात, बीमारी लौट

आयी। इसमें ऐसी प्रतीति . . . यह एक प्रयास है, हां, उस चीजके विरुद्ध प्रयास है जिसे श्रीअरविंद बर्बरता कहते हैं (माताजी सारे पार्थिव वातावरण-को लेनेका-सा संकेत करती हैं)। ऐसा लगता है . . . पता नहीं यह मान-सिक रचनामेंसे बाहर निकल आनेमें अक्षमता है या इनकार। और इस 'चेतना' की क्रिया (कैसे कहा जाय?) . . . यह दिखानेके लिये कि सारी मानसिक रचना किस हदतक मिथ्या है, लगभग निर्दय हो जाती है —हर चीज, हर चीज, वे प्रतिक्रियाएं भी जो सहज प्रतीत होती हैं, ये सब अत्यंत जटिल मानसिक रचनाका परिणाम हैं।

हां, वह निर्दय है।

तुम उसमें पैदा हुए हो, अतः उसके अनुसार अनुभव करना, उसके अनु-सार प्रतिक्रिया करना, सब कुछ उसीके अनुसार व्यवस्थित करना बिलकुल स्वाभाविक लगता है। यहांतक कि तुम 'सत्य'से कतरा जाते हो।

अपने शरीरकी व्यवस्थामें भी यही बात है।

अतः ऐसा लगता है कि भागवत क्रिया अपने-आपको असाधारण शक्तिके साथ आरोपित करती है और वह निर्दय लगती है (हमें लगती है), (माताजी 'द्रव्य' पर घूंसा मारती हैं), ताकि पाठ सीखा जा सके।

(लंबा मौन)

मैंने उस समयकी याद की जब श्रीअरविंद यहां थे . . . । आंतरिक सत्ता एक ऐसी चेतनामें प्रवेश कर गयी थी जो एकदम भिन्न उच्चतर चेतनाके अनुसार अनुभव करती और देखती थी; और फिर, ठीक जब श्रीअरविंद बीमार पड़े और वे सब चीजें हुईं, सबसे पहले वह दुर्घटना (उनकी जांघ टूट गयी) . . . . तब **शरीर**, शरीर सारे समय कहता था: "ये स्वप्न हैं, ये स्वप्न हैं, यह हमारे लिए नहीं है; हमारे लिये शरीर ऐसा है" (धरतीके नीचे दिखानेका संकेत) . . . वह भयंकर था! . . . और वह सब चला गया, वह बिलकुल चला गया। इतने वर्षोंके बाद, इतने वर्षोंके प्रयासके बाद वह चला गया और स्वयं शरीर भागवत उप-स्थितिका अनुभव करता था और उसे ऐसा लगता था कि . . . सबको मजबूरन बदलना पड़ेगा। और तब, कुछ दिन पहले वह रचना जो चली गयी थी (जो समस्त मानवजातिकी पार्थिव रचना है, यानी, जिन लोगोंमें अंतर्दर्शन, बोध या उच्चतर सत्यके लिये केवल अभीप्सा है, जब वे 'तथ्य' पर लौटकर आते हैं, इस भयंकर रूपसे पीड़ाजनक वस्तु, समस्त परि-स्थितियोंके सतत निषेध, के सामने खड़े होते हैं), इस शरीरकी वह रचना

पूरी तरह मुक्त हो गयी है और वापिस आ गयी है। वह वापिस आ गयी है, परंतु . . . जब वह आयी, जब उसने देखा तो उसने ऐसे देखा जैसे कोई 'मिथ्यात्व' को देखता है। और मैं समझ गयी कि वह कितना बदल गया था क्योंकि जब उसने वह देखा तो उसे लगा . . . उसने उसे एक स्मितके साथ देखा और उसका संस्कार, आह ! वह एक पुरानी रचना थी जिसमें अब कोई सत्य न था। और यह एक असाधारण अनुभूति थी : कि उसका समय खतम हो चुका है — उसका समय खतम हो चुका है। और मैं जानती हूं कि 'चेतना' का यह 'दबाव' एक ऐसा दबाव है ताकि चीजें जैसी कि वे थीं—इतनी दीनहीन, इतनी छोटी, ऐसी धुंधली और . . . साथ ही बाहरी रूपसे ऐसी अनिवार्य—यह सब पीछे चला गया है (माताजी कंधेके ऊपरसे इशारा करती हैं), यह एक भूतकालकी तरह है जो गुजर चुका। तो मैंने वास्तवमें देखा — मैंने देखा, मैं समझ गयी — कि 'चेतना' का काम (जो दयाहीन होता है, वह इस बातकी परवाह नहीं करता कि वह कठिन है या नहीं, संभवतः वह बाहरी तौरपर दीखनेवाले विध्वंसकी भी परवाह नहीं करता), वह चाहता है कि सामान्य अवस्था इतनी भारी, इतनी धुंधली, इतनी भद्दी — और इतनी निम्न कोटिकी — चीज न होनी चाहिये; कि ऊषा आनी चाहिये . . . कुछ ऐसी चीज जो क्षितिजपर फूट पड़ी हो : एक नयी चेतना — एक सत्यतर, अधिक प्रकाशमान वस्तु।

यहां श्रीअरविंद बीमारीके बारेमें जो कहते हैं, यह ठीक वही बात है और उसकी सभी रचनाएं और अभ्यासकी शक्ति, वह सब कुछ जो रोगमें "अनिवार्य", "अपरिवर्तनीय" प्रतीत होता है, वह सब, यह ऐसा है मानों यह दिखानेके लिये अनुभूतियोंको कई गुना कर दिया जाता है कि . . . ताकि मनुष्य यह सीख सके कि यह बस वृत्तिका प्रश्न है, हां — वृत्तिका — परे जानेका, उस मानसिक काराके परे जानेका जिसमें मानवताने अपने-आपको बंद कर लिया है और . . . वहां ऊपर श्वास लेनेका प्रश्न है।

और यह शरीरकी अनुभूति है। पहले, जिन्हें आंतरिक अनुभूति होती थी वे कहा करते थे : "हां, वहां, ऊपर ऐसा है, लेकिन यहां . . .।" अब "लेकिन यहां" शीघ्र ही ऐसा न रहेगा। यह विजय प्राप्त की जा रही है, यह महान् परिवर्तन है : भौतिक जीवनके ऊपर मानसिक जगत्का नहीं, उच्चतर चेतनाका शासन होना चाहिये। यह अधिकारका हस्तांतरण है . . .। यह मुश्किल है, यह कठिन है। यह कष्टदायक है। स्वभावतः इसमें टूट-फूट होती है, लेकिन . . . हम सचमुच देख सकते हैं — हम इसे देख सकते हैं। और वह **वास्तविक परिवर्तन** है। यही नयी 'चेतना'को

अपने-आपको प्रकट करने योग्य बनायेगा। शरीर सीख रहा है, अपना पाठ सीख रहा है — सभी शरीर, सभी शरीर।

(मौन)

यह मनद्वारा किया गया पुराना विभाजन है: वहां, ऊपर वह बिलकुल ठीक है, तुम सब तरहकी अनुभूतियां पा सकते हो और वहां हर चीज प्रकाशमय और अद्‌भुत है; यहां कुछ भी नहीं करना। और यह भावना कि जब व्यक्ति पैदा होता है तो उस जगत्‌में पैदा होता है जहां कुछ नहीं करना है। और फिर, इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिन लोगोंने पूर्व दृष्टिसे यह संभावना नहीं देखी कि चीजें और तरहसे भी हो सकती हैं वे यह कहते हैं : "ज्यादा अच्छा है बाहर निकल आना और...।" यह सब इतना स्पष्ट हो गया है। लेकिन यह परिवर्तन, यह तथ्य कि **अब** यह अनिवार्य नहीं है, यही महान् 'विजय' है : **अब** यह अनिवार्य नहीं है। ऐसा लगता है — ऐसा लगता है, यह दिखायी देता है — और स्वयं शरीरने इसका अनुभव किया है कि शीघ्र ही यहां भी सत्यतर हो सकता है।

संसारमें सचमुच कुछ परिवर्तन हुआ है।

(मौन)

स्वभावतः इसे वास्तविक रूपमें स्थापित होनेमें कुछ समय लगेगा। अभी युद्ध है। सब ओरसे, सभी स्तरोंपर चीजोंका आक्रमण हो रहा है जो बाहरसे आकर कहती हैं: कुछ भी नहीं बदला गया है — लेकिन यह सत्य नहीं है, यह सत्य नहीं है, शरीर जानता है कि यह सत्य नहीं है। और अब वह जानता है, वह जानता है कि किस दिशामें।

और श्रीअरविंदने इन सूत्रोंमें जो लिखा है, जिसे मैं अभी देख रही हूं, वह इतना भविष्यसूचक है! वह 'सत्य' वस्तुका अंतर्दर्शन था, इतना भविष्यसूचक।

(मौन)

अब मैं देखती हूं कि उनके प्रयाण और उनके कार्य... सूक्ष्म-भौतिकमें इतने विस्तृत और इतने सतत कार्यमें उनके प्रयाणने कितनी सहायता की

है! उसने वस्तुओंको तैयार करनेमें (माताजी द्रव्यको गूंधनेकी मुद्रा करती हैं) कितनी सहायता की है, भौतिक संरचनाको बदलनेमें कितनी सहायता की है!

औरोंको जितनी भी अनुभूतियां हुईं, जिनका उद्देश्य था उच्चतर लोकों-के साथ संपर्क स्थापित करना, वे सब यहां नीचे, इस भौतिकको जैसा-का-तैसा छोड़ गये। ...कैसे कहा जाय? मेरे जीवनके आरंभसे श्रीअरविंदके प्रयाणतक, मैं इस चेतनामें थी कि व्यक्ति ऊपर जा सकता है, व्यक्ति जान सकता है, व्यक्ति सब प्रकारकी अनुभूतियां पा सकता है (और वास्तवमें हुईं भी), लेकिन जब वह इस शरीरमें लौटता है...तो पुराने, वि--क--ट मानसिक विधान ही चीजोंपर शासन करते हैं। तब ये सारे वर्ष तैयारीके वर्ष थे --- तैयारी --- तैयारी और मुक्ति और इन दिनों वह... आह! शरीरद्वारा **भौतिक** मान्यता कि वह बदल गया है।

जैसे कहा जाता है, अभी उसे परखना है, उसे पूरे ब्योरेमें उपलब्ध करना है, लेकिन परिवर्तन **हो गया है** --- परिवर्तन हो गया है।

मतलब यह कि मनद्वारा प्रतिपादित और उसके द्वारा **निश्चित** स्थूल अवस्थाएं (माताजी दोनों मुट्ठियां बांध लेती हैं) इतनी अनिवार्य प्रतीत होती थीं कि जिन्हें उच्चतर लोगोंका जीवित अनुभव था उन्होंने समझा कि अगर कोई सत्यमें निवास करना चाहता है तो उसे जगत्से भागना होगा, इस स्थूल जगत्को छोड़ देना होगा। (इतने सारे मत-मतांतरों और धर्मोंका यही कारण है) लेकिन अब बात ऐसी नहीं है। भौतिक उच्चतर 'प्रकाश', दिव्य सत्य, सत्य 'चेतना' को ग्रहण करने और अभिव्यक्त करनेके योग्य है।

यह आसान नहीं है, इसमें सहन-शक्ति और संकल्पकी जरूरत है, लेकिन एक दिन आयेगा जब यह बिलकुल स्वाभाविक हो जायगा। अभी-अभी दरवाजा खुला है --- बस, इतना ही, अब चलते चलना है।

(मौन)

स्वभावत: जो प्रतिष्ठित है वह चिपका रहता है और भयंकर संघर्ष करता है। समस्त कठिनाईका यही कारण है (पार्थिव वातावरणकी ओर इशारा) --- वह बाजी हार चुका है। वह बाजी हार चुका है।

(मौन)

इस 'चेतना' को विजय पानेमें . . . साल-भरसे कुछ ऊपर लगा।[1] और फिर भी, स्वभावतः, यह उन लोगोंके सिवाय, जिनमें आंतरिक दृष्टि है, किसीको नहीं दिखायी देती . . .।

लेकिन, लेकिन जीत हो चुकी है।

(लंबा मौन)

यही काम है जो श्रीअरविंदने मुझे सौंपा था। अब मैं समझती हूं।

लेकिन ऐसा लगा कि सभी ओरसे — सभी ओरसे — ये शक्तियां, मनकी ये शक्तियां विरोधमें उठ खड़ी हुईं — तीव्र विरोधमें। वे अपने पुराने विधान आरोपित करना चाहती थीं : "लेकिन हमेशा ऐसा ही रहा है!" . . . लेकिन वह समाप्त हो गया। अब हमेशा ऐसा ही नहीं रहेगा।

(मौन)

पिछले कुछ दिनोंमें इस शरीरमें यही युद्ध चल रहा था . . .। सचमुच वह बहुत मजेदार था . . .। बाहरसे, बाहरसे कुछ ऐसा प्रयास हो रहा था कि शरीरको ऐसी अनुभूतियोंके अधीन किया जाय कि वह स्वीकार करनेके लिये बाधित हो जाय : "जो हमेशासे है वह ही हमेशा रहेगा; तुम कोशिश कर लो, लेकिन यह है एक भ्रांति।" इसलिये कुछ हुआ, शरीरमें कुछ अव्यवस्था हुई, शरीरने अपनी वृत्तिद्वारा उत्तर दिया : इस प्रकारकी शांति (निश्चलताकी मुद्रा) और उसकी वृत्ति (हाथ खुले हुए) : "जैसा तू चाहे, प्रभु, जैसा तू चाहे" . . . सब कुछ एक कौंधकी तरह गायब हो जाता है। और यह बहुत बार हुआ, दिनमें कम-से-कम बारह बार। तब — तब शरीर अनुभव करने लगता है : वह रहा! . . . उसे आनंद, एक अद्भुत वस्तुमें रहनेका आनंद प्राप्त हुआ . . .। अब और वैसा नहीं है जैसा था, अब **और** वैसा नहीं रहा जैसा था — अब और उस तरहका नहीं रहा जैसा था।

अभी लड़ते जाना है। तुम्हारे अंदर धीरज, साहस, संकल्प, विश्वास होने चाहिये — अब "उस तरह" का नहीं है; पुरानी चीज डटी रहना चाहती है — वीभत्स! वीभत्स। लेकिन . . . अब ऐसा नहीं है, ऐसा बिलकुल नहीं है।

---

[1] अतिमानवकी चेतना : १ जनवरी, १९६९

तो, लो।

(मौन)

और यह भी : कहांतक, शरीर कहांतक, कितनी दूरतक जा सकेगा? वहां भी वह . . . **पूरी तरह** शांत और प्रसन्न है : जैसा तू चाहता है वैसा है।

(लंबा मौन)

बाकी सब पुराना लगता है, इतना पुराना मानों . . . मृत भूतकालकी कोई चीज हो—जो फिरसे जिंदा होना चाहती है, पर हो नहीं पाती।

और सब, सब, सभी परिस्थितियां यथासंभव अनर्थकारी हो सकती है—चिंताएं, जटिलताएं और कठिनाइयां, सब, सब जंगली जानवरोंकी तरह हिंस्र रूपमें उठ खड़ी होती हैं, लेकिन . . . यह समाप्त। शरीर **जानता** है कि यह समाप्त हो गया है। शायद इसमें शताब्दियां लग जायं, पर यह समाप्त हो गया है। इनके लुप्त होनेमें शायद शताब्दियां लग जायं, पर अब यह समाप्त हो गया है।

यह सिद्धि जो बिलकुल ठोस और निरपेक्ष है जिसे पहले जड़-द्रव्यमेंसे बाहर निकलकर ही प्राप्त किया जा सकता था (माताजी एक उंगली नीची करती हैं) : यह निश्चित रूपसे, निश्चय ही, **यहां भी** प्राप्त की जा सकेगी।

(लंबा मौन)

'चेतना' को आये चौदहवां महीना है—चौदह, यानी, दो बार सात।

(मौन)

और आज चौदहवीं तारीख है?

जी, चौदहवीं।

यह मजेदार है।

(मौन)

जबसे उन्होंने शरीर छोड़ा है तबसे कितना काम किया है...! ओह!...सारे समय, सारे समय।

(मौन)

ऐसा लगता है...यह शरीरके अंदर एक चमत्कार लगता है। इस रचनाका विलोप सचमुच चमत्कार है।

और हर चीज साफ होती जा रही है।

देखेंगे।

(लंबा मौन)

यह अपेक्षया तेज था।

(मौन)

अच्छा...

इसका मतलब यह हुआ कि अब हर मानव चेतनाके लिये, जिसमें जरा-सा विश्वास है, मनके इस सम्मोहनमेंसे निकल आना संभव है।

हां, हां, ठीक ऐसा ही, ठीक ऐसा ही, ठीक ऐसा ही।

२० मई, १९७०

क्या हम जरा भी आपकी अनुभूतिके पीछे चल रहे हैं? हमें इस गतिमें जरा अधिक उतरनेके लिये क्या करना चाहिये?

कुछ लोगोंको अनुभूतियां होने लगी हैं; कुछको अनुभूतियां तो हो रही हैं पर उन्हें मालूम नहीं! (माताजी हंसती हैं) उसका कुछ प्रभाव है।

हमेशाकी तरह सबसे बड़ी कठिनाई है मन, क्योंकि वह **अपने ही तरीकेसे**

समझना चाहता है...। यही कठिनाई है...। कुछ लोग हैं जिनमें यह चीज न होती तो वे बहुत ज्यादा तेजीसे बढ़ते। उन्हें लगता है कि अगर उन्होंने मनके द्वारा नहीं समझा तो समझा ही नहीं।

२७ जून, १९७०

बहुत दिनोंसे आपने कुछ नहीं कहा...

(मौन)

कुछ व्यक्त करनेके लिये थोड़ा-बहुत मानसीकरण जरूरी है और वह बहुत कठिन है, क्योंकि शरीर सब प्रकारकी अनुभूतियां करनेमें लगा है और सीख रहा है, लेकिन जैसे ही वह व्यक्त करनेकी कोशिश करता है, वह कहता है: "नहीं, यह सच नहीं है, यह ऐसा नहीं है...." (माताजी छोटे, संकरे चतुष्कोण बनाती हैं) यह जीवनसे ज्यामितिके आकार बनानेकी तरह है। यह इसकी राय है।

दूसरी तरह भी यह अकथनीय है क्योंकि यह बहुल है, जटिल है, और अगर तुम उसे समझानेके लिये सामने न रखो तो... उसे कहा भी नहीं जा सकता। और जैसे ही तुम उसे समझानेके लिये व्यक्त करते हो तो वह सत्य नहीं रहता।

इन दिनों चेतनाकी यह अनुभूति रही है कि, अगर तुम दिव्य आनन्दमें हो जहां चीजें जैसी-की-वैसी बनी रहती हैं, तो बस जरा-सा सरकाव या स्थानान्तरण (कैसे कहा जाय?), वृत्तिमें जरा-सा फेर, जिसे व्यक्त भी नहीं किया जा सकता, एक यंत्रणा-सा बन जाता है! और यह एक सतत घटना है। ऐसे क्षण होते हैं जब शरीर यातनासे चिल्लाता है और... जरा-सा, बिलकुल जरा-सा परिवर्तन जिसे व्यक्ततक नहीं किया जा सकता और चीज आनन्द बन जाती है — वह और ही चीज हो जाती है... यह एक असाधारण चीज हो जाती है, सब जगह भगवान्-ही-भगवान्। इस तरह शरीर सारे समय एकसे दूसरेकी ओर गति करता रहता है, यह एक प्रकारकी जिमनास्टिक्स है, दो अवस्थाओंके बीच चेतनाका संघर्ष।

और कभी-कभी, कुछ सेकंडोंके लिये, यह पीड़ा अत्यंत तीव्र हो उठती है और शरीर कहता है : "बस, बहुत हो चुका, बहुत हो चुका", और फटसे ... (माताजी उलटावकी मुद्रा करती हैं)। तब, कहना असंभव है। जो कुछ कहा जाता है वह सत्य नहीं रहता।

और मानों कष्ट सहन करनेवाले सभी स्पंदनोंको सामान्य मानव चेतना-की राशि बनाये रखती है — हां, ऐसा ही है। और दूसरेको एक ऐसी चीज सहारा देती है जो ... हस्तक्षेप करती नहीं प्रतीत होती। वह अपने-आपको व्यक्त करनेके लिये यत्नशील मानव समूहकी तुलनामें (निश्चलकी मुद्रा) ... अतः, यह सब कहना असंभव है।

और हमेशा, हमेशा या तो यह 'निश्चल शांति' — यह सर्वश्रेष्ठ 'शांति', जो उस शांतिसे बढ़-चढ़कर है जिसे हम अनुभव कर सकते हैं — और साथ ही तुम यह जानते हो (यहां "अनुभव करते हो" नहीं कहा जा सकता, तुम जानते हो) कि रूपांतरकी गति इतनी अधिक तेज है कि उसे भौतिक रूपमें नहीं देखा जा सकता। और दोनों संयुक्त हैं और यह शरीर एक दशामेंसे दूसरीमें जाता है और कभी-कभी ... कभी-कभी दोनों लगभग एक साथ (माताजी सिर हिलाती हैं, यानी, समझा सकना असंभव है)।

और तब यह सामान्य वस्तुओंको, यानी, जीवनके बोधका — जैसा कि वह है — भगवान्‌की दृष्टिसे नहीं, बल्कि भागवत दृष्टिकी तुलनामें — एक व्यापक पागलपनका रूप दे देती है और सचमुच जिसे लोग पागल कहते हैं और जिसे तर्क-बुद्धिसंगत कहते हैं, उन दोनोंमें कोई फर्क नहीं रहता ... हां ... मनुष्य जो भेद करते हैं वह हास्यास्पद है। उनसे यह कहनेकी इच्छा होती है : लेकिन तुम सभी एक-से हो, सिर्फ मात्राका फर्क है! ... हां ...

और यह सब युगपत् बोधोंका **जगत्** है। इसलिये सचमुच कुछ कहना असंभव है।

यहां (माताजी अपना सिर छूती हैं), यहां कुछ भी नहीं है, वहांसे होकर कुछ भी नहीं आता-जाता। वहां कुछ नहीं है। यह कोई ऐसी चीज ... ऐसी चीज है जिसका कोई यथार्थ रूप नहीं है, पर जिसे एक ही साथ **अनगिनत** अनुभूतियां होती हैं, लेकिन व्यक्त करनेकी क्षमता जैसी-की-वैसी बनी है, यानी, अक्षम है।

(मौन)

उदाहरणके लिये, जो कुछ हो रहा है उसके लिये एक ही समयमें

उसकी व्याख्या ("व्याख्या" ठीक शब्द नहीं है, परंतु . . .) सामान्य मानव चेतनाकी व्याख्या ("सामान्य" से मेरा मतलब घिसी-पिटीसे नहीं, मानव चेतनासे है), फिर वह व्याख्या है जो श्रीअरविंद प्रकाशित मनके द्वारा देते हैं और . . . दिव्य बोध। एक ही चीजके लिये, एक साथ तीनों — इन्हें कैसे, कैसे कहा जाय ?

और हमेशा, सारे समय यही होता है और तब यह (माताजी अपने शरीरकी ओर इशारा करती हैं), यह अपने-आपको व्यक्त करनेकी अवस्था-में नहीं है, यह अभिव्यक्त करनेका समय नहीं है।

यहांतक कि जब मैं लिखती हूं तब भी ऐसा होता है। अतः, मैं अपने मूढ़तापूर्ण सूत्रोंमें जितना भरा जा सके भरनेकी कोशिश करती हूं — और मैं इतना अधिक भर देती हूं! इतना अधिक! जो शब्दोंके द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता — अतः, जब कोई मेरी लिखी चीजको मेरे आगे पढ़ता है तो यह कहनेको जी करता है : तुम मेरे साथ मजाक कर रहे हो, तुमने इसमेंसे सब कुछ तो निकाल दिया है! . . .

१ जुलाई, १९७०

मुझे एक अनुभूति हुई जो मेरे लिये मजेदार थी, क्योंकि वह पहली बार थी। कल या परसोंकी बात है, मुझे याद नहीं, 'क' ठीक मेरे सामने थी। मैंने उसके चैत्य पुरुषको देखा, वह उसपर छाया हुआ था (लगभग २० सेंटीमीटरका संकेत), इतना ऊंचा। यह पहली बार था। उसका भौतिक शरीर छोटा था और चैत्य पुरुष इतना अधिक बड़ा। वह एक अलैंगिक सत्ता थी, न स्त्री, न पुरुष। तब मैंने अपने-आपसे कहा (संभवतः हमेशा ऐसा ही होता है, पता नहीं, लेकिन यहां मैंने स्पष्ट देखा), मैंने अपने-आपसे कहा : यह है चैत्य पुरुष। यही अपने-आपको मूर्त रूप देकर अतिमानव सत्ता बन जायगा!

मैंने उसे देखा, वह ऐसा था। उसमें विशेषताएं थीं लेकिन बहुत ज्यादा उभरी हुई नहीं। स्पष्टतः, वह एक ऐसी सत्ता थी जो न स्त्री थी, न पुरुष, उसमें दोनोंकी सम्मिलित विशेषताएं थीं। वह व्यक्तिसे बड़ा था और हर तरहसे उससे इतना बढ़-चढ़कर था (शरीरसे लगभग २० सेंटी-मीटर अधिक होनेका संकेत)। वह वहां थी और यह इस तरह था

(संकेत) और उसका रंग ऐसा था.... यह रंग... जो अगर पूरी तरह भौतिक रूप ले ले तो ओरोवीलका रंग बन जायगा।[1] वह जरा हल्का था मानों परदेके पीछे हो, वह बिलकुल ठीक-ठीक न था, पर था वैसा ही रंग। सिरपर बाल थे पर... कुछ भिन्न। शायद मैं अगली बार ज्यादा अच्छी तरह देखूंगी। लेकिन उसमें मुझे बहुत मजा आया क्योंकि वह ऐसा था मानों वह सत्ता मुझसे कह रही हो: "आप यह देखनेमें लगी हैं कि अतिमानव सत्ता कैसी होगी — यह रही! यह रही वह।" और वह मौजूद थी। वह उस व्यक्तिका चैत्य पुरुष था।

तो, हम समझना शुरू करते हैं। हम समझते हैं: चैत्य पुरुष अपने-आपको भौतिक रूप देता है... और यह क्रम-विकासको सातत्य प्रदान करता है। यह सृष्टि ऐसी प्रतीति देती है कि कुछ भी मनमाना नहीं है। इसके पीछे एक भागवत तर्क है। वह हमारे मानव तर्कके जैसा नहीं है। वह हमारे तर्कसे बहुत ज्यादा श्रेष्ठ है — लेकिन और भी तर्क है — और वह, उसे पूरा संतोष हो गया जब मैंने यह देखा।

यह वास्तवमें मजेदार है। मुझे बहुत मजा आया। वह मौजूद था शांत, स्थिर और उसने मुझसे कहा: "आप देखना चाहती थीं? यह रहा, यह वही है!"

और तब मैं समझी कि मन और प्राणको शरीरके बाहर क्यों भेज दिया गया था, केवल चैत्य पुरुष बचा था शरीरमें — स्वभावतः, वही सारे समय, सभी गतिविधियोंपर शासन कर रहा था, इसलिये कोई नयी बात न थी, लेकिन अब कोई कठिनाइयां नहीं बचीं: सभी उलझनें मन और प्राणसे आती थीं, वे अपनी राय और प्रवृत्ति लादती थीं। अब वह सब चला गया। और मैं समझ गयी: ओहो! यह है! चैत्य पुरुषको ही अति-मानसिक सत्ता बनना है।

लेकिन मैंने कभी यह जाननेकी कोशिश नहीं की कि वह देखनेमें कैसा होगा। और जब मैंने 'क' को देखा तो मैं समझ गयी। मैं उसे देखती हूं, अब भी देख रही हूं। मैंने वह स्मृति बनाये रखी है। ऐसा था मानों सिरके बाल लाल हों (लेकिन वह ऐसा था नहीं)। और उसके चेहरेका भाव! इतना सुन्दर, इतना मधुर व्यंग्यात्मक... आह! असा-धारण, असाधारण।

और समझते हो, मेरी आंखें खुली हुई थीं। यह लगभग भौतिक, द्रव्या-त्मक अंतर्दर्शन था।

---

[1]नारंगी।

तो समझमें आता है। अचानक, एक साथ सभी प्रश्न गायब हो गये। यह बहुत स्पष्ट हो गया है, बहुत सरल।

(मौन)

और बस, केवल चैत्य पुरुष ही बचा रहता है। तो अगर वह अपने-आपको भौतिक रूप दे ले, तो इसका अर्थ होगा मृत्युका विलोपन : जो चीज 'सत्य' के अनुकूल नहीं होती उसके सिवा किसीका 'विलोपन' नहीं होता... और वह चल बसती है... जो कुछ अपने-आपको चैत्यके अनुरूप रूपांतरित करने और उसका अभिन्न भाग बननेके योग्य न हो, वह गायब हो जाता है।

यह सचमुच मजेदार है।

५ अगस्त, १९७०

यह 'चेतना' जो एक वर्षसे ऊपर, अबसे डेढ़ वर्ष पहले आयी थी, ऐसा लगता है कि वह सच्चाईके लिये निश्चित रूपसे बहुत, बहुत श्रम कर रही है। वह "ढोंग" को प्रश्रय नहीं देती, वह यह नहीं चाहती कि तुम कुछ होनेका ढोंग करो, पर वास्तवमें न हो। वह चाहता है कि चीज **सच्ची चीज** हो।[1]

जी हां, चीजें ऊपर उठ आती हैं।

यह शरीरके लिये बढ़िया परामर्शदाता है। वह उसे हमेशा पाठ सिखाता रहता है...। मुझे पता नहीं कि सब शरीर ऐसे हैं या नहीं, लेकिन यह शरीर तो एक छोटे बच्चेकी न्याईं अनुभव करता है और वह विद्यालय जाना **चाहता** है, वह चाहता है कि उसे बतलाया जाय कि वह कहां भूल कर रहा है। वह सब कुछ सीखना चाहता है। और वह हमेशा सीखता रहता है। लेकिन जो कुछ बाहरसे आता है...। यह बहुत मजेदार है,

---

[1]यहांपर माताजीने (कम-से-कम इस बार) चेतनाके लिये पुंल्लिगका उपयोग किया है।

वह 'चेतना', (वह 'चेतना' जो वहां है) (माताजी ऊपरकी ओर इशारा करती हैं) किसीसे प्रभावित नहीं होती : वह साक्षी है, वह देखती है, पर ग्रहण नहीं करती; शरीर स्पंदनोंको ग्रहण करता है : जब कुछ लोग आकर मेरे सामने बैठते हैं तो अचानक दर्द होता है, चीजें ठीक नहीं चलतीं। लेकिन अब शरीर जानता है (स्वभावतः, वह जानता है कि उसे पीड़ा हो रही है), लेकिन वह औरोंको दोष नहीं देता, वह अपने-आपको दोष देता है; वह इन्हें उन बिंदुओंका सूचक मानता है जो अभीतक एकमात्र भगवान्‌के प्रभावतले नहीं आये हैं। और इस दृष्टिसे चीज बहुत मजेदार है...। वह जानता है कि उसमें और उस व्यक्तिकी चेतनामें कितना अंतर है जो उसका उपयोग कर रहा है। लेकिन इससे उसे कष्ट नहीं होता, वह पूर्ण नम्रता और विनयसे भरा है। उसे आश्चर्य नहीं होता, उसे चिंता नहीं होती, उसका सचमुच यही मतलब होता है : "तेरी इच्छा पूरी हो; यह मेरा काम नहीं है, मैं निर्णय करनेमें असमर्थ हूं और मैं कोशिश नहीं करता — तेरी इच्छा पूरी हो।" तो शरीर ऐसा है (निष्क्रिय और परित्यक्तकी मुद्रा), और जब वह गायब हो जाता है, जब वह पूरी तरह, पूरी तरह समर्पित हो जाता है, अपने-आपमें उसका कोई अस्तित्व ही नहीं रहता तो उसमेंसे गुजरनेवाली 'शक्ति' कभी-कभी ... दुर्जेय होती है। कभी-कभी यह देखा जा सकता है, साक्षी चेतना यह देख सकती है कि सचमुच संभावनाओंकी कोई हद नहीं होनी चाहिये। लेकिन यह अभीतक वह नहीं है, यह अभी उससे दूर है... यह, जो हो सकता है उसका उदाहरण है। लेकिन ... वह सहज-स्वाभाविक बने उससे पहले ...

(लंबा मौन)

तुम्हें कुछ कहना है ?

> **पता नहीं ठीक है या नहीं, लेकिन मुझे ऐसा लगता है कि आपकी उपस्थितिमें कुछ वर्ष पहले हमारे साथ जो होता था और अब जो है उसमें फर्क है। उदाहरणके लिये, पहले, मुझे प्रायः ऐसा लगता था कि आप सक्रिय रूपसे हमारे साथ हैं या सक्रिय रूपसे हमारे साथ व्यस्त हैं; पता नहीं यह ठीक है या नहीं, अब मुझे ऐसा लगता है कि अब यह किसी शक्तिपर छोड़ दिया गया है... कोई निर्वैयक्तिक शक्ति नहीं, लेकिन ...**

ओह ! यह सच है कि मैंने अधिकतर कार्य इस 'चेतना' के ऊपर छोड़ दिया

है। यह सच है। मैं चेतनाको सक्रिय रूपमें काम करने देती हूं क्योंकि ...मैंने देखा कि वह सचमुच जानती है। अन्यथा तुम्हारे सामीप्यका भाव अब ज्यादा मजबूत, बहुत ज्यादा मजबूत है। मुझे ऐसा लगता है मानों मैं तुम्हारे अंदर घूम रही हूं। पहले ऐसा न था। लेकिन शायद पहले मेरी चेतना तुम्हारी चेतनापर दबाव डाला करती थी। शायद अब वह ऐसा नहीं करती क्योंकि ...अब ऐसा है मानों मैं अंदरसे वही कर रही हूं।

..... जी हां, जब हम आपके साथ होते हैं, आपके पास होते हैं तो यह स्पष्ट होता है। आदमी इसे अनुभव कर सकता है और तब ऐसा लगता है कि आप अंदर हैं।

हां, ऐसा है।

जी, ठीक ऐसा ही है, लेकिन जब व्यक्ति भौतिक रूपसे आपसे दूर रहे तो उसे लगता है कि वह किसी निर्वैयक्तिकके अंदर है। मुझे पता नहीं कि यह ठीक है या नहीं।

शायद वह निर्गुण बन गयी हो। मुझे ऐसा लगता है कि इस शरीरकी चेतनामें भी व्यक्तिगत कम-से-कम है। कभी-कभी मेरे अंदर यह भाव भी नहीं रहता कि मेरे शरीरकी कुछ सीमाएं हैं। पता नहीं कैसे कहा जाय...। हां, ऐसा ही है, यह ऐसा है मानों वह तरल बन गया हो। और अब कोई भी व्यक्तिगत क्रिया नहीं होनी चाहिये। परंतु यथार्थतः, अंदर (पता नहीं कैसे समझाया जाय) वह ऐसा नहीं है, मानों कोई ऐसा व्यक्ति है जो इतना बड़ा हो गया हो कि औरोंको भी अपने अंदर ले ले। ऐसा नहीं है वह: वह एक शक्ति है, एक चेतना है जो सबपर फैली हुई है। मुझे किसी सीमाका अनुभव नहीं होता। मुझे लगता है कि भौतिक रूपसे भी यह कोई फैली हुई चीज है...। इसीके कारण अगर कोई बहुत सक्रिय आलोचक भावसे अवलोकन और निर्णय करनेके लिये आये तो मानों वह अंदर घुस जाता है, समझे, और इससे अंदर गड़बड़ हो जाती है।

मुझे नहीं लगता कि क्रिया किसी वैयक्तिक क्रियाका भाव देती है— लेकिन बहुत समयसे ऐसा है (कम-से-कम वर्षके आरंभसे तो है ही)। जब लोग मुझे यह लिखते हैं कि उन्होंने यह अनुभव किया है कि मैंने उनके लिये यह किया और वह किया तो मैं अचरजमें पड़ जाती हूं। अगर वे

कहते : " 'शक्ति' ने ऐसा किया" या " 'चेतना' ने वैसा किया," तो मुझे वह अधिक स्वाभाविक लगता।

जो बोलता है, जो अवलोकन करता है, वह चेतनाका एक केंद्र है जो वहां स्थित है, (ऊपरकी ओर इशारा), लेकिन स्वभावतः, स्थानीय नहीं बन गया है : मुख तथा इंद्रियोंके द्वारा संचारण करनेके लिये यह वहां है (पहले जैसा इशारा), लेकिन उसका स्वभाव व्यक्तिके जैसा नहीं होता . . .। हां, जब मुझसे यह प्रश्न पूछा जाता है : "आप उसे कैसे देखती हैं ?" तो मुझे प्रश्न समझनेमें कुछ देर लगती है। मुझे नहीं लगता कि देखनेवाला एक व्यक्ति है।

कुछ अनुभूतियोंसे मुझे ऐसा ख्याल आता है कि भौतिक सत्ताके लिये व्यक्तिगत सीमाओंका होना जरूरी नहीं है; यह ऐसी चीज है जिसे सीखना तो पड़ता है, परंतु वह आवश्यक नहीं है। हमेशा यह अनुभव किया गया था कि पृथक् व्यक्तित्वोंको बनानेके लिये सीमित शरीर आवश्यक है — यह आवश्यक नहीं है। तुम उसके बिना भौतिक रूपमें रह सकते हो, शरीर उसके बिना जी सकता है . . .। सहज रूपसे, यानी, अगर शरीरको पुरानी आदतों और जीवन-विधिके साथ छोड़ दिया जाय तो यह कठिन है। इससे एक आंतरिक संगठन पैदा होता है जो बहुत ज्यादा अव्यवस्था जैसा लगता है — यह कठिन है। हर चीजके लिये, हर चीजके लिये सारे समय समस्याएं आती रहती हैं। शरीरकी एक भी क्रिया ऐसी नहीं है जिसे व्यक्तिगत सीमाओंके अभावमें समस्याओंका सामना नहीं करना पड़ता। यह प्रक्रिया वही पुरानी प्रक्रिया नहीं रही। यह वह नहीं है जो पहले था, लेकिन अभी जैसा है यह आदत नहीं बनी है, सहज अभ्यास नहीं बना है। मतलब यह कि अभी यह स्वाभाविक नहीं बना है। इसके लिये चेतनाको हर समय निगरानी रखनी पड़ती है — हर चीजके लिये, भोजन निगलनेतकके लिये, समझते हो ? और इससे जीवन जरा कठिन हो जाता है — हां, और विशेष रूपसे जब मैं लोगोंसे मिलती हूं। मैं एक बड़ी संख्यामें लोगोंसे रोज मिलती हूं (हर रोज चालीस, पचास), और हर एक कुछ ऐसी चीज लाता है जिसके लिये उस 'चेतना' को जो इन सब बातोंको देखती है, उसे अपने-आपको बाहरसे आनेवाली चीजोंके अनुकूल बनाना पड़ता है . . .। और मैं देखती हूं बहुत-से लोग बीमार हो जाते हैं (या सोचते हैं कि वे बीमार हैं, या बीमार-से लगते हैं या सचमुच बीमार होते हैं), लेकिन यह उनकी सत्ताके तरीकेसे, जो उसका पुराना तरीका है; शरीरमें ठोस रूप ले लेता है। इस नयी भौतिक चेतनामें उससे बचा जा सकता है। लेकिन ओह ! इसका

अर्थ है बहुत सारी कठिनाई! व्यक्तिको सचेतन एकाग्रताके द्वारा एक ऐसी अवस्था बनाये रखनी चाहिये जो पुरानी प्रकृतिके अनुसार स्वाभाविक नहीं है, लेकिन जो स्पष्ट रूपसे नयी जीवन-पद्धति है। लेकिन उस तरीकेसे बीमारियोंसे बचा जा सकता है। लेकिन यह प्रायः एक भगीरथ प्रयास है।

यह कठिन है।

तुम समझते हो, समस्त असंभावनाएं, सभी "यह नहीं हो सकता, वह नहीं किया जा सकता..." ये सब बुहार फेंके गये हैं; ये तात्त्विक रूपमें बुहार दिये गये हैं और यह चीज अब एक तथ्य, ठोस तथ्य बननेकी कोशिश-में लगी है।

यह बहुत हालकी चीज है, इस वर्षके आरंभके बादकी। और फिर, वे सब पुरानी आदतें —– कह सकते हैं नब्बे वर्षोंकी आदतें। लेकिन शरीर जानता है, वह जानता है कि यह केवल आदत ही है।

११ जनवरी, १९७१

माताजी लगभग डेढ़ महीनेतक लंबी शारी-रिक यातनामें रहीं। उसके बाद स्मृतिके आधारपर यह नोट लिखा गया था :

भौतिक दृष्टिमें बहुत अधिक लगातार एकाग्रताकी जरूरत है। भौतिक दृष्टि स्थिर बनानेमें सहायता करती है। वह सातत्य देती है। श्रवणके बारेमें भी यही बात है। तो जब वे दोनों न हों, व्यक्ति प्रत्यक्ष रूपमें चीजके बारेमें सचेतन हो जाता है और इससे सत्य ज्ञान आता है। अति-मानस निश्चय ही इस तरीकेसे काम करेगा।

भौतिक दृष्टि और श्रुतिको पृष्ठभूमिमें फेंक दिया गया है ताकि चेतनाकी वृद्धिके लिये, चेतनाद्वारा तादात्म्यके लिये स्थान बने।

कहने और जाननेका साधन है चेतनाका वस्तु या व्यक्तिके साथ तादात्म्य। सामान्य पृथक्ताका भाव होनेकी जगह सतत ऐक्यका भाव है। बहुत मजे-दार अनुभूतियां हैं। ऐसे लोग हैं जो मुझे बुलाते और मेरे बारेमें सोचते हैं और यह बात मेरी चेतनाके क्षेत्रमें आ जाती है। कुछ समयके बाद

मुझे बताया जाता है: "अमुक व्यक्ति आया है," या: "अमुक व्यक्तिको कुछ हो गया है," और मैं कहती हूं: "मुझे मालूम है।" जिस समय घटना घटी थी उस समय मुझे कुछ नहीं बताया गया था, लेकिन मैं उसके बारेमें सचेतन थी मानों वह मेरी सत्ताके एक अंगमें हुई हो।

१६ जनवरी, १९७१

बहुत लंबे अरसेसे मेरा एक पांव मर-सा गया था (अब उसमें फिरसे जान आ रही है), लकवा-सा था। एक पांवमें। अतः, स्वभावतः, सब कुछ कठिन हो गया...। लेकिन जो बात विलक्षण थी, मैं तुम्हें तुरंत बता सकती हूं: वहां (सिरके ऊपर इशारा) पर स्थित चेतना अधिकाधिक प्रबल, अधिकाधिक स्पष्ट होती गयी, वह **स्थिर** थी। मैं काम करती रही। केवल भारतके लिये नहीं, जगत्‌के लिये सतत संबंधमें रहकर क्रियाशील रूपसे कार्य करती रही ("परामर्श" में, समझे ?)।

रूपांतरके बारेमें तो मैं नहीं जानती...। मैंने "चेतना स्थानान्तरण" के बारेमें जो समझाया था वह विधिपूर्वक, विधिपूर्वक, लगातार, लगातार किया जा रहा है, परंतु फिर—पर दीखनेवाली क्षति—और हर हालतमें कुछ समयके लिये क्षमताओंके ह्रासके साथ। लेकिन दर्शन और श्रवणके बारेमें यह एक अजीब बात है: समय-समयपर वे स्पष्ट होते हैं, इतने स्पष्ट जितने हो सकते हैं और समय-समयपर एकदम अवगुंठित। और उसका एक और ही बहुत, बहुत स्पष्ट स्रोत है—प्रभावका अन्य स्रोत। मुझे लगता है कि मैं ठीक-ठीक, स्पष्ट देख पाऊं इसमें कई महीने लग जायेंगे। बहरहाल, सामान्य चेतना (सिरके ऊपर इशारा) जिसे वैश्व चेतना कह सकते हैं (बहरहाल, पार्थिव चेतना), एक मिनटके लिये भी—एक मिनट-के लिये भी नहीं हिली है। वह सारे समय बनी रही।

तुमने यह नोट देखा है (११ जनवरी, १९७१ का) ?

जी हां, माताजी, मैंने देखा है।

तुम इसके बारेमें क्या सोचते हो ?

मेरा ख्याल है कि संभवतः अब ऐसा होगा, अब एक नयी कार्य-पद्धति आ रही है।

यह एक नयी कार्य-पद्धति है। मजेदार है।

क्या सत्ताओं और घटनाओंके बारेमें आपका बोध बदला है? क्या आपका देखनेका तरीका बदला है?

हां, बिलकुल — बिलकुल। बहुत अजीब है...। इधर निचले भागमें इस सारे समयका उपयोग भौतिक सत्ताकी चेतनाको विकसित करनेमें हुआ है। और यह भौतिक सत्ता (माताजी अपने शरीरको छूती हैं), ऐसा लगता है कि इसे किसी और चेतनाके लिये तैयार किया गया है, क्योंकि ऐसी चीजें हैं...। इसकी प्रतिक्रियाएं बिलकुल भिन्न हैं, इसकी वृत्ति भिन्न है। मैं पूर्ण उदासीनताकी अवधिमेंसे होकर निकली हूं जब जगत्का मतलब कुछ न था... उसका अर्थ कुछ न था। और धीरे-धीरे मानों उसमेंसे एक नया बोध निकला। वह अभी मार्गमें ही है।

लेकिन यह निर्दोष (!) लकवा न था। कम-से-कम तीन सप्ताहके लिये — कम-से-कम — तीन सप्ताहतक निरंतर पीड़ा, रात-दिन, चौबीसमेंसे चौबीस घंटे, बिना उतार-चढ़ावके : ऐसा लगता था मानों मुझे चीरकर टुकड़े-टुकड़े किया जा रहा है...। तो किसीसे मिलने-जुलनेका सवाल ही न था। अब यह खतम हो गया है। अब पीड़ा पूरी तरह सह्य है और शरीरने थोड़ा-बहुत सामान्य काम शुरू कर दिया है।

लेकिन मैं तुमसे कहना चाहती थी कि मेरी चेतना सारे समय तुम्हारे साथ सक्रिय रही। तुमने अनुभव किया इसे?

मैंने 'शक्ति'का बहुत जोरसे अनुभव किया।

हां, ठीक यही है।

जी, बिलकुल तत्काल, बिलकुल तुरंत।

तो यह ठीक है।

मैंने विशेष रूपसे ख्याल किया कि अगर वह टांगमें उतर आयी

है तो इसका मतलब है कि वह अब पूरी तरह भौतिक द्रव्यमें है।

हां, हां, मैंने भी इसी अर्थमें लिया है। केवल टांग ही नहीं, पैरके एकदम निचले हिस्सेमें (माताजी अपने पांवको छूती हैं)... लेकिन मैंने देखा कि किस तरह विभीषिकाएं, मुसीबतें, दुर्भाग्य या कठिनाइयां, यह सब तुम्हारी सहायता करनेके लिये **ठीक** समयपर आती हैं — ठीक जब तुम्हें सहायताकी जरूरत होती है...। वास्तवमें, भौतिक प्रकृतिमें जो कुछ अभीतक पुराने जगत्का, उसकी आदतका और होने तथा उसके काम करनेके तरीकेका था, वह सब जिसे "संभाला" न जा सकता था उसे बीमारीके सिवा किसी और तरीकेसे न निपटाया जा सकता था।

मैं नहीं कह सकती कि यह मजेदार न था।

लेकिन अपनी ओरसे मैंने भौतिक रूपमें भी हर एकके साथ संपर्क रखा — मुझे पता नहीं वे सचेतन रहे या नहीं, परंतु मैंने हर एकके साथ संपर्क रखा। यह लोगोंकी ग्रहणशीलतापर निर्भर है। मुझे नहीं लगता कि किसी प्रकारकी कोई दरार या ऐसी कोई और चीज थी — बिलकुल नहीं, बिलकुल नहीं। उस समय भी, जब मैं बाह्य रूपसे इस तरह कष्ट भोग रही थी और लोग समझते थे कि मैं अपनी पीड़ामें पूरी तरह तल्लीन होऊंगी, उस समय भी मैं उसीमें लगी हुई न थी। मुझे नहीं मालूम कैसे समझाऊं ...। मैं भली-भांति देखती थी कि बेचारे शरीरकी हालत अच्छी नहीं है, लेकिन मैं उसमें तल्लीन न थी, सारे समय उस... सत्यका संवेदन था जिसे समझना और अभिव्यक्त करना है।

और यह नोट (कैसे कहा जाय?), यह किसी चीजका परिणाम था और बड़े यथार्थ रूपमें किसी चीजका आरंभ भी। पता नहीं यह समझमें आने लायक है या नहीं...

यह अच्छी तरह समझमें आता है।

तुम्हें यह बोधगम्य लगता है?

जी, आपने कहा है कि संभवतः दर्शन और श्रवणकी क्रियाओंको दबा दिया गया था, ताकि आप इंद्रियोंके माध्यमके बिना ही वस्तुओंके बारेमें प्रत्यक्ष रूपसे सचेतन हो सकें।

हां, लेकिन यह नोट, अब भूतकालकी चीज बन चुका है, क्योंकि मैंने फिर-

से देखना शुरू कर दिया है, लेकिन एक और तरहसे। मैंने फिरसे देखना और सुनना शुरू कर दिया है।

यहां, आखिर आप आवश्यकताके अनुसार देखती और सुनती हैं।

हां, हां, ओह! यह बहुत स्पष्ट है। बहुत स्पष्ट है। मुझे जो सुननेकी जरूरत है वह सुनती हूं, चाहे वह कितनी भी धीमी आवाज क्यों न हो, लेकिन बातचीतकी सभी आवाजें, ये सब चीजें जो इतना शोर मचाती हैं, मैं उन्हें बिलकुल नहीं सुनती! ... कुछ बदल गया है। लेकिन वह पुराना — पुराना है, यानी, पुरानी आदतें बनी हैं। लेकिन सौभाग्यवश, मैं आदतोंवाली नहीं थी...। हां, (हंसते हुए) कह सकते हैं: कोई बहुत बड़ी चीज परिवर्तनके मार्गपर है! इसलिये वह नमनीय नहीं है, यह आसान काम न होगा। लेकिन परिवर्तन है, परिवर्तन स्पष्ट है। मैं **बहुत अधिक** बदल गयी हूं, जहां स्वभावका संबंध है, जहां समझका संबंध है, जहां देखनेकी क्षमताका संबंध है — बहुत, बहुत अधिक... पूरी तरहसे नया समूहीकरण हुआ है।

मेरी समझमें नहीं आ रहा था कि इस नोटका बोधगम्य रूपमें कैसे उपयोग करूं।

लेकिन, माताजी, यह पूरी तरह बोधगम्य है।

ठीक है। यह सिर्फ इसलिये है कि लोगोंको यूं ही अचानक निराश न किया जाय। बादमें वे इतनी दूर पड़ जाते हैं कि कुछ भी नहीं समझते।

(मौन)

निश्चय ही नयी चेतनाका सिद्धांत यह है कि चीजें ठीक उस समय की जाती हैं जब उनकी जरूरत हो, और बस।

हां, हां।

कोई योजना नहीं, कोई पूर्वदृष्टि नहीं।

हां, हां, ठीक ऐसा ही।

(मौन)

संसार भयंकर स्थितिमें है।

लेकिन मैंने पहले कभी ऐसा अनुभव नहीं किया कि चीज होने-होनेको है।

हां, हां, ठीक ऐसा ही। हां।

मुझे ऐसा लगता है कि अब वह बिलकुल नजदीक है।

हां, हां, बिलकुल नजदीक।

(मौन)

एक पूरी अवधि ऐसी थी कि मुझसे मिलना असंभव था, क्योंकि मैं लगातार कष्ट सह रही थी, ऐसी अवस्थामें आदमी बेकार होता है — वह कष्ट लगातार था, लगातार। कहा जा सकता है कि वह सारे समय चीख थी। उसमें बहुत समय लगा, उसमें कई सप्ताह लगे। मैंने हिसाब नहीं लगाया। तब धीरे-धीरे वह ऐसी शांतिके साथ बारी-बारीसे आने लगा जब टांगको कुछ न लगता था। अभी पिछले दो-तीन दिनसे ही ऐसा लगता है कि वह ठीक तरह व्यवस्थित हो गयी है...। हां, यह ऐसा...यह सारे जगत्की सारी समस्या थी — एक ऐसे जगत्की जो एक पीड़ा, दुःखके सिवाय कुछ नहीं है और एक बड़ा-सा प्रश्न चिह्न : क्यों ?

जितने शामकोंका उपयोग किया जाता है, मैंने उन सबका प्रयोग किया : पीड़ाको आनंदमें बदला, अनुभव करनेकी क्षमताको हटाया, अपने-आपको किसी और चीजमें व्यस्त रखा...। मैंने सब प्रकारकी "तरकीबें" कर लीं — लेकिन एक भी सफल न हुई! भौतिक जगत्में, जैसा कि वह है, कोई ऐसी चीज है जो...(कैसे कहा जाय ?) अभीतक भागवत 'स्पंदनों'-के प्रति खुली नहीं है। और यही वह कुछ चीज है जो सभी, सभी, सभी अशुभ चीजें करती है...। भागवत चेतनाको अनुभव नहीं होता। और

तत्र, अनगिनत काल्पनिक चीजें मौजूद रहती हैं (लेकिन संवेदनके लिये बहुत वास्तविक), और उस चीज, एकमात्र सच्ची चीजका अनुभव नहीं किया जा सकता...। लेकिन अब ज्यादा अच्छा है। ज्यादा अच्छा है।

यह सचमुच मजेदार है। मुझे लगता है कि व्यापक रूपमें कुछ किया गया होगा — यह केवल एक शरीर या एक व्यक्तिकी तकलीफ नहीं थी : मुझे लगता है कि जिस रूपमें ग्रहण करना चाहिये उस रूपमें ग्रहण करनेके लिये, उचित ढंगसे 'द्रव्य' को तैयार करनेके लिये कुछ किया गया है — मानों वह अभीतक गलत तरीकेसे ग्रहण कर रहा था और अब ठीक तरहसे ग्रहण करना सीख गया है।

वह चीज आयेगी। शायद, मुझे पता नहीं उसके स्पष्ट होनेमें कितने महीने या वर्ष लगेंगे।

(चलते समय, शिष्य माताजीका लिखा हुआ एक पुरजा पढ़ता है)

मुझे अब याद नहीं यह क्या है।

यह एक संदेश है जो आपने 'आकाशवाणी' को दिया था।
"हम 'प्रकाश' और 'सत्य'के
संदेशवाहक होना चाहते हैं।
सामंजस्यका भविष्य अपने-आपको प्रस्तुत कर रहा है
ताकि संसारके सामने उसकी घोषणा की जाय।"

हां, यह ठीक है, यह लोगोंको साहस देता है।

जी हां, माताजी। जहांतक मेरा सवाल है, पता नहीं, मुझे बहुत जोरसे लग रहा है कि वह बहुत नजदीक है।

हां।

मुझे यही लगता है।

हां। तुम्हारी बात ठीक है। तुम ठीक कहते हो। रही बात मेरी, इसे न देख सकनेके लिये बिलकुल अंधा होना चाहिये। चीज इस स्थितितक आ चुकी है।

३ मार्च, १९७१

मुझे लगता है कि आपकी दृष्टि बहुत बदल गयी है।

(माताजी स्वीकृतिमें सिर हिलाती हैं)

साल-भरसे ऊपर हो गया, वह ज्यादा-ज्यादा श्रीअरविन्दके जैसी लग रही है।

अच्छा ! ... (सस्मित) संभव है !

पहले आपकी दृष्टि "हीरेके जैसी" थी — वह .... स्वयं आप थीं, शक्तिशाली रूपसे आप। अब, वह अनंतके जैसी होती जा रही है।

ओ ! मेरे देखनेका तरीका भी वही नहीं है।

जी, यही बात है। मैं यह पूछना चाहता था कि जब आप लोगोंको इस तरह देखती हैं तो उनमें क्या देखती हैं ?

मेरा ख्याल है कि मैं ... ज्यादा ठीक रूपसे कहूं तो उनकी अवस्था देखती हूं। वह अवस्था देखती हूं जिसमें वे हैं। विशेषकर कुछ हैं जो बंद मालूम होते हैं, जहांतक मेरा संबंध है, वे देखते ही नहीं, जो पूरी तरह अपनी बाह्य चेतनामें रहते हैं; और फिर, ऐसे लोग हैं जो खुले हुए हैं — ऐसे ... कुछ बच्चे, यह अद्‌भुत है — जो मानों बिलकुल खुले हुए हैं (सूर्यकी ओर खिलते हुए फूलकी मुद्रा), जो आत्मसात् करनेके लिये तैयार होते हैं। मैं विशेष रूपसे लोगोंकी ग्रहणशीलता देखती हूं, वे जिस अवस्थामें हैं उसे देखती हूं : जो लोग अभीप्साके साथ आते हैं, जो कुतूहलके साथ आते हैं, जो ... एक प्रकारसे बाध्य होकर आते हैं, और फिर, जो प्रकाशके लिये प्यासे हैं — ऐसे अधिक नहीं होते, लेकिन ऐसे बच्चे कई हैं। आज मैंने एकको देखा था जो मनोहर था ! ... ओ, अद्‌भुत !

मैं केवल यही देखती हूं। मैं यह नहीं देखती कि वे क्या सोच रहे

हैं, क्या कहते हैं (यह सब मुझे ऊपरी और उबाऊ लगता है), मैं यही देखती हूं कि वे ग्रहणशीलताकी किस अवस्थामें हैं। मैं विशेष रूपसे बस यही देखती हूं।

(मौन)

मुझे लगता है कि हमें बच्चोंमें ही ऐसे लोग मिलेंगे जो नयी जातिका आरंभ कर सकते हैं। पुरुषोंपर तो... पपड़ी चढ़ गयी है।

मैं सदा ऐसे लोगोंके विरुद्ध संघर्षमें लगी रहती हूं जो यहां आरामसे रहनेके लिये आये हैं ताकि "जो मरजी कर सकें"... तो ... मैं उनसे कहती हूं : "संसार काफी बड़ा है, तुम बाहर जा सकते हो" — वहां न अंतरात्मा होती है, न अभीप्सा, कुछ भी नहीं।

तुम मेरी भावना जानते हो? वे सब बूढ़े हैं। सिर्फ मैं ही युवा हूं। हां, यह वही है, वह लौ, वह इच्छा... वह जिसे वे "उत्साह" कहते हैं — छोटी-मोटी व्यक्तिगत तुष्टियोंसे संतुष्ट रहें... जो तुम्हें कहीं नहीं पहुंचातीं और इसीमें लगे रहें कि क्या खायंगे, ओह! ...

मुझे लगता है कि अब एक प्रकारका "प्रदर्शन" है (जानते हो प्रदर्शन क्या होता है?), उन सब चीजोंका प्रदर्शन जो नहीं होनी चाहिये।

जी हां।

लेकिन ज्वाला, अभीप्साकी ज्वाला (माताजी सिर हिलाती हैं), ऐसे बहुत नहीं हैं जो इसे लेकर आते हों।

शर्त बस यही है कि वे जिसे "आराम" कहते हैं उस तरह आरामसे रह सकें — और कुछ ऐसी मूर्खताएं कर सकें जिन्हें वे संसारमें नहीं कर सकते! ... दूसरी ओर, ऐसा लगता है कि आगमनको जल्दी लानेके लिये — उसे जल्दी **लाया जा सकता है** अगर हम ... अगर हम विजेता हों!

सच्ची आध्यात्मिकता **बहुत** सरल होती है।

(६-३-१९७१)

१ मई, १९७१

सचमुच ऐसा लगता है कि संसार खलबलीमें है।

हां, ठीक है।

और व्यक्ति भी।

(मौन)

सवेरेसे ऐसा ही रहा है — हड़तालें, झगड़े, अव्यवस्थाएं...। और कुछ ऐसा भाव है कि जिन्होंने अव्यवस्था पैदा की है उन्हींकी सहायतासे व्यवस्था फिरसे लायी जाय। यही चीज करनी है। सामान्य सद्भावना और समस्त नैतिक और सामाजिक नियमोंकी जगह — ये सब ढह चुके हैं — तुम्हें ऊपर उठना चाहिये, भागवत इच्छा, और भागवत 'सामंजस्य' होने चाहियें। हम यही तो चाहते हैं। और फिर, जिन लोगोंने चीजों और सामान्य सामाजिक रुढ़ियोंके सामान्य विधानके विरुद्ध विद्रोह किया है उन्हें सिद्ध करना होगा कि वे उच्चतर चेतना और सत्यतर सत्यके साथ संपर्कमें हैं।

यह करनेका समय है... (ऊपरकी ओर छलांगका संकेत)।

और व्यवस्था करनेवाली शक्तिकी दृष्टिसे, यह एक शक्ति है... अत्यधिक शक्तिशाली। यह अद्भुत है। और अगर यह शक्ति उच्चतर व्यवस्था, सत्यतर चेतनाकी सेवामें रखी जा सके... तो कुछ किया जा सकता है।

व्यक्तिको ऊपर... ऊपरकी ओर छलांग मारनी होगी।

वे सब लोग जो नयी व्यवस्था लाना चाहते हैं वे पीछेकी ओर, पुराने विचारोंकी ओर खिंचते हैं — और इसीलिये कभी सफल नहीं होते। यह सब खतम हो चुका है, हमेशाके लिये खतम हो चुका है। हम ऊपरकी ओर जायंगे। केवल वही काम कर सकते हैं जो ऊपरकी ओर उठें।

(लंबा मौन)

तुम्हारे पास कुछ नहीं है? कुछ नहीं पूछना?

मुझे ठीक पता नहीं कि मैं किस दिशामें जा रहा हूं।

दिशा बस एक ही है — भगवान्की ओर। और जैसा कि तुम जानते हो वह उतनी ही अंदर है जितनी बाहर, उतनी ही ऊपर है जितनी नीचे। वह सब जगह है। इस जगत्में, जैसा कि वह है, भगवान्को पाना और उनके साथ चिपके रहना चाहिये — केवल उन्हींके साथ, कोई और रास्ता नहीं है।

२२ मई, १९७१

अगर भगवान् हमारे लिये विजय चाहें, तो **वह बहुत ही प्रबल हो सकती** है। बहुत प्र — ब — ल विजयकी संभावना है, हवामें नहीं, यहां। सारी बात है यह जाननेकी कि उस विजयका समय आ गया है या नहीं।

(लंबा मौन)

मैं कहती हूं, हर जगह... एक असाधारण विजयकी संभावना है। क्या उसका समय आ गया है? मुझे नहीं मालूम...। जहांतक मेरा प्रश्न है मैं अपने-आपको ऐसा बना लेती हूं (लघुताका संकेत), भौतिक रूपमें बहुत ही छोटा और मैं छोड़ देती हूं... (भगवान्की ओर खुली भुजाओंकी मुद्रा)।

हां, तो भागवत संकल्प नीचे आ रहा है, और फिर, ये सब रचनाएं हैं जो बीचमें आ जाती हैं और उसके कार्यान्वयनमें देर लगाती हैं — मैं चाहूंगी, मैं चाहूंगी कि मेरा वातावरण... स्वच्छ, एकदम स्वच्छ ट्रांसमिटर (प्रेषक) हो। मैं यह भी नहीं जानना चाहती कि वह क्या है, क्योंकि वह भी साधारण मानवताको ले आता है... स्वच्छ, स्वच्छ प्रेषक: उसे इस तरह आने दो (अवतरणकी मुद्रा), अपनी पूर्ण पवित्रतामें पवित्र — चाहे वह विकट ही क्यों न हो।

वास्तवमें, हम नहीं जानते कि "यह ऐसा क्यों है" और "वह वैसा क्यों है," और हमारी दृष्टि... भले उसमें सारी धरती भी समा जाय, बहुत ही छोटी, छोटी — और ऐकांतिक है: हम यह चाहते हैं, हम वह नहीं चाहते...। सबसे पहले, **सबसे पहला** काम है यंत्र तैयार करना...। हमें

'स्वच्छ' होना चाहिये, स्वच्छ जिसमेंसे चीजें बिना किसी विकारके, बिना किसी बाधाके निकल सकें।

वास्तवमें, मैं अपना समय इसीमें लगा रही हूं: ऐसा होनेकी कोशिश कर रही हूं।

लेकिन आप जिस विजयकी संभावनाका अनुभव कर रही हैं क्या वह हालकी चीज है?

हां।

यह हालकी है, क्योंकि बाहरी तौरपर स्पष्ट है कि परिस्थितियां ऐसी अच्छी नहीं हैं — बाहरी तौरपर।

ओह! जानते हो... सभी परिस्थितियोंने मानों एक विभीषिकाके लिये संगठन कर लिया था।

जी।

कुछ ही दिन पहले मानों विभीषिका सिरपर ही थी। और तब, उस समय, मेरी सारी सत्ता, मानों... (कैसे कहा जाय?) हां, वह, हम कह सकते हैं, सच्ची 'विजय' के लिये अभीप्सा थी: ऐसी विजय नहीं जिसे यह चाहता है या वह चाहता है... बल्कि सच्ची 'विजय'। ऐसा लगता है कि यही चीज **सब** कठिनाइयां ले आयी (**ऐकांतिक संकल्प**)। और तब अचानक मानों एक प्रकाश प्रकट हुआ: 'विजय' की संभावना। वह अब भी है...। यह चमत्कारिक नहीं है, दिव्य हस्तक्षेप है... 'परम प्रज्ञा' का हस्तक्षेप — क्या वह ठोस रूप लेगा? देखें। वह आती हुई मालूम होती है। वह इस तरह आती हुई मालूम होती है — संभावनाके रूपमें (खास ऊंचाईपर दोनों हथेलियां नीचेकी ओर)।

नहीं, यह हालकी चीज है, बिलकुल हालकी। मैं नहीं कह सकती क्योंकि यह अचानक नहीं आयी। लेकिन यह दिनोंका प्रश्न है।

जी हां, कुछ समयतक मैं बहुत निराशाका अनुभव करता रहा।

यह एक बुरी वृत्ति है।

मेरे अंदर पहले वह वृत्ति नहीं थी, फिर भी ऐसा लगता था कि एक निराशाजनक वातावरण अंदर आ रहा है।

जो कुछ भगवान्को नहीं चाहता वह जान-बूझकर ऐसा वातावरण तैयार करता है ताकि उन लोगोंका उत्साह भंग करे जो भगवान्को चाहते हैं। तुम्हें जरा भी... जरा भी ध्यान न देना चाहिये। यह शैतानका रास्ता है। निराशावाद शैतानका अस्त्र है और वह अपनी स्थितिको भांप लेता है... (हिलानेका संकेत)। हां, तो मैं जिस संभावनाको देख रही हूं, अगर वह सिद्ध हो जाय तो यह वास्तवमें विरोधी शक्तियोंपर एक निर्णायक विजय होगी — स्वभावतः, वह भरसक अपना बचाव करता है...। वह हमेशा शैतान होता है, जैसे ही तुम निराशावादकी पूंछ देखो, समझ लो कि शैतान है। यह उसका महान् अस्त्र है।

९ जून, १९७१

विरोधी शक्तियोंकी रेलपेल है। पागल रेलपेल। लेकिन 'उत्तर' आने लगा है -- यह एक जरा-सा आरंभ है। हर एकके अंदर मानों एक तूफान था — वह पूरी तरह गया नहीं है। वह सब, जिसके बारेमें यह माना जाता था कि इसे जीत लिया गया है और धकेल दिया गया है, वह बड़ी तेजीसे वापिस आता है — और सबसे अधिक अप्रत्याशित लोगोंमें —, और सब प्रकारके रूपोंमें और सबसे बढ़कर स्वभावमें, ओह! संदेह, विद्रोह और ऐसी सब चीजें...

(मौन)

मुझसे समस्त भारतके लिये एक संदेश मांगा गया था। मैंने यह दिया है (माताजी शिष्यको कागज देती हैं):

> परम प्रभो, 'शाश्वत सत्य'
> हम केवल 'तेरी' ही आज्ञाका पालन करें
> और तेरे 'सत्य' के अनुसार जियें।

'मिथ्यात्व' की भयंकर रेलपेल है। ऐसा लगता है मानों हर आदमी, हर जगह झूठ बोल रहा है, एकदम अप्रत्याशित लोग भी — हर जगह, हर जगह, हर जगह। और मेरे लिये यह जीवित वस्तु थी (माताजी देखनेकी मुद्रा करती हैं)। ओह! भयंकर। तुम कल्पना नहीं कर सकते ...जरा दाईं ओरको मरोड़, जरा बाईं ओरको मरोड़, जरा-सा बल... कोई चीज, कोई भी चीज, कुछ भी सीधा नहीं है। तब शरीर अपने-आपसे पूछता है: "तुम्हारा मिथ्यात्व कहां है?" उसने अपने-आपको देखा और उसने पुरानी कहानी देखी: "जब कभी कोई जरूरी बात हो, केवल तभी प्रभुको बुलाना चाहिये! (माताजी हंसती हैं) तुम सारे समय प्रभु-के साथ रहनेकी आशा नहीं कर सकते!" तब उसे एक अच्छी-सी थपकी मिली! ... वह आक्रमणशील न थी, उसमें विनयका भाव था — उसे एक अच्छा चपत लगा।

वह अप्रिय वस्तुओंका भयंकर क्रोधोन्माद था — अप्रियसे बढ़कर; सच-मुच, सचमुच दुष्ट, अशुभ और विनाशकारी। वह क्रोधोन्माद था जबतक कि समझ नहीं आ गयी। तब सारे शरीरमें यह प्रतीति आयी, सभी कोषाणुओंमें, सब जगह, सारे समय — बात यहांतक पहुंच गयी कि मैं खाते समय निगलतक न सकती थी —, यह तबतक रहा जबतक हर चीज-में, हर एक चीजमें यह समझ नहीं आ गयी: मेरा अस्तित्व केवल भग-वान्‌के द्वारा है, मैं भगवान्‌के द्वारा रहे बिना जी ही नहीं सकती... और मैं भगवान् हुए बिना स्व भी नहीं बन सकती। इसके बाद चीजें ठीक होने लगीं। अब शरीरने समझ लिया है।

(लंबा मौन)

तुम्हें कुछ नहीं पूछना? कुछ नहीं कहना?

मुझे लगता है कि नियति खराब है।

नहीं, यह सच नहीं है। यह 'मिथ्यात्व' का भाग है, यह वही 'मिथ्यात्व' है। कोई बुरी नियति नहीं है, यह एक झांसा है! यह वास्तविक 'मिथ्यात्व' है...। यह बिलकुल सच नहीं है, बिलकुल नहीं, बिलकुल नहीं।

तो लो, यह बात तुम्हें एक उदाहरण दिखाती है: बस ऐसा ही है — सब जगह ऐसा ही है (माताजी मानों चंगुलमें पकड़नेकी मुद्रा करती हैं)। मुझे तो ऐसा लगता है कि मैं ऐसे राक्षस देखती हूं जो डायनकी तरह

पंजे फैलाये सबको पकड़नेकी कोशिश करते हैं! ओह! तुम्हें देखना चाहिये और फिर हंसना चाहिये — एक असभ्य बच्चेकी तरह जीभ दिखानी चाहिये।

(लंबा मौन)

बहरहाल, हमपर अच्छी तरह हमला हो रहा है।

ओह! ... मैं कहती हूं, बड़ी भीड़ थी लेकिन कोई बात नहीं ... तुम्हें ऊपर उठना चाहिये, और फिर ... (ऊपर देखनेकी मुद्रा)।

मैंने तुमसे जो कहा 'सत्य' है, वही **एकमात्र** उपचार है।

केवल भगवान्के लिये ही जीना,
केवल भगवान्द्वारा ही जीना,
केवल भगवान्की सेवाके लिये ही जीना,
केवल ... भगवान् बनकर ही जीना।

तो यह रहा।

यहां "तुम" नहीं है, "प्रतीक्षा करनी चाहिये" नहीं है, "वह अपने समय-पर आयेगा" नहीं है ... ये सब चीजें, जो बहुत तर्कबुद्धि संगत हैं, अब अस्तित्व नहीं रखतीं — यह 'वह' है (माताजी मुट्ठी नीचे करती हैं) — एक तलवारकी धारकी तरह। बस 'यही' है। **हर चीज और सभी चीजोंके बावजूद** 'वही': भगवान् — केवल भगवान्। समस्त दुर्भाव और विद्रोहका यह सब कूड़ा ... और वह सब (माताजी तर्जनी उठाकर सीधी रखती हैं) बुहारकर फेंक दिया जाना चाहिये। और जो यह कहता है कि वह मर जायगा या 'उस' के द्वारा मार दिया जायगा वह है अहंकार — 'महाशय अहंकार' जो चाहते हैं कि उन्हें सच्ची सत्ता मान लिया जाय।

लेकिन शरीरने सीख लिया है कि अहंके बिना भी वह जो है वह है, वह जो कुछ है भगवान्की 'इच्छा' से है अहंसे नहीं — हम भागवत 'इच्छा'-के कारण जीते हैं, अहंके कारण नहीं। अहं साधन था — सदियोंतक साधन रहा —, अब वह बेकार है, उसका समय बीत गया। अब ... (माताजी मुट्ठी नीचे लाती हैं) चेतना भगवान् है, शक्ति, वह भगवान् है; क्रिया, वह भगवान् है; व्यक्तित्व, वह भी भगवान् है।

और शरीरने अच्छी तरह समझ लिया है, अनुभव कर लिया है; "उप-लब्ध" कर लिया है, "समझ" लिया है कि अलग व्यक्ति होनेका भाव एकदम बेकार है, एकदम बेकार। उसके जीवनके लिये यह जरा भी

अनिवार्य नहीं है, यह बिलकुल व्यर्थ है। वह एक और ही शक्तिके द्वारा, एक और संकल्पद्वारा जीता है, जो व्यक्तिगत नहीं है : वह है भागवत संकल्प। और उसे जो होना चाहिये, वह उसी दिन बनेगा जब वह अनुभव करेगा कि उसमें और भगवान्‌में कोई फर्क नहीं है। बस यही।

बाकी सब मिथ्यात्व है, —— मिथ्यात्व, मिथ्यात्व और मिथ्यात्व, जिसे गायब हो जाना चाहिये। केवल **एक** ही सद्वस्तु है, केवल **एक** ही जीवन है, केवल **एक** ही चेतना है (माताजी मुट्ठी नीचे लाती हैं) : वह है भगवान्।

१७ जुलाई, १९७१

मैंने समझ लिया है कि अगर परम चेतनामें एक क्षणके लिये भी वह चेतना हो जो मनुष्योंमें है तो जगत् लुप्त हो जायगा . . .। हमारी सहज प्रतिक्रिया, वस्तुओंके बारेमें हमारी सहज प्रतिक्रिया यह होती है कि हमें जो बुरा लगता है, जो मिथ्या है उसे नष्ट कर दिया जाय। सहज प्रतिक्रिया है रूपांतरित करना नहीं : नष्ट करना — समझते हो, दोनोंके बीच बहुत बड़ी खाई है।

जी।

यह बिलकुल सहज है, खतम कर देनेका —— मिथ्यात्वको खतम कर देनेका भाव बिलकुल सहज है। लेकिन अगर परम प्रभुके अंदर क्षण-भरके लिये भी इस प्रकारकी गति हो तो कहीं दुनियाका पता न चलेगा! . . . और मेरा ख्याल है कि यह बात शरीर समझ गया है। मेरा ख्याल है कि वह समझ गया है — यह असाधारण था . . .। हम क्या हैं! मनुष्य क्या हैं! वे मानते हैं, हे, भगवान् (माताजी जोरसे सांस लेती हैं), वे मानते हैं . . . ओह! . . . अगर उनमें जरा भी समझ होती या अगर वे पूर्णताके लिये जरा भी प्रयास करते, ओह! (वही संकेत) वे मानते हैं, वे मानते हैं कि वे असाधारण हैं! (माताजी दोनों हाथोंमें सिर पकड़कर हंसती हैं)।

श्रीअरविंदने कहींपर कहा है कि जब तुम भागवत चेतनाके संपर्कमें होते

हो तो तुम्हें अचानक यह पता लगता है कि... यह संसार अपनी मूर्खतामें किस हदतक हास्यास्पद है। मनुष्योंकी मूर्खता...। लेकिन पशुओंमें — मेरा पशुओंके साथ संपर्क रहा है — पशुओंमें भी यह चीज शुरू हो गयी है। मिथ्याभिमान, मिथ्याभिमान, मिथ्याभिमान, मिथ्याभिमान...

(मौन)

जानते हो, धोखेबाजी और धोखेबाजीके प्रयासको सब जगह सद्भावना माना जाता है। और जो धोखा नहीं देना चाहते, परंतु अपने-आपको ही धोखा देते हैं, वे अपवादस्वरूप सत्ताएं हैं।

ये खोजें नहीं हैं, ऐसी चीजें हैं जिन्हें मैंने देखा है; लेकिन वे कभी-कदास, अपवादिक रूपमें इसके लिये या उसके लिये दिखायी देती हैं — लेकिन मुझे सारे संसारका, समस्त पृथ्वीका, सारी मानवजातिके प्रयासका, सभी मनुष्योंका, सब चीजोंका अंतर्दर्शन प्राप्त था...। हम एक धोखेमें रहते हैं... यह भयानक है! ... और फिर आदमी जितना औरोंको धोखा देना चाहता है, उससे बढ़कर अपने-आपको धोखा देता है।

(मौन)

कहनेका मतलब यह कि हम **किसी चीज**को भी वह जैसी है वैसी नहीं देख पाते।

(लंबा मौन)

केवल एक सुरक्षा है: भगवान्से चिपटे रहो, इस तरह (दोनों मुट्ठियां बांधनेका संकेत)।

चिपके रहना, लेकिन उससे नहीं जिसे तुम भगवान् सोचते हो, उससे भी नहीं जिसे तुम भगवान् अनुभव करते हो... यथासंभव अधिक-से-अधिक सच्ची, निष्कपट अभीप्सा। और उससे चिपके रहो।

(मौन)

जानते हो, एक बात मैं तुम्हें पहले ही बता चुकी हूं, शरीर — शरीर-की चेतना — पहलेसे ही जान लेता है कि क्या होनेवाला है। वह पहलेसे

जानता है कि लोग उससे क्या कहनेवाले हैं। लेकिन वह यह नहीं जानता ... (कैसे कहा जाय?) वह ठीक उस रूपमें नहीं जानता जिसमें भौतिक रूपमें चीज होनेवाली है। वह ... सदा ... यह जानती है कि चीज **किस भावसे** की जाती है ...। यह बड़ी अजीब बात है। मैं बिना हिले-डुले, केवल भगवान्‌की होकर रहनेकी कोशिशमें लगी हूं और चीजें होती जाती हैं — वे इस प्रकार होती हैं (ऐसा संकेत मानों सामनेके परदेपर): चीजें, पदार्थ, घटनाएं आती हैं, लोग बोलते हैं: ...। शुरूमें मैं मानती थी कि यह मेरी भौतिक चेतना ही थी जो अपने-आपको चुप न रख सकती थी। फिर मैंने जाना कि यह बाहरसे आकर भौतिक स्तरपर भौतिक रूप ले रही है। अब अगर मैं इन चीजोंको मानसिक भाव दूं तो मैं भविष्यमें होनेवाली चीजोंको देख सकूंगी, कह सकूंगी कि क्या होनेवाला है ...। केवल, साधारण मनुष्यमें; मन इन बातोंका उपयोग भविष्यवाणियां करनेके लिये करता है — लेकिन, सौभाग्यवश, मन है ही नहीं, वह शांत है, वह अनुपस्थित है। सिर्फ जब मुझे बातें बतलायी जाती हैं या मेरे आगे कही जाती हैं, तो इस शरीरको कोई आश्चर्य नहीं होता, ऐसा लगता है कि वह जानता है। अजीब बात है ...। एक प्रकारका सर्वीकरण।

२१ जुलाई, १९७१

शरीर अधिकाधिक सचेतन होना शुरू कर रहा है, लेकिन एक मजेदार तरीकेसे सचेतन।

उदाहरणके लिये ?

इसके लिये मानसिक रूप देना होगा, मैं नहीं दे सकती।

(मौन)

मैं यह जानना शुरू कर रही हूं कि क्या होनेवाला है, लोग मुझे क्या कहनेवाले हैं, इसी तरह और सब ... कैसे समझाया जाय? ... यह तो ऐसा है मानों परिस्थितियां, लोग और शब्द **बन गयी हूं** ...

शरीर अधिकाधिक सचेतन है, पर मानसिक ढंगसे नहीं, हरगिज नहीं —बल्कि ... जैसे चीजें जीती हैं। पता नहीं कैसे समझाया जाय। कहना कठिन है ...। उसे अनुभव करना होता है (लेकिन, वास्तवमें, मुझे नहीं मालूम इसे कैसे समझाऊं), अभिव्यक्तिमें मानव चेतना भागवत क्रियाको किस तरह विकृत कर देती है (सीधे प्रवाहका संकेत) ...। गठन ही दरिद्री है। हम छोटा कर देते हैं, विकृत करते हैं, **हर चीज**का महत्त्व घटा देते हैं। हर चीजका — हम चीजोंको जानते हैं, — दिव्य ज्ञान मौजूद है, हमारे चारों ओर है, हमारे अंदर है — लेकिन हमने अपने-आपको इतना जटिल बना लिया है कि हम उसे विकृत कर डालते हैं। हर एक ऐसा ही है ...। अतः, भगवान्‌ने अंदरसे हमारे अंतरमें जो कुछ संगठित किया है उस सबका बहुत यथार्थ संवेदन होता है, पर उसके ऊपरी तलपर आते-आते वह विकृत हो जाता है। इस तरह कहनेसे यह बात निरर्थक-सी लगती है, पर जो कहना चाहिये उसके निकट यही है। एक ... इतनी सरल और इतनी अद्भुत बातको कहनेका हमारा मूर्खतापूर्ण तरीका है यह ...! हम इतने भ्रष्ट हो गये हैं कि हमेशा उसी चीजको चुनते हैं जो विकृत हो।

पता नहीं, स्वयं मेरे शब्द ही चीजोंको विकृत न करते हों, मगर वह ... वह चीज इतनी सरल, इतनी प्रकाशमय, इतनी शुद्ध — इतनी निरपेक्ष है। और फिर, हम उसका वह हाल कर देते हैं जो हमें दिखायी देता है : एक पेचीदा, लगभग समझमें न आनेवाला जीवन बना देते हैं।

(मौन)

अब देखो, मैं हूं, इतनी सारी परिस्थितियां हैं, जटिलताएं हैं, लोग हैं ... सब कुछ, सब, इतनी उलझन है; और मानों सबके पीछे ... केवल एक 'शक्ति' नहीं, **चिच्छक्ति** है — वह एक 'चेतना' है — वह ... वह मुस्कान जैसी है — एक मुस्कान ... ऐसी मुस्कान जो सब कुछ जानती है। हां, यह वही है। और जब मैं चुप रहती हूं (खुले हाथोंका संकेत), तो ऐसा लगता है मानों और कुछ भी नहीं है, सब कुछ अद्भुत है। और जैसे ही लोग मेरे साथ बातें करने लगते हैं या जैसे ही मैं किसीसे मिलती हूं कि बस, सब उलझनें आ जाती हैं — और वे हर चीजका गुड़-गोबर कर देती हैं।

मुझे विश्वास है कि वह इस जीवनसे उस 'जीवन' का रास्ता है ...। जब आदमी पूरी तरह उस ओर चला जायगा तो ओह! समस्त ऊहापोह

बंद हो जायगी, 'समझाने' की इच्छा बंद हो जायेगी। निगमन, परिणाम निकालना, व्यवस्थित करना — सबका अंत आ जायगा . . .। अगर हो सके तो . . .। 'होओ — **होओ,** केवल होओ, होओ किंतु हमारे लिये . . . (मैंने यह देखा है) अगर हम नहीं बोलते, अगर हम नहीं सोचते, अगर हम निर्णय नहीं करते तो हमें लगता है कि हम जीवनके बाहर हैं . . . और फिर हमेशा वही नीरवता नहीं होती। यह अनुच्चारित शब्द-का मौन नहीं, यह वह नहीं है : मनन-चिंतनका मौन है . . .। यह क्रियाशील है। क्रियाशील मनन-चिंतनका मौन। यह वही है।

निश्चय ही जीवनका नया तौर-तरीका तैयार हो रहा है। इसलिये दूसरेको उसे स्थान देना पड़ेगा।

हम कह सकते हैं : कुछ नहीं जानता — कहीं भी, कोई भी नहीं जानता — लेकिन ऐसे लोग हैं जो अभीप्सा करते हैं (कैसे कहा जाय ?), जिनमें संकल्प है, कर्षण है, अभीप्सा है, उन्हें जाननेकी आवश्यकता है — वे जानना और होना चाहते हैं, — और फिर ऐसे लोग हैं जो इन चीजोंकी परवाह नहीं करते . . . जो बस जीते हैं, अपने छोटे या बड़े जीवनको — वह चाहे किसी राज्यके प्रमुखका जीवन हो या किसी भंगीका, इससे कोई फर्क नहीं पड़ता — निभाये जाते हैं। वह एक ही चीज है, एक ही स्पंदन है।

२८ अगस्त, १९७१

तो, कोई नयी बात ?

जी, कुछ नहीं, या हमेशा वह-की-वही।

वह क्या ?

मैं प्रतीक्षामें हूं।

ओहो ! तुम प्रतीक्षामें हो — मैं भी (हंसी)।

(मौन)

ऐसा लगा मानों संसारके देखनेके सभी तरीके, एकके बाद एक : अत्यंत घृणित और अत्यंत अद्‌भुत तरीके — इस तरहसे, इस तरहसे, इस तरहसे ... (माताजी हाथको केलेडेस्कोप या बहुमूर्तिदर्शीकी तरह घुमाती हैं), और मानों सब-के-सब यह कहनेके लिये आये : यह लो, इस तरह देखा जा सकता है, इस तरह देखा जा सकता है, इस तरह ... और 'सत्य' ... 'सत्य' — क्या है ? 'सत्य' क्या है ? ... ये सब (फिर बहुमूर्तिदर्शीकी मुद्रा) और "कुछ" और जिसे मनुष्य नहीं जानता।

सबसे पहले, मुझे विश्वास है कि चीजोंको देखनेकी यह आवश्यकता, उनके बारेमें सोचनेकी आवश्यकता शुद्ध रूपसे मानवीय है और संक्रमणके साधन हैं। यह एक संक्रमणकाल है जो हमें भले लंबा, लंबा लगता है, परंतु वास्तवमें बहुत छोटा है।

हमारी चेतना भी 'चेतना' का — **एकमात्र** 'चेतना', सत्य चेतनाका अनु-कूलन है, वह और ही चीज है।

तो मेरे शरीरके लिये परिणाम यही है ... (मैं जहांतक इसे शब्दोंमें रख सकती हूं) : भगवान्‌से चिपके रहना। समझनेकी कोशिश न करना, जाननेकी कोशिश न करना — सिर्फ **होने**की कोशिश करना ... और चिपके रहना। और मैं इसी तरह अपना समय बिताती हूं।

"प्रयास" नहीं : इस तरह एक मिनट (जरा पीछे हटनेका संकेत), इस तरह काफी है, समयका कोई अर्थ ही नहीं रहता। बड़ी अजीब बात है, मैं जीवनकी सभी छोटी-मोटी गतियोंके साथ परीक्षण करती हूं। हां, तो जब मैं इस तरह चिपक जाती हूं, जब मैं सोचना बंद कर देती हूं, चेतना यूं होती है (अंदर जानेका संकेत), तो सभी तत्काल प्रतीत होता है। समय नहीं होता। जब मैं बाह्य चेतनामें होती हूं (मैं जिसे बाह्य कहती हूं वह वह चेतना है जो सृष्टिको देखती है), उसमें जितना ध्यान दिया जाता है उसके अनुसार कम या अधिक समय लगता है। तब सब कुछ, सब कुछ प्रकट होता है ... कोई भी चीज (कैसे कहा जाय ?) सद्वस्तुके अर्थमें निरपेक्ष प्रतीत नहीं होती — सद्वस्तु, जिसमें ठोस वास्तविकता हो —, शरीरकी अप्रिय चीजोंको छोड़कर कोई चीज ऐसी नहीं लगती; तब यह पता लगता है कि यह एक अपूर्णता है। अपूर्णता ही इसे इंद्रियोंके लिये गोचर बनाती है, अन्यथा यह ऐसा है (वही, अंदर जानेकी, भगवान्‌से चिपके रहनेकी मुद्रा)। और "इस तरह" आश्चर्यजनक 'शक्ति' होती है, यानी ... उदा-हरणके लिये, लोगोंके लिये एक बीमारी गायब हो जाती है (और वास्तव-में, बाहरी रूपमें मेरे कुछ भी किये बिना, मेरे उससे कुछ बोले बिना, मैंने कुछ नहीं, कुछ भी नहीं किया — बीमारी ठीक हो गयी), एक दूसरे

उदाहरणमें जहां व्यक्ति जाना चाहता है... यह अंत है। वह दूसरी ओरको झुका हुआ है और इस तरह एक ही साथ बहुत परिचित और... एकदम अपरिचित होता है।

मुझे याद है जब एक बार पिछले जन्मोंकी स्मृति, रातकी क्रियाओंकी स्मृति इतनी ठोस थी कि यह तथाकथित अदृश्य जगत् इतना ठोस था — अब... अब यह सब स्वप्नवत् है — सब कुछ — सब कुछ सद्वस्तुको ढकनेवाले स्वप्नकी तरह है... सद्वस्तु... इंद्रियोंके लिये अज्ञात फिर भी गोचर। ऐसा लगता है कि मैं अनर्गल बोल रही हूं।

जी नहीं, जी नहीं।

क्योंकि इस चीजको व्यक्त नहीं किया जा सकता।

उस दिन तुमने मुझसे पूछा था (प्रश्न अभीतक लटक रहा है), तुमने पूछा था: जब मैं इस तरह चुपचाप और स्थिर होती हूं तो उस समय क्या चीज होती है? ... यह केवल एक प्रयास है (मैं यह नहीं कह सकती कि यह अभीप्सा है, यह भी नहीं कह सकती कि यह प्रयास है — यह वह चीज है जिसे अंगरेजीमें "अर्ज" (ललक) कहते हैं), सत्य जैसा कि वह है उसे न तो जाननेकी कोशिश करना, न समझनेकी कोशिश करना, यह सब विषयांतर है: होना — होना — होना ... और तब ... (माताजीकी मधुरतापूर्ण मुस्कान)।

(मौन)

तो यह एकदम अजीब बात है: एक ही **समय** — एक ही समय —, एक-दूसरेके अंदर नहीं, एक-दूसरेके साथ नहीं, बल्कि एक, और दूसरा, एक ही समय (माताजी अपने दाहिने हाथकी उंगलियां बाएंकी उंगलियोंमें पिरोती हैं): अद्‌भुत और भयंकर...। जीवन जैसा है, जैसा हम अपनी साधारण चेतनामें अनुभव करते हैं, जैसा वह लोगोंके लिये है, वह कुछ ऐसी चीज प्रतीत होता है... ऐसी भयानक चीज कि तुम पूछोगे कि कोई उसमें एक मिनटके लिये भी कैसे जी सकता है; और दूसरा, **साथ-ही-साथ**: अद्‌भुत। 'प्रकाश' की, 'चेतना' की, 'शक्ति' की अद्‌भुत चीज — साथ-ही-साथ, अद्‌भुत। ओह! 'शक्ति'! 'शक्ति'... और यह किसी व्यक्तिकी शक्ति नहीं है (माताजी अपने हाथकी त्वचाको पकड़ती हैं), यह कुछ ऐसी चीज... कुछ ऐसी चीज है जो सब कुछ है...। और उसे अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता।

तो बिलकुल स्वभावतः, सबसे ज्यादा मजेदार बात है 'उस' को पाना। बिलकुल स्वभावतः, जब मेरे पास करनेको कुछ नहीं होता... (भीतर प्रवेश करके प्रभुसे चिपके रहनेकी मुद्रा)।

(लंबा मौन)

केवल 'तू' —

और यह बिलकुल स्पष्ट है कि सृष्टिका 'वही' लक्ष्य है, वह अद्‌भुत आनंद... 'तुझे' अनुभव करनेका आनंद।

(माताजी मुस्कानके साथ खतम करती हैं)

१ सितंबर, १९७१

जहांतक शरीरका सवाल है उसे सिखाया जा रहा है केवल भगवान्‌के द्वारा जीवित रहना, भगवान्‌पर जीवित रहना, हर चीजके लिये — हर चीज, हर चीज, बिना अपवादके हर एक चीज। केवल तभी जब चेतना यथासंभव अधिक-से-अधिक दिव्य चेतनाके साथ जुड़ी हो तभी अस्तित्वका भाव आता है। अब उसमें एक असाधारण तीव्रता है। जब भौतिक परिवर्तित हो जायगा तो वह एक **ठोस** चीज होगी। समझे? जो हिलती-डुलती नहीं, और पूर्ण है। और इतनी ठोस...। भगवान्‌में होने, केवल उन्हींके द्वारा और उन्हींमें जीने और फिर (स्वभावतः, सामान्य नहीं, मानव चेतनामें जीना) — इन दोनोंमें इतना फर्क है कि एक दूसरीके आगे मृत्यु लगती है, यहांतक कि... कहनेका मतलब, भौतिक सिद्धि ही सचमुच ठोस सिद्धि है।

ऊर्जाका संकेंद्रण शुरू हो गया है — ओह! अभीतक वह नहीं है, अभी उससे बहुत दूर है, लेकिन... जो होनेवाला है उसके बोधका आरंभ है। वह, हां... वह सचमुच अद्‌भुत है! वह शक्तिसे इतना भरा है! चेतना-में शक्ति और वास्तविकतासे इतना भरा हुआ कि और कोई, कोई चीज इतना धारण नहीं कर सकती — इसके आगे प्राण, मन, सब कुछ अस्पष्ट और अनिश्चित प्रतीत होते हैं। वह ठोस है (माताजी अपने हाथ सख्तीसे पकड़ती हैं)। और यह इतना मजबूत है!

अब भी समस्याएं हैं जिन्हें सुलझाना है, लेकिन शब्दों और विचारोंसे नहीं। और चीजें ठीक यही दिखानेके लिये आ रही हैं — केवल व्यक्तिगत चीजें नहीं, चारों ओरकी चीजें : लोग, परिस्थितियां और सब कुछ; शरीरको सिखाने, सत्य चेतना प्राप्त करना सिखानेके लिये आ रही है। वह, वह . . . अद्भुत है।

(माताजी अपने अंदर चली जाती हैं)

ऐसा मालूम होता है कि ऐसा भौतिक शरीर बनानेकी समस्या है जो उस 'शक्ति' को धारण कर सके जो अपने-आपको अभिव्यक्त करना चाहती है — सभी साधारण शारीरिक चेतनाएं उस विशाल 'शक्ति' को धारण करनेके लिये बहुत पतली और कमजोर हैं जिसे अपने-आपको प्रकट करना चाहिये। इसलिये शरीर अपने-आपको प्रशिक्षित करनेकी प्रक्रियामें है। और वह . . . जानते हो, मानों उसने अचानक एक अद्भुत, एक अद्भुत क्षितिज देखा है, विस्मयकारी रूपसे अद्भुत; और फिर, उसे अपनी धारण-शक्तिके अनुसार आगे बढ़नेके लिये छोड़ दिया गया है। अनुकूलनकी पद्धतिकी जरूरत है। संक्रमण . . . पूर्ण संक्रमण।

क्या वह पर्याप्त रूपसे नमनीय होगा ? पता नहीं।

यह नमनीयताका प्रश्न है। जो 'शक्ति' अपने-आपको अभिव्यक्त करना चाहती है (ऊपरसे माताजीके द्वारा गुजरते हुए प्रवाहका संकेत), उसे बिना बाधा दिये धारण करना और संचारित करना।

रूप-रंग केवल भावी निष्कर्ष है। अतः . . . रूप-रंग बदलनेके लिये आखिरी चीजें होंगी।

(माताजी ध्यानमें चली जाती हैं)

यह अनिश्चित कालतक चल सकता है . . . । कोई चीज छुए जाने को है ऐसी प्रतीति और . . . (निकल भागनेकी मुद्रा)।

तुम्हें क्या लगा ?

> **'ग' ने मुझे एक बार यह समझाया कि मैं जब आपके पास होता हूं तो क्या अनुभव करता हूं . . . । उसने कहा : "जब कोई आपके पास होता है तो ऐसा लगता है मानों शरीरसे प्रार्थना करवायी जा रही है।" जी, तो बात यही है। मुझे ऐसा लगता है कि**

कोई शक्ति शरीरके सभी भागोंको लेकर... पता नहीं, उन्हें अभीप्सासे लबालब भर देती है।

हां, लेकिन यही तो मेरा शरीर अनुभव करता है।

जी हां, वह शरीरसे प्रार्थना करवाती है, शरीरको एक ऐसी 'शक्ति' से भर देती है जो... पता नहीं, जो चमकते हुए सोनेके जैसी है और हर चीजको ऊपर उठा देती है।

हां, ऐसा हर समय रहता है।

(मौन)

मुझे लगता है... कि वह (अपने शरीरपर आड़ा-तिरछा संकेत) सारे समय इस तरह प्रवाहित होती है।

शायद यह वह है, भौतिक द्रव्यमें भागवत प्रेम?

(माताजी खूब हंसती हैं)

यह एक साथ ऐसा चमकदार और तीव्र होता है — चमकदार और इतना सशक्त...। वह इतना सशक्त होता है कि हम मुश्किलसे ही उसे "प्रेम" का नाम दे सकते हैं, क्योंकि हम प्रेम शब्दसे जो कुछ समझते हैं यह उसके साथ कहीं भी मेल नहीं खाता।

हां, मैं भी नहीं!... मैं ऐसी हूं (माथेकी ओर इशारा) : कुछ नहीं, कुछ नहीं, कुछ भी नहीं, खाली, खाली, खाली...। वह (ऊपरकी ओर और विस्तारमें इशारा), वह रहा... हां, यह एक सुनहरा बृहत् है।

जी।

(मौन)

मुझे एक अजीब-सी प्रतीति होती है कि यह एक प्रकारकी... मानों परतें या पेड़ोंकी छाल, कछुएके खपड़े पिघल रहे हैं और स्वयं शरीर ऐसा नहीं है (माताजी ऐसा संकेत करती हैं मानों शरीर सूर्यकी ओर उफन रहा हो)। जो चीज मनुष्यको द्रव्य मालूम होती है वह... मानों वह कोई पथरायी हुई चीज है और उसे झड़ जाना चाहिये, क्योंकि वह ग्रहण नहीं करती। और इस शरीरमें, यहां (माताजी अपने हाथकी त्वचाको छूती हैं), यह कोशिश करता है... कोशिश करता है... (फिरसे खुलनेकी मुद्रा)। ओह! यह अजीब है, यह अजीब संवेदन है।

अगर इसे काफी समयतक बनाये रखा जा सके जिससे चीज पिघल जाय, तो यह सच्चा आरंभ होगा।

२९ सितंबर, १९७१

विजय-दशमी

आज वह स्पष्ट, बहुत स्पष्ट था, एक जोरका 'दबाव' था यह कहनेके लिये : 'विजय' सामंजस्य है; 'विजय' भगवान् है; और शरीरके लिये 'विजय' अच्छा स्वास्थ्य है। हर एक, हर एक बीमारी, सभी रोग मिथ्यात्व हैं। वह अनुभूति आज सवेरे आयी। वह बहुत **स्पष्ट** थी। वह विश्वासोत्पादक थी।

तो यह ठीक है।

बात ऐसी है मानों 'दबाव' के कारण सारा 'मिथ्यात्व' निकल आया है। परिस्थितियोंमें, चीजोंमें और लोगोंमें — एकदम अप्रत्याशित चीजें आ रही हैं। यह सचमुच... कोई कल्पना इसकी बराबरी नहीं कर सकती। यह अविश्वसनीय है।

लेकिन यह एक अच्छी निशानी है, न?

हां, हां, जरूर...। यह तो ऐसा है मानों अंदर जहर था, है न? जो दबानेसे बाहर निकल आया है और अब जानेको है — वह बाहर निकल रहा है! ...

बादमें, इसके बारेमें बात की जा सकेगी। यह सचमुच मजेदार

है, सचमुच। हां, यह एक अच्छा चिह्न है, यह बहुत अच्छा चिह्न है।

जी, इसका मतलब यह हुआ कि वे सब शक्तियां जो हजारों वर्षोंसे नीचे छिपी...

हां।

... वे अपना सहारा खो बैठी हैं।

हां, ऐसी ही बात है। ऐसी ही।

देखेंगे। अभी इस विषयमें बात नहीं की जा सकती। बादमें। अविश्वसनीय, वत्स !

लेकिन एक 'शक्ति'! 'शक्ति'! ओह! (माताजी आंखें बंद कर लेती और मुस्कराती हैं)।

१६ अक्तूबर, १९७१

भौतिक पीड़ापर कैसे अधिकार किया जाय?

मैं अभी ठीक यही अनुभूतियां प्राप्त कर रही हूं।

शरीर ऐसी अवस्थामें है जिसमें वह देखता है कि सब कुछ केवल इस-पर निर्भर है कि वह भगवान्‌के साथ किस तरह जुड़ा हुआ है—यानी, ग्रहणशील समर्पणपर निर्भर है। अभी पिछले दिनों भी यह अनुभव हुआ है। ठीक वही चीज जो — असुविधासे बढ़कर — एक पीड़ा और प्रायः असह्य रोगका कारण होती है, वही भगवान्‌से प्रति शरीरकी ग्रहणशीलतामें जरा-सा परिवर्तन होते ही एकदम गायब हो जाती है— इतना ही नहीं, आनंदमय अवस्थाकी ओर जा सकती है। मुझे इसका अनुभव कई बार हुआ है। मेरे लिये यह केवल उस सचाईका प्रश्न है जो तीव्र होने लगी है— चेतनामें यह बात कि हर चीज भगवान्‌की क्रिया है और उनकी क्रिया, परिस्थितियां मिलें तो, अधिक-से-अधिक संभव तेज उपलब्धिकी ओर जाती है।

मैं कह सकती हूं : शरीरके कोषाणुओंको केवल भगवान्में ही आश्रय ढूंढना सीखना चाहिये — उस क्षणतक जबतक वे यह अनुभव न कर सकें कि वे भगवान्की ही अभिव्यक्ति हैं।

वास्तवमें, यही वर्तमानकी अनुभूति है। वस्तुओंके प्रभावको बदलनेकी अनुभूति मुझे है; लेकिन उसे मानसिक रूप नहीं दिया गया है, अतः मैं उसे शब्दोंमें नहीं कह सकती। लेकिन सचमुच कोषाणुओंने अनुभव करना शुरू कर दिया है : सबसे पहले यह कि वे पूरी तरह भगवान्से शासित हैं (इसका अनुवाद होता — है : जो तू चाहे, जो तू चाहे. . .), यह स्थिति, और फिर एक प्रकारकी ग्रहणशीलता जो (कैसे कहा जाय ?) निष्क्रिय — निश्चल नहीं — है। यह. . . संभवतः, हम कह सकते हैं, एक **निष्क्रिय** ग्रहण-शीलता है (माताजी मुस्कानके साथ अपने हाथ खोलती हैं), लेकिन पता नहीं कैसे समझाया जाय।

सभी शब्द मिथ्या हैं, लेकिन हम कह सकते हैं : केवल 'तू' ही है — हां, कोषाणुओंको लगता है : केवल 'तू' ही है। हां, ऐसा ही है। लेकिन यह सब ऐसा है मानों चीज कठोर बन गयी — शब्द अनुभूतिको कठोर बना देते हैं। एक प्रकारकी नमनीयता या लचीलापन है (विश्वासपूर्ण, बहुत विश्वासपूर्ण लचीलापन) : जो 'तेरी' इच्छा, जो 'तेरी' इच्छा . . .

(मौन)

यह अमुक प्रकारकी वृत्तिमें (लेकिन इसे समझाना या इसकी व्याख्या करना कठिन है), अमुक प्रकारकी वृत्तिमें सब कुछ भगवान् बन जाता है। और तब विस्मयकारी बात तो यह है कि जब तुम्हें हर चीजके दिव्य होने-की अनुभूति हो तो सभी विपरीत चीजें (यह चीजोंपर निर्भर है) : तेजीसे या धीरे-धीरे, तुरंत या जरा-जरा करके, बिलकुल स्वाभाविक रूपमें गायब हो जाती हैं।

यह वास्तवमें अद्भुत है। यानी, इस बातसे सचेतन होना कि सब कुछ भगवान् है, सब कुछको भगवान् बना देनेका सबसे अच्छा तरीका है — यह समस्त विरोधोंको समाप्त कर देता है।

३० अक्तूबर, १९७१

मुझे ऐसा लगता है कि मुझे जगत्‌के 'क्यों'का पता है।

प्रश्न था चेतनाकी ऐसी स्थिति प्राप्त करनेका जिसमें एक साथ व्यक्तिगत चेतना — व्यक्तिगत चेतना जो स्वभावतः हमें प्राप्त है — तथा समग्रकी चेतना, चेतना (कैसे कहा जाय?) . . . जिसे हम सार्वभौम चेतना कह सकते हैं, दोनों एक साथ हों। लेकिन दोनों चेतनाएं किसी चीजमें जा मिलती हैं . . . हमें उसे खोजना है।

एक ऐसी चेतना जो एक ही समयमें व्यक्तिगत और समग्र हो। और यह समस्त श्रम दोनों चेतनाओंको एक चेतनामें मिलानेके लिये है जो **एक ही साथ** दोनों हो। और यही अगली सिद्धि है।

(मौन)

हमें ऐसा लगता है कि इसमें समय लगता है (हमारे लिये यह समयमें अनूदित होता है), मानों, यह किया जा रहा है, मानों, "कुछ किया जा रहा है," मानों, "कुछ करनेके लिये है।" परंतु हम इस भ्रममें हैं, क्योंकि हम अभीतक . . . अभीतक उस पार नहीं गये हैं।

लेकिन वैयक्तिक चेतना मिथ्यात्व बिलकुल नहीं है, उसे समग्रकी चेतनाके साथ इस तरह जुड़ना चाहिये कि उससे एक और चेतना बन जाय जो हमें प्राप्त नहीं है, जो अभीतक हमारे पास नहीं है। यह नहीं कि यह दूसरी चेतनाको रद्द कर दे, समझे? उनमें एक समायोजन होना चाहिये, एक नया पक्ष होना चाहिये, पता नहीं . . . जिसमें दोनों एक साथ अभिव्यक्त हों।

उदाहरणके लिये, इस समय सृष्टिकी उस शक्तिके बारेमें एक अनुभवोंकी पूरी श्रृंखला है जो व्यक्तिगत चेतनामें छिपी रहती है, यानी, यह है चीजोंको जाननेकी शक्ति — जाननेकी या जिसे हम संकल्प करनेकी शक्ति कहते हैं — यह उनके रूप लेनेसे पहले व्यक्तिगत चेतनामें रहती है। हम कहते हैं: "हम यह चाहते हैं", पर यह एक मध्यवर्ती चेतना है। यह ऐसी चेतना है जो एक ऐसी चीजकी ओर जाती है जो एक साथ, जो होना चाहिये उसका अंतर्दर्शन, और उसे चरितार्थ करनेकी शक्ति है।

यह अगला कदम है। फिर . . .

तो हमारे लिये, यानी, व्यक्तिगत चेतनाके लिये वह चीज समयमें अनूदित होती है, पता नहीं कैसे कहा जाय... के लिये आवश्यक समय ... ।

मुझे ऐसा लगता है: तुम यह नहीं हो, तुम अभी वह भी नहीं हो, तुम्हें वह बननेके लिये इसे न छोड़ना चाहिये — दोनोंको एक होकर कुछ नयी चीज बनना चाहिये।

और इससे सब कुछ स्पष्ट हो जाता है — सब कुछ, सब कुछ, सब कुछ। और इससे कोई चीज रद्द नहीं होती।

हम जिस किसी चीजकी कल्पना कर सकते हैं उससे यह सैकड़ों गुना अधिक अद्‌भुत है।

प्रश्न यह है कि क्या (शरीर) अनुसरण कर सकेगा...। अनुसरण करनेके लिये उसे केवल सहन करना ही नहीं, बल्कि एक नया रूप, एक नया जीवन प्राप्त करना होगा। वह, मुझे नहीं मालूम। बहरहाल, इसका बहुत महत्त्व नहीं है — चेतना स्वच्छ है और चेतना इसके (शरीरकी ओर इशारा) अधीन नहीं है। अगर इसका उपयोग किया जा सके तो बहुत अच्छा, अन्यथा...। अभी जानने लायक और भी चीजें हैं।

हां, खोजनेके लिये और भी चीजें हैं। पुराना ढर्रा खतम हो गया, खतम।

जिस चीजकी खोज करनी है वह जड़ पदार्थकी नमनीयता है — कि पदार्थ हमेशा प्रगति कर सके। तो यह रहा।

इसमें कितना समय लगेगा? मुझे पता नहीं। कितने अनुभवोंकी जरूरत है? मुझे पता नहीं, पर अब रास्ता साफ है।

रास्ता साफ है।

१७ नवंबर, १९७१

बड़ी अजीब बात है, चीजोंकी सारी दृष्टि बदल गयी है...। और भूली जा चुकी है।

इतनी पूरी तरह बदल चुकी है...

लेकिन दृष्टिके इस परिवर्तनमें किस चीजका फर्क है?

(काफी देरतक मुस्कराते हुए मौन) यह ऐसा है मानों वस्तुओंके बारेमें चेतना अब उसी स्थानपर नहीं है — पता नहीं कैसे कहा जाय, अतः वे बिलकुल भिन्न प्रतीत होती हैं।

(मौन)

पता नहीं, कैसे समझाया जाय? ... सामान्य मानव चेतनामें, जब उसमें अधिक-से-अधिक विस्तृत विचार होते हैं तब भी, वह चेतना केंद्रमें होती है और चीजें इस तरह होती हैं (मकड़ीके जालकी तरह सभी ओरसे केंद्र-की ओर अभिमुख)। चीजोंका अस्तित्व होता है (हम जो कुछ कहें वह उसे संकीर्ण कर देता है), वे एक केंद्रके साथ संबंध रखते हुए अस्तित्व रखती हैं जब कि ... (माताजी बहुत-से बिखरे हुए केंद्रोंकी ओर संकेत करती हैं)। मेरा ख्याल है कि इसे अच्छी-से-अच्छी तरह यों अभिव्यक्त किया जा सकता है: सामान्य मानव चेतनामें (मकड़ीके जालका वही संकेत) मनुष्य एक बिंदुपर रहता है और सभी चीजें चेतनाके इस बिंदुके साथ संबद्ध रहती हैं। अब, बिंदुका अस्तित्व नहीं रहा, अतः वस्तुएं अपने-आप-में अस्तित्व रखती हैं।

कहनेके लिये यह सबसे अधिक यथार्थ चीज है। यह वह नहीं है, पर ...

तो, मेरी चेतना वस्तुओंमें है — वह कोई "ऐसी वस्तु" नहीं है जो ग्रहण करती हो, यह उससे बहुत अच्छी है, पर मैं नहीं जानती उसे कैसे कहा जाय।

यह उससे ज्यादा अच्छी है, क्योंकि यह केवल "वस्तुओं" में ही नहीं है, वह उस "कुछ चीज" में भी है जो वस्तुओंमें है जो ... उन्हें गति देती है।

मैं उसे शब्दोंमें कह सकती हूं। मैं कह सकती हूं: वह अब अन्य सत्ताओंके बीच एक सत्ता नहीं है, वह ..., मैं कह सकती हूं: "वह सभी चीजोंमें भगवान् है।" लेकिन मुझे वैसा नहीं अनुभव होता ... "जो चीजोंको गति देता है या जो चीजोंमें सचेतन है।"

स्पष्ट है कि यह चेतनाका प्रश्न है, लेकिन उस चेतनाका नहीं जो साधारण मनुष्योंमें है। चेतनाका गुण बदल गया है।

१८ दिसंबर, १९७१

मैंने श्रीअरविंदकी लिखी हुई कुछ चीज सुनी है जिसमें वे कहते हैं कि अतिमानसके धरतीपर अभिव्यक्त होनेके लिये भौतिक मनको उसे ग्रहण करना और अभिव्यक्त करना होगा — और अब केवल भौतिक मन, यानी, शरीरका मन ही मेरे अंदर बच गया है। और तब, कारण स्पष्ट हो जाता है कि इसीलिये केवल यही भाग रह गया है। वह बहुत तेजीके साथ और बड़े मजेदार तरीकेसे परिवर्तित हो रहा है। यह भौतिक मन अतिमनके प्रभावके अधीन विकसित हो रहा है। श्रीअरविंदने ठीक यही बात लिखी है कि अतिमनके स्थायी रूपमें धरतीपर प्रकट होनेके लिये यह अनिवार्य है।

तो यह भली-भांति चल रहा है . . . लेकिन यह सरल नहीं है (माताजी हंसती हैं)।

> **जी हां, यही समस्या है जिसे मैंने अपने आगे रखा था, क्योंकि मैंने एक बात देखी है कि यह रूपांतर तबतक संभव नहीं है जबतक चेतनाकी स्थितिमें कोई आमूल परिवर्तन न हो या दृष्टिका परिवर्तन न हो . . .।**

हां।

> **जबतक कि मनुष्य वस्तुओं और सत्ताओंको किसी और तरहसे न देखे।**

हां, हां।

> **लेकिन तब मैं अपने-आपसे पूछता हूं कि यह कैसे संभव है?**

यह इस तरह संभव है।

> **लेकिन यह कोई बहुत ही मौलिक चीज होनी चाहिये।**

लेकिन, वत्स, यह मौलिक है। यह कल्पना मत करो कि यह . . . मैं

सचमुच कह सकती हूं कि मैं एक और ही व्यक्ति बन गयी हूं। केवल यह (माताजी शरीरके बाहरी रूपको छूती हैं) वही रह गया है जो पहले था . . . । यह किस हदतक बदल सकेगा? श्रीअरविंदने कहा है कि अगर भौतिक मन रूपांतरित हो जाय तो **स्वभावतः** शरीरका रूपांतर हो जायगा। देखें।

लेकिन क्या आप मुझे इस मौलिक परिवर्तनकी चाबी या उत्तोलक दे सकती हैं?

आह! मुझे नहीं मालूम, क्योंकि मेरे लिये, हर चीज बस, मुझसे ले ली गयी है — मन पूरी तरह जा चुका है। अगर तुम बाहरी रूपमें देखो तो मैं मूढ़ बन गयी थी, मैं कुछ भी न जानती थी। और यह भौतिक मन थोड़ा-थोड़ा करके उत्तरोत्तर अंतःप्रकाशोंके द्वारा विकसित हुआ। अपने बारेमें मैं नहीं जानती, मेरे लिये काम कर दिया गया है — मैंने कुछ भी नहीं किया। यह बिलकुल मौलिक रूपमें कर दिया गया।

यह किया जा सका क्योंकि मैं अपने चैत्य पुरुषके बारेमें (उस चैत्यके बारेमें जिसे समस्त जीवनोंमें रूपायित किया गया है) **बहुत** सचेतन थी। मैं बहुत सचेतन थी और वह बना रहा; यह बना रहा और उसने बिना किसी बाहरी अंतरके मुझे लोगोंके साथ व्यवहार करने दिया। यह इस चैत्य उपस्थितिके कारण हुआ। इसीलिये बाहरी तौरपर इतना कम परिवर्तन हुआ है। इसलिये मैं उतना ही कह सकती हूं जितना मैं जानती हूं और मैं कहती हूं: चैत्य पुरुषको समस्त सत्ताके ऊपर शासन करते हुए रहना चाहिये — समस्त शारीरिक सत्ता — और जीवनका पथ-प्रदर्शन करना चाहिये; तब मनोमय पुरुषको अपने-आपको रूपांतरित करनेका अवसर मिलेगा। मेरा अपना मन तो बस यहांसे भेज दिया गया है।

हां तो, अब शारीरिक मनका रूपांतर अनिवार्य हो गया क्योंकि मेरे अंदर वही था, उससे अधिक कुछ नहीं, समझे? . . . बहुत कम लोग इस स्थितिको स्वीकार करेंगे। (हंसते हुए) मेरे लिये तो यह मेरी राय पूछे बिना ही कर दिया गया! कार्य बहुत आसान था।

ठीक यही चीज हुई है।

मैं कोई मूलभूत परिवर्तन चाहता हूं . . . ।

(माताजी हंसती हैं) क्या तुम वह स्वीकार करोगे जो मेरे साथ हुआ है, यानी, व्यक्ति अपने-आपको पूरी तरहसे जड़-मति अनुभव करे?

मैं तैयार हूं।

क्या वह तुम्हें निराश न कर देगा?

जी नहीं, नहीं — बिलकुल नहीं।

हां, तो यह एक ऐसी चीज है जो अपने-आपको स्थायी रूपसे प्रतिष्ठित कर लेती है: वह है व्यक्तिकी शून्यता — उसकी पूरी-पूरी शून्यता, अक्षमता। तब तुम . . . आरामसे रहते हो, तुम बिलकुल स्वाभाविक रूपसे बच्चे जैसे हो जाते हो; तुम भगवान्‌से कहते हो: "मेरे लिये सब कुछ कर दो" (मुझे और कुछ नहीं करना, मैं और कुछ नहीं कर सकता!), तब सब कुछ तुरंत ठीक हो जाता है — तुरंत।

हां, शरीरने अपने-आपको पूरी तरह दे दिया है, उसने भगवान्‌से यहां-तक कहा: "मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि यदि मुझे मरना हो तो मैं विघटनके लिये संकल्प करूं," ताकि यदि शरीरका मरना जरूरी हो तो **वहांपर भी** मैं प्रतिरोध न करूं — बल्कि विघटनके लिये संकल्प करूं। उसकी यही वृत्ति है, यह इसी तरह था (खुले हाथोंकी मुद्रा)। और उसकी जगह एक प्रकारका . . . (मैं उसे शब्दोंमें अनूदित कर सकती हूं, पर वे शब्द न थे): "अगर तुम रोग और पीड़ा स्वीकार करो तो रूपांतर विघटनसे अधिक अच्छा है।" इसलिये जब रोग आता है तो वह स्वीकार कर लेता है।

यह वह नहीं है, मैं जो कहती हूं . . .। यह सचमुच वह नहीं है, लेकिन इसे समझाना कठिन है। वास्तवमें, यह एक नयी वृत्ति और नया संवेदन है। मैं कह नहीं पाती।

और स्पष्टतः यह हर एकके लिये अलग होगा . . .। मेरे लिये बहुत ही उग्र था — मेरे लिये कोई चुनाव न था, समझे: यह ऐसा ही था, ऐसा ही था यह। लो, बस।

लेकिन वास्तवमें यह जरूरी है . . . जिस चीजने इसे सरल बना दिया वह यह है कि चैत्य चेतना पूरी तरह आगे थी और वही जीवनपर शासन करती थी। इसलिये वह बिना अस्तव्यस्त हुए चुपचाप चलता रहा।

देखने और सुननेके बारेमें मुझे पता लगा कि यह भौतिक ह्रास न था, वह केवल इतना था: अगर लोग बोलते समय स्पष्टताके साथ सोच रहे हों तो मैं उनकी बात समझ लेती हूं। मैं केवल वही देखती हूं जो . . . आंतरिक जीवनको अभिव्यक्त करे, अन्यथा . . . वह धुंधला-सा या परदेके

पीछे-सा दीखता है; और यह बात नहीं है कि आंखें नहीं देखतीं, यह "कुछ और चीज" है, यह कोई और ही चीज है — सब कुछ नया है।

(मौन)

यह सच है कि शरीरमें **बहुत** सद्भावना होनी चाहिये — मेरे शरीरमें सद्भावना है। और यह मानसिक सद्भावना नहीं है, यह सचमुच शारीरिक सद्भावना है। वह स्वीकार कर लेता है, वह सब प्रकारकी असुविधाएं स्वीकार कर लेता है...। लेकिन महत्त्वपूर्ण चीज है वृत्ति, परिणाम नहीं (मुझे विश्वास है कि ये असुविधाएं अनिवार्य नहीं हैं), महत्त्व है वृत्तिका। हां, वह ऐसी होनी चाहिये (खुले हाथोंकी मुद्रा)। वास्तवमें मैंने देखा है कि अधिकतर उदाहरणोंमें भगवान्‌के प्रति समर्पणमें भगवान्‌के प्रति विश्वास जरूरी तौरपर नहीं आता — तुम भगवान्‌के प्रति समर्पण करते हो, तुम कहते हो: "तुम भले मुझे कष्ट दो, मैं अपने-आपको समर्पित करता हूं।" लेकिन यह विश्वासका एकदम अभाव है! हां, वास्तवमें यह बड़ी मजेदार बात है, समर्पणमें ही विश्वास **नहीं** आ जाता; विश्वास कुछ और ही चीज है। वह एक प्रकारका... ज्ञान है — एक "अटल" ज्ञान जिसे कोई चीज नहीं हिला सकती — कि जो चीज... भागवत चेतनामें पूर्ण 'शांति' है उसे स्वयं **हम** कठिनाई, पीड़ा और दैन्यमें बदल देते हैं। हम यह छोटा-सा रूपांतर ले आते हैं।

और असाधारण उदाहरण आये हैं...। उन्हें समझानेके लिये घंटों लग जायंगे।

वास्तवमें, चेतनाका परिवर्तन होना चाहिये — यहांतक कि कोषाणुओंकी चेतना भी, समझे? ... यह है आमूल परिवर्तन।

उसे अभिव्यक्त करनेके लिये हमारे पास शब्द नहीं हैं क्योंकि धरतीपर उसका अस्तित्व नहीं है। वह छिपा हुआ तो है, पर प्रकट नहीं। सभी शब्द... दूर रह जाते हैं, वह बिलकुल वही नहीं है।

(मौन)

तुम चाहो तो कह सकते हो कि हर मिनट ऐसा लगता है कि हम जी भी सकते हैं और मर भी सकते हैं (जरा इधर-उधर झुकनेका संकेत), या फिर अमर जीवन हो सकता है। हर क्षण ऐसा ही होता है और (दोनों तरफोंमें) इतना कम फर्क है कि उसे देख पाना मुश्किल है। यह

नहीं कहा जा सकता : यह करो तो इस तरफ हो जाओगे या वह करो तो उस तरफ हो जाओगे — यह संभव नहीं है। होनेका यह कुछ ऐसा तरीका है जो लगभग वर्णनातीत है।[१]

२२ दिसंबर, १९७१

श्रीअरविंदका एक पत्र मुझे पढ़कर सुनाया गया है जिसमें वे कहते हैं कि अतिमनके यहां प्रतिष्ठित होनेके लिये (उन्होंने देखा था कि अतिमन उनके अंदर आया और फिर वापिस चला गया, वह फिरसे आया और फिर वापिस चला गया — वह स्थायी न था), और उन्होंने कहा कि उसके यहां स्थायी रूपसे प्रतिष्ठित होनेके लिये उसे भौतिक मनमें प्रविष्ट होना और वहीं बस जाना चाहिये।[२] मेरे अंदर महीनोंसे यही कार्य हो रहा है : मनको खींच लिया गया है और भौतिक मनने उसका स्थान लिया है और मैंने अभी कुछ समय पहले देखा है कि यह . . . (मैं तुमसे कह

---

[१] इस बातचीतके प्रकाशनके समय माताजीने १५ जनवरी, १९७२ को यह और जोड़ दिया :

यह अनुभूति अधिकाधिक स्थायी होती जा रही है — एक बार यह और दूसरी बार वह। यह बहुत तीव्र हो गयी है और साथ ही यह ज्ञान (माताजी तर्जनी दिखाती हैं) : "यही 'विजय' प्राप्त करनेका समय है।" यह चैत्यसे और उसके द्वारा और ऊपरसे आता है . . . "डटे रहो, 'विजय' प्राप्त करनेका यही समय है।"

[२] हमें ठीक पता नहीं कि माताजी किस पत्रकी बात कह रही हैं, शायद वह इस प्रकारका कोई पत्र होगा :

"शरीरका एक धुंधला मन भी है, स्वयं कोषाणुओं, कणिकाओं और अणुओंका मन। जर्मन जड़वादी हेगलने कहीं परमाणुकी इच्छाकी बात कही है और आधुनिक विज्ञान विद्युदणुओंकी अनगिनत क्रियाओंका अध्ययन करते हुए इस हदतक आ चुका है कि यह कोई अलंकार नहीं है, बल्कि एक गुप्त सद्वस्तुद्वारा फेंकी गयी एक छाया है। यह शरीर-मन बहुत गोचर सत्य है; वह अपने धुंधलेपन, भूतकालीन क्रियाओंके साथ यांत्रिक रूपसे

रही थी कि वह हर एक चीजको एक और ही तरहसे देख रहा है और चीजोंके साथ उसका संबंध भिन्न है), मैंने देखा है कि यह भौतिक मन, वह मन, जो शरीरमें है, ज्यादा विस्तृत हो गया है, वह चीजोंके बारेमें सार्वभौम दृष्टि रखता है और उसके देखनेका पूरा तरीका ही एकदम अलग है। मैंने उसे देखा, यह वही है : वहां अतिमन कार्यरत है। मैं असाधारण घड़ियोंमेंसे गुजर रही हूं।

अब जो हो रहा है उसमें केवल वस्तुएं प्रतिरोध करती हैं — ऐसा लगता है (मैं तुम्हें पहले बतला चुकी हूं), मानों हर क्षण (और यह चीज हर क्षण ज्यादा-ज्यादा जोर पकड़ रही है), हर क्षण : क्या तुम्हें जीवन चाहिये, क्या तुम्हें मरण चाहिये; क्या तुम्हें जीवन चाहिये, क्या तुम्हें मरण चाहिये . . . और ऐसा ही होता है। और तब जीवन, यानी, परम प्रभुके साथ ऐक्य और चेतना, एक **एकदम** नयी चेतना आती है। और इस तरफ या उस तरफ (माताजी इस तरफ, उस तरफ झुकती हैं), लेकिन कल या परसों, पता नहीं, अचानक शरीरने कहा : नहीं ! यह खतम — मुझे जीवन चाहिये, मुझे और कुछ नहीं चाहिये। और तबसे चीजें ज्यादा अच्छी होती जा रही हैं।

जो हो रहा है उसका उल्लेख करनेके लिये पोथियोंकी जरूरत होगी . . .। यह असाधारण रूपसे मजेदार और **एकदम** नया है। एकदम नया।

(माताजी अपने अंदर चली जाती हैं)

भौतिक मृत्युके कारण अवचेतना पराजयवादी है। हां, अवचेतनाको लगता है कि चाहे कैसी भी प्रगति क्यों न कर ली हो, चाहे कैसा भी प्रयास क्यों न हो, सबका अंत हमेशा यही होगा, क्योंकि आजतक हमेशा, इसी तरह अंत होता आया है। तो अब जो काम किया जा रहा है वह है अवचेतनामें श्रद्धाको, रूपांतरकी निश्चितिको प्रविष्ट कराना। और यह . . . . क्षण-क्षणका संघर्ष है।

चिपके रहने, सरल विस्मृति और नूतनको अस्वीकार करनेके कारण अति-मनकी 'शक्ति' के प्रवेश और शरीरके क्रिया-कलापके रूपांतरमें मुख्य बाधकों-मेंसे एक है। इसके विपरीत एक बार यह सफल रूपसे बदल जाय तो वह 'भौतिक प्रकृति' में अतिमानसिक 'ज्योति' के स्थायीकरणके लिये सबसे अधिक मूल्यवान् यंत्रोंमेंसे एक होगा।"

(श्रीअरविंदके पत्र, भाग १)

२५ दिसंबर, १९७१

आज 'ज्योति' पर्व है — बड़ा दिन, 'ज्योति' के लौटनेका पर्व है...। यह ईसाइयतसे बहुत पुराना है!

और अगले शनिवारको पहली जनवरी है।

मैं आशा करता हूं १९७२ ज्यादा अच्छा रहेगा!

(माताजी सिर हिलाती हैं) मुझे अधिकाधिक विश्वास होता जा रहा है कि हम चीजोंको इस तरह लेते हैं और उनके प्रति इस तरह प्रतिक्रिया करते हैं जिससे कठिनाइयां **पैदा होती हैं** — मुझे इसके बारेमें अधिकाधिक विश्वास होता जा रहा है। क्योंकि मुझे भौतिक और दैहिक रूपसे ऐसे अनुभव हैं जो रुचिकर नहीं हैं, और फिर, हर चीज इस हिसाबसे बदलती है कि हम उसकी ओर ध्यान देते हैं या नहीं, इस प्रकारकी वृत्तिके अनुसार (अपनी ही ओर मुड़े हुए होनेकी मुद्रा), जिसमें व्यक्ति बस अपने-आपको ही जीवित देखता है या (विस्तारकी मुद्रा) सभी चीजोंमें, सभी गतियोंमें, जीवनमें एक ऐसी वृत्ति अपनाता है जिसमें केवल भगवान्‌को महत्त्व दिया जाता है; अगर सारे समय यह रह सके तो कोई कठिनाई नहीं होती — चीजें वही रहती हैं। यह अनुभूति है: चीज अपने-आपमें एक खास प्रकारकी है, लेकिन उसके बारेमें हमारी प्रतिक्रिया भिन्न होती है। अनुभूति इस बातको अधिकाधिक प्रमाणित करती है। तीन श्रेणियां हैं: चीजोंके बारेमें हमारी वृत्ति, चीजें अपने-आपमें (यही दो चीजें हमेशा कठिनाइयां लाती हैं), और एक तीसरी श्रेणी है जिसमें हर चीज, हर एक चीजका अस्तित्व भगवान्‌के साथ संबंधमें है, भगवान्‌की चेतनामें है — सब कुछ अद्‌भुत रूपसे चलता है! सरलतासे! और मैं द्रव्यात्मक वस्तुओंकी बात कर रही हूं, द्रव्यात्मक भौतिक जीवनकी बात (नैतिक दृष्टिसे तो बहुत जमानेसे यह बात मालूम थी कि चीज ऐसी है), लेकिन दैहिक चीजें, यानी, शरीरकी छोटी-मोटी असुविधाएं, उसकी प्रतिक्रियाएं, पीड़ाका होना या न होना, परिस्थितियोंका बिगड़ जाना, निगल न पाना, ऐसी नगण्य चीजें जिनकी ओर यौवनमें, शरीरके स्वस्थ और मजबूत होते समय कोई ध्यान नहीं दिया जाता, सभीके लिये यही बात है, कोई ध्यान नहीं देता; लेकिन जब तुम अपने शरीरकी ही चेतनामें रहो, इसीके बारेमें सचेतन रहो कि उसे क्या होता है, वह उसे किस तरह लेता है, क्या

परिणाम आता है, आदि — ऊफ ! क्या दुर्दशा होती है ! अगर तुम दूसरोंकी चेतनामें रहो, वे क्या चाहते हैं, उनके लिये किस चीजकी जरूरत है और उनका तुम्हारे साथ कैसा संबंध है — तो यह दुर्दशा है ! लेकिन अगर तुम भागवत सत्तामें रहो, अगर भगवान् सब कुछ करते, सब देखते हैं, सब कुछ हैं... तो 'शांति' — तब 'शांति' रहती है — समयकी अवधि नहीं रहती, हर चीज सरल होती है और... ऐसा भी नहीं कि तुम्हें आनंदका अनुभव होता है या तुम्हें कोई अनुभव होता है...। ऐसी बात नहीं है। वहां साक्षात् भगवान् हैं और यही **एकमात्र** समाधान है। और संसार उसीकी ओर बढ़ रहा है : भगवान्की चेतनाकी ओर — उन्हीं भगवान्की ओर जो करते हैं, भगवान् जो हैं, वही भगवान् जो...। तब वह-की-वही परिस्थितियां (मैं अलग-अलग परिस्थितियोंकी बात नहीं कह रही), वह-की-वही परिस्थितियां (यह मेरा इन दिनोंका अनुभव है, बहुत ठोस !) परसों मैं काफी अस्वस्थ थी और कल परिस्थितियां वही थीं, मेरा शरीर उसी अवस्थामें था, सब कुछ वही था... और सब कुछ शांत था।

उसके बारेमें मैं बिलकुल निश्चित हूं।

इससे सब कुछ स्पष्ट हो जाता है। इससे सब कुछ स्पष्ट हो जाता है, हर चीज, हर एक चीज।

संसार वही है — उसे एकदम विपरीत तरीकेसे देखा और अनुभव किया जाता है। सब कुछ चेतनाकी एक घटना है — हर चीज। केवल यह चेतना नहीं, न यह, न वह, यह वह नहीं है। यह है हमारा सचेतन होनेका मानवीय तरीका या सचेतन होनेका भागवत तरीका। तो बात यूं है। सारी बात यही है और मुझे पूरा विश्वास है।

(मौन)

अंततः, संसार वही है जो उसे हर क्षण होना चाहिये।

हां।

हम उसे गलत तरीकेसे देखते हैं, गलत तरीकेसे अनुभव करते हैं, गलत तरीकेसे ग्रहण करते हैं।

जैसे मृत्यु, है न ? यह एक संक्रमणकालकी घटना है और हमें लगता है कि यह हमेशासे चली आ रही है (हमारे लिये यह हमेशा ऐसी ही रही

है, क्योंकि हमारी चेतना ऐसी है) (माताजी हवामें एक छोटा-सा चतुष्कोण बनाती हैं), लेकिन जब तुम्हारे अंदर यह भागवत चेतना हो तो, ओह! ... चीजें मानों तात्कालिक हो जाती हैं, समझे। मैं इसे समझा नहीं सकती।

एक गति **है**, एक प्रगति **है**, फिर वह चीज **है** जो हमारे लिये समयका रूप लेती है, उसका अस्तित्व है, वह कुछ **है** ... वह चेतनाके अंदर कुछ है ...। कहना कठिन है ...। यह एक चित्र और उसके प्रक्षेपणकी नाईं है। यह कुछ-कुछ ऐसा है। सभी चीजें **हैं** और हम मानों उन्हें परदेपर प्रक्षिप्त होते हुए देखते हैं। वे एकके बाद एक आती हैं। यह कुछ-कुछ ऐसा है।

जी हां, श्रीअरविंदने कहा है कि अतिमानस-चेतनामें भूत, भविष्य और वर्तमान एक साथ रहते हैं मानों चेतनाके एक नक्शेपर हों।[1]

हां, ऐसा है, ऐसा है। परंतु मेरे लिये **यह** एक अनुभूति है। यह कोई ऐसी बात नहीं है जिसे मैं "सोचती हूं" (मैं सोचती ही नहीं), यह एक अनुभूति है और इसे समझाना मुश्किल है।

और यह चीज हमारे ऊपर जो प्रभाव पैदा करती है, वह जो संवेदन लाती है वह ऐकांतिक रूपसे हमारी चेतनाकी वृत्ति और स्वयं अपने अंदर होनेकी चेतना या हर चीजमें होनेकी चेतनापर निर्भर है (हर चीजमें होना अहंकारमय रूपसे अपने अंदर होनेसे ज्यादा अच्छा है, लेकिन उसके लाभ हैं, उसकी असुविधाएं हैं और यह परम सत्य नहीं है), परम सत्य है ... भगवान् ही समग्रता है — देशमें समग्रता और कालमें समग्रता। और यह एक ऐसी चेतना है जिसे शरीर **पा सकता है**, क्योंकि यह शरीर

---

[1] "... जब कि तर्क-बुद्धि कालके एक क्षणसे दूसरे क्षणकी ओर बढ़ती है, खोती और प्राप्त करती और फिरसे खोती और फिर प्राप्त करती है, वहां विज्ञान कालको एक ही दृष्टि और शाश्वत शक्तिमें अधिगत कर लेता है; और भूत, वर्तमान और भविष्यको उनके अविभाज्य संबंधोंद्वारा ज्ञानके एक ही अविच्छिन्न मानचित्रमें एक-दूसरेको पास-पास रखकर जोड़ देता है। विज्ञान समग्र सत्तासे आरंभ करता है, जो पहले ही उसके अधिकारमें है; वह भागों, समूहों और ब्योरोंको केवल समग्रके संबंधमें और एक ही साक्षात्कारमें एक साथ देखता है। ..."

('योग-समन्वय')

पा चुका है (क्षणिक रूपमें, कुछ क्षणोंके लिये), और जबतक उसके पास वह हो, सब चीजें इतनी ...। वह आनंद नहीं है, वह सुख नहीं है, वह प्रसन्नता नहीं है, वह ऐसी कोई चीज नहीं है ... एक प्रकारकी आनंदपूर्ण शांति ... और ज्योतिर्मय ... और सर्जनात्मक ! वह भव्य है, बस, वह आती है, चली जाती है, आती है, चली जाती है ...। और जब तुम उसमेंसे बाहर निकलो तो तुम्हें ऐसा लगता है कि तुम किसी भयंकर, वीभत्स छिद्रमें जा गिरे हो — हां, छिद्रमें, हमारी साधारण चेतना (मेरा मतलब है, साधारण मानव चेतना) एक भयंकर छिद्र है। लेकिन तुम यह भी जानते हो कि यह क्षणिक रूपसे ऐसी क्यों है, यानी, एकमेंसे दूसरेमें प्रवेश करनेके लिये यह आवश्यक है — जो कुछ होता है वह सृष्टिके लक्ष्यके पूर्ण उन्मीलनके लिये आवश्यक है। हम कह सकते हैं : सृष्टिका लक्ष्य यह है कि सृष्ट 'स्रष्टा' की भांति सचेतन हो जाय। यह एक वाक्य है, लेकिन है उसी दिशामें। इस सृष्टिका लक्ष्य है 'अनंत' की, 'शाश्वत' की यह चेतना जो 'सर्वशक्तिमान्' है — 'अनंत', 'शाश्वत', 'सर्वशक्तिमान्' (जिसे हमारे धर्म ईश्वर कहते हैं : हमारे लिये, जीवनके संबंधमें यही भगवान् है) — 'अनंत', 'शाश्वत', 'सर्वशक्तिमान्' ... कालातीत; हर एक व्यक्तिगत कण यह चेतना लिये है। हर पृथक् कण इस एकमेव चेतनाको लिये है।

विभाजन ही ने सृष्टिकी रचना की है और विभाजनमें ही 'अनंत' अपने-आपको अभिव्यक्त करता है।

हमारी भाषा ... (या हमारी चेतना) अपर्याप्त है। बादमें मैं कह सकूंगी।

कुछ चीज **हो रही है** — यह लो (माताजी हंसती हैं)।

बड़ा दिन शुभ हो, वत्स — ज्योति पर्व।

९ फरवरी, १९७२

२१ फरवरीका संदेश :

"पूर्ण सचाई प्राप्त करनेके लिये चैत्य केंद्रके चारों ओर समस्त सत्ताका पूर्ण एकीकरण एक आवश्यक शर्त है।"

—श्रीमां

मैंने देखा है कि लोग कपटी केवल इसलिये होते हैं क्योंकि सत्ताका एक भाग एक बात कहता है और दूसरा भाग दूसरी बात। यही चीज है जिससे कपट बनता है।

लेकिन चेतनाकी ऐसी स्थिति प्राप्त करना बहुत कठिन है जो स्थायी हो: हमेशा सारे समय उसी चेतनाका शासन रख सकना कठिन है।

लेकिन, वत्स, यह तभीतक ठीक है जबतक तुम एक न हो जाओ। मेरे लिये तो ह...मे...शा यही बात रही है (माताजी एक सीधी लकीरकी मुद्रा करती हैं), बरसोंसे, बरसोंसे यही। यह वहांसे आती है, यह चैत्य चेतना है और यह '**निरंतर**' है।

अभी हालमें, कुछ क्षणोंके लिये मुझे अनेकीकृत चेतनाका अनुभव हुआ, लेकिन बरसोंसे — बरसोंसे, कम-से-कम ३० वर्षसे ऐसा नहीं हुआ।[१] चैत्य पुरुष प्रत्यक्ष स्वामी बन गया और उसने सारी सत्तापर शासन करना शुरू कर दिया और बात **खतम** — खतम, और तबसे ऐसा ही है (वही सीधी लकीरकी मुद्रा)। यह वास्तवमें एक निश्चित चिह्न है, हमेशा वैसा ही, हमेशा एक ही। और यह हमेशा एक ही चीज रहती है: जो 'तेरी' इच्छा, जो 'तेरी' इच्छा और यह "तू" कोई ऐसी चीज नहीं है जो कहीं किसी सुदूर क्षेत्रमें बैठा है, जिसे हम नहीं जानते: 'वह' हर जगह है, 'वह' हर चीजमें है, 'वह' सदा-सर्वदा उपस्थित है, 'वह' सत्ताके अंदर है — और तुम इस तरह 'उसके' साथ चिपके रहते हो। यही एकमात्र समाधान है।

यह मेरी हालकी खोज है। यह इस बातकी खोज है कि लोग कपटी क्यों हैं (तब भी जब वे सच्चे, निष्कपट होना चाहते हैं) — क्योंकि कभी एक भाग, कभी दूसरा भाग और कभी तीसरा भाग ऐसा होता है; उस समय वह भाग अपनी मांगोंमें बिलकुल सच्चा होता है, लेकिन वह दूसरोंके साथ सामंजस्यमें नहीं होता।

जी हां, इसका मतलब यह हुआ कि चैत्य चेतना भौतिक चेतनामें प्रवेश करती है।

हां।

---

[१] वास्तवमें, पैंसठ वर्षसे।

क्योंकि केवल वहीं चीजें स्थायी हैं।

हां...

चैत्य चेतनाको सामान्य भौतिक चेतनामें प्रवेश करना चाहिये।

हां।

वही चीज मुश्किल है।

लेकिन, वत्स, जैसा कि मैंने कहा, मेरे साथ यह बात कम-से-कम तीस वर्ष पहले हुई थी।

चैत्य चेतना सत्तापर हमेशा शासन करती थी और पथ-प्रदर्शन करती थी। और सभी संस्कार, सब कुछ उसके आगे इस तरह रखे जाते थे ("सर्च लाइट"के सामने रखनेकी मुद्रा), ताकि वह ठीक निर्देश दे सके। और भौतिक भी हमेशा ऐसा ही रहता है, वह मानों सारे समय भगवान्‌के आदेश सुनता रहता था। लेकिन यह चीज निरंतर बनी रहती थी, निरंतर — मेरे यहां आनेसे भी **पहले** — मैं यहां इसी अवस्थामें आयी थी — यह बहुत पहलेकी बात है। और यह चीज झिलमिलायीतक नहीं। अभी हालमें मुझे (अनेकीकृत चेतनाकी) अनुभूति हुई। एक रात कुछ घंटोंके लिये, दो-तीन घंटोंके लिये — हां, वह भयंकर चीज थी, वह नारकीय प्रतीत होती थी। यह मुझे औरोंकी स्थिति बतानेके लिये, समझानेके लिये थी कि जब चैत्य पुरुष नहीं होता...।

शरीर — शरीर ऐसा है। हमेशा सुनता रहता है, हमेशा सुनता रहता है (ऊपरकी ओर या भीतरकी ओर संकेत) — सुनता रहता है। लेकिन बात शब्दोंमें नहीं व्यक्त की जाती (भगवान्‌का आदेश), अपने-आपको दृढ़ निश्चयके साथ लागू करते हुए, संकल्पकी तरह प्रकट करता है (अविचल अवतरणकी मुद्रा)।

क्या इसे ज्यादा यथार्थ बनानेके लिये कुछ और कहनेकी जरूरत है?

आपने कहा है: "समस्त सत्ताका पूर्ण एकीकरण।"

इसका मतलब है भौतिक सत्ताका भी।

२६ फरवरी, १९७२

२९ फरवरीके संदेशके बारेमें :

> **"केवल तभी जब 'अतिमन' शरीर-मनमें अभिव्यक्त हो, तभी उसकी उपस्थिति स्थायी हो सकती है।"**
>
> —श्रीमां

यह श्रीअरविंदका कथन है — उन्होंने ऐसे कर दिया है, मानों मेरा कथन हो। यह श्रीअरविंदने लिखा था। मैंने सिर्फ इतना कहा : "श्रीअरविंद-ने "स्थायी रूपसे" शब्दका प्रयोग किया था।"

> **लेकिन, माताजी, यह आपकी अनुभूति है, अतः . . .**

(माताजी हंसती हैं)

(मौन)

लेकिन ज्यादा बुद्धिमत्ता यही है कि इसके हो जानेपर ही इसके बारेमें बोला जाय! जब इसकी प्रतिष्ठा हो जाय तो . . . अभीके लिये (एक ओरसे दूसरी ओर संकेत)।

> **भौतिक मनका नियंत्रण . . .पता नहीं किस छोरसे पकड़ा जाय। मुझे यह बहुत कठिन लगता है।**

बहुत कठिन, यह बहुत कठिन है।

तुम्हें अपनी इच्छाके अनुसार नीरवता प्राप्त करनेसे शुरू करना चाहिये, किसी भी क्षण नीरवता प्राप्त करना। मुझे लगता है कि यही आरंभ-बिंदु है।

> **हां, लेकिन इच्छानुसार नीरवता प्राप्त करना कठिन नहीं है, एक सेकंडके लिये एकाग्र होनेसे ही वह नीरव हो जाता है और जबतक एकाग्रता रहे वह पूरी तरह नीरव रहता है, लेकिन एकाग्रतामें ढील आते ही खतम . . .।**

(माताजी हंसती हैं)

...वह गति करता है, इस ओर हिलता है, उस ओर हिलता है।

अब मन इधर-उधर दौड़नेकी आदत खो चुका है। उसे यह आदत खोनी चाहिये।

यह कैसे किया जाय?

पता नहीं, क्योंकि मेरे लिये यह सहज था। केवल जब कोई मेरे साथ बोलता है या कोई चीज मुझे वहांसे हिलानेके लिये आती है...। अन्यथा अपने-आपमें, बिलकुल स्वाभाविक रूपसे वह ऐसा रहता है (ऊपरकी ओर उठे हुए और निश्चलकी मुद्रा)...शायद यही तरीका है (वही मुद्रा): इस भांति भगवान्का मनन।

(स्मितपूर्ण मौन)

यही है स्वाभाविक स्थिति, यही (वही मुद्रा)। काफी आश्चर्यकी बात है कि यह...शरीरके अंदर संवेदनद्वारा अनूदित भी होती है, शरीर-में ऐसा संवेदन होता है मानों यह पूरी तरह लिपटा हुआ हो, मानों कोई बच्चा कपड़ेमें लिपटा हो। सचमुच इस तरह, मानों भगवान्में लिपटा हो (मुद्रा)।

(मौन)

दो-तीन दिन हुए, मुझे ठीक याद नहीं, एक बहुत बड़ी कठिनाई थी। और तुरंत मुझे ऐसा लगा कि मैं लिपटी हुई हूं... (मुद्रा), मानों मैं एक बालककी नाईं हूं जो भगवान्की भुजाओंमें है। तुम समझ रहे हो, यह ऐसा ही था। यह ऐसा ही था मानों एक बालक भगवान्की भुजाओंमें हो। और फिर...एक क्षणके बाद (लेकिन यह लंबा क्षण था), जब यह इस तरह एकमात्र भगवान्की उपस्थितिमें था तो सारी पीड़ा गायब हो गयी। इसने पीड़ाके जानेकी मांगतक नहीं की, लेकिन वह चली गयी। उसने कुछ समय तो लिया, पर चली गयी।

मुझे पूरी तरह, पूरी तरहसे यही लग रहा था कि मैं एक बालककी नाईं भगवान्की भुजाओंमें लिपटी हूं (मुद्रा)। यह असाधारण है।

(मौन)

हां, तो कुछ समयके लिये ऐसा है: "जो 'तेरी' इच्छा, जो 'तेरी' इच्छा ....", और फिर यह भी चुप... (माताजी समर्पण-भावसे ऊपरकी ओर भुजाएं उठाती हैं)।

(मौन)

एकाग्रताका प्रकार बदलना चाहिये।

हां!

क्योंकि जब व्यक्ति भौतिक मनके अनुशासनका अनुसरण करता है और जब वह उससे दाएं-बाएं निकल जाता है तो वह हमेशा मानसिक एकाग्रता शुरू कर देता है और मानसिक तौरपर नीरवताको फिरसे स्थापित करता है। इस भांति, हर बार वह मनके द्वारा अनुशासन लाता है...

ओ!

...लेकिन मन, जैसे ही उसे जरा ढीला छोड़ा जाय... किसी चीजका अवतरण होना चाहिये, किसी चीजको अधिकार करना चाहिये।

वास्तवमें, यह बच्चेकी असमर्थताकी भावना है, समझे? लेकिन यह कोई "सोची हुई" या "इच्छित" वस्तु नहीं है, यह बिलकुल सहज होती है। और फिर वहांसे तुम एक ऐसी स्थितिमें चले जाते हो ... (माताजी हाथ पसारती हैं और चेहरेपर आनंदमय स्मित)।

जबतक यह भावना रहे कि कोई इच्छा करता है, कोई कुछ करता है, या इस तरहकी बातें, यह बेकार है... (वही मुद्रा, हाथ फैले हुए और आनंदमय स्मित)।

(माताजी ध्यानमें चली जाती हैं)

प्रभु हमारी देखभाल करते हैं?

(हंसते हुए) मेरा ख्याल है कि हां!

(माताजी शिष्यका हाथ पकड़ लेती हैं)

तुम 'उन्हें' अनुभव नहीं करते ?

जी हां, माताजी।

आहा ! ...

८ मार्च, १९७२

एक "दुर्घटना" के बारेमें :

यह ऐसा है। यह एक अनिवार्य आज्ञा है : सीधे चलो, अन्यथा सब कुछ बिगड़ जायगा।

चीज भयंकर होती जा रही है, भयंकर। यह एक 'दबाव' की तरह है — वांछित प्रगतिको लानेके लिये भयंकर 'दबाव'। मैं अपने शरीरके लिये अपने अंदर अनुभव करती हूं। लेकिन मेरा शरीर डरता नहीं है, वह कहता है (माताजी अपने हाथ खोलती हैं) : "बहुत अच्छा, अगर मुझे समाप्त होना है तो यह समाप्ति है।" हर क्षण ऐसा ही होता है : सच्ची चीज (माताजी मुट्ठी नीची करती हैं), या फिर अंत।

ऐसा लगता है कि इसी चीजका अवतरण हुआ है — जानते हो, मैंने कहा था कि कोई चीज नीचे उतरी है (वहांपर लिखा है यह), और एक दिन हम जानेंगे, बहुत जल्दी ही हम जानेंगे कि यह क्या है।[1] तुमने पढ़ा है न ?

---

[1] "२१ फरवरीको सारे दिन मुझे बड़े जोरसे लगता रहा कि यह हर एकका जन्मदिन है और मैं हर एकको शुभ जन्मदिन कहनेके लिये प्रेरित हो रही थी।

"यह बहुत प्रबल अनुभूति थी कि संसारमें कोई नयी चीज अभिव्यक्त होनेको है और जो-जो तैयार और ग्रहणशील हैं वे उसे मूर्त्त कर सकेंगे।

"निःसंदेह, कुछ दिनोंमें पता लग जायगा कि यह क्या चीज है।"

—श्रीमां

जी हां, यह २१ फरवरीको था।

लेकिन यह वह है, एक प्रकारका...। अधकचरा नहीं, समझौता नहीं, लगभग नहीं, नहीं...यह नहीं : वह तो यह है (माताजी मुट्ठी नीचे लाती हैं)।

और यह इस शरीरके लिये, हर क्षण एक अनिवार्य आदेश है: यह जीवन है या मृत्यु है! यह मोटा-मोटा उपगमन नहीं है जो अनादि कालसे चला आ रहा है। शताब्दियोंतक न बिलकुल बुरा था, न बिलकुल अच्छा —अब ऐसा नहीं है।

शरीर जानता है कि अतिमानसिक शरीरकी रचनाका यही तरीका है: उसे **पूरी तरह** भगवान्के प्रभावमें होना चाहिये —कोई समझौता नहीं, "लगभग" नहीं, "हो जायगा" आदि नहीं: यह ऐसा है (माताजी मुट्ठी बांधती हैं), जबर्दस्त 'संकल्प'।

लेकिन...तेजीसे चलनेके लिये यही एकमात्र रास्ता है।

(लंबा मौन)

लेकिन जब आदमी रूपांतरकी व्यावहारिक आवश्यकताको समझने लगता है —जब चीज सचमुच समझमें आने लगती है और जब वह कुछ करनेकी कोशिश करता है तो वह देखता है कि जब भौतिक तत्त्वपर चोट पड़ती है तो वह स्मरण करता है: दो-एक दिन अभीप्सा करता है, वह खोजता है; और फिर ढीला पड़ जाता है।

हां, हां।

मानों तनावके लिये अक्षमता होती है।

यह अक्षमता नहीं है।

तब यह क्या है?

दुर्भावना। अहंकार — जिसे हम अहंकार कहते हैं —, 'द्रव्य' का अहंकार कहते हैं...

'द्रव्य' का अहंकार।

...जो आत्म-निवेदन नहीं करना चाहता।

यह मैं जानती हूं। मैं सारे समय अपने शरीरको यहां, वहां, इधर, उधर पकड़ती रहती हूं...। वह अपनी अतिसामान्य आवारगीमें रहना चाहता है।

यह एक प्रकारसे अभीप्सा और तनावकी शिथिलता है।

हां, यही है।

तब क्या करना चाहिये? उसे हर बार पकड़ना चाहिये? या क्या करना चाहिये?

हां, लेकिन जबतक यह **सचमुच** भगवान्से न जुड़ा हो तबतक कभी स्थिर नहीं हो सकता। अगर तुम ऐसे हो (दोनों मुट्ठियां इस तरह मिली हुई मानों रस्सीके ऊपर हों), तो जब बहुत नाजुक समय आता है तो वह ठीक दिशामें चला जाता है। हां, वह उचित दिशामें चला जाता है। मानों सारे समय तुम्हें ऐसा लगता है कि तुम जीवन और मृत्युके बीच मंडरा रहे हो और जिस क्षण तुम उचित वृत्ति अपनाते हो —जब **संबद्ध भाग** उचित वृत्ति अपनाता है—सब कुछ ठीक हो जाता है। सब कुछ स्वाभाविक रूपसे और सरलताके साथ ठीक हो जाता है। यह अद्‌भुत है। लेकिन यह एक भयंकर चीज है क्योंकि उसे सतत संकट रहता है। हां, शायद मैं नहीं जानती, दिनमें शायद सौ बार यह भाव होता है: जीवन (मेरा मतलब है, कोषाणुओंके लिये) या विघटन। और अगर वे अपनी आदतके अनुसार सिकुड़ते नहीं, तो सब कुछ ठीक चलता है। लेकिन वे भी सीख रहे हैं ... (माताजी आत्म-निवेदनकी मुद्रामें हाथ फैलाती हैं)। तब सब कुछ ठीक रहता है।

ऐसा लगता है मानों शरीरको एक प्रकारकी अनिवार्यताके द्वारा नित्यता सिखायी जा रही है। यह सचमुच मजेदार है। और तब (सामान्य दृष्टि-बिंदुसे) मैं बाह्य परिस्थितियोंको भयंकर होते हुए देखती हूं।

(माताजी चिंतनमें चली जाती हैं)

तुम्हें कुछ कहना है?

जी नहीं, यह वही कठिनाई है जो मुझे हो रही थी।

हां।

वह मुझे बहुत कठिन लग रही है। आदमी अपने-आपको पानेके लिये एक बार, दो बार, दस बार कोशिश करता है, फिर भी लगता है कि करने लायक काम यह नहीं है, वह कोई और ही चीज है। और वह... अगर सचमुच कोई उच्चतर 'चेतना' न हो जो हमारे लिये इसे कर दे तो हमारे द्वारा कुछ भी न हो पायेगा।

हां, ठीक है। लेकिन ऐसी भी अनुभूतियां हैं — सैकड़ों अनुभूतियां हैं — जिस क्षण तुम उचित वृत्ति अपनाते हो, चीज **पूरी हो जाती है।**

यह तो हम ही उसके पूरा होनेमें बाधा देते हैं...। मानों हमारा बल ही उस 'शक्ति' को काम करनेसे रोकता है, कुछ ऐसी ही चीज है। होना चाहिये ... (माताजी हाथ फैलाती हैं)।

(मौन)

मुझे लगता है, मुझे लगता है कि अवचेतनाको विश्वास हो गया है कि यदि वह अपना संयम न रखे तो सब कुछ बिगड़ जायगा। मुझे ऐसा लगता है। यही, यही चीज है जो कहती है: जागते रहो, सावधान... (माताजी हाथ फैलाती हैं)।

२४ मार्च, १९७२

आज सवेरे पहली बार मैंने अपने-आपको, अपने शरीरको देखा — मुझे पता नहीं कि वह अतिमानसिक शरीर था या... (कैसे कहूं?) संक्रमण-कालका शरीर। लेकिन मेरा शरीर एकदम नया था, इस अर्थमें कि वह अलैंगिक था, यानी, न स्त्री था, न पुरुष।

वह बहुत गोरा था। लेकिन शायद यह इसलिये कि मेरी त्वचा गोरी है, पता नहीं।

वह बहुत तन्वंग था (छहरेपनका संकेत) — वह सुन्दर था। सचमुच सामंजस्यपूर्ण रूप।

तो यह पहली बार था। मैं बिलकुल न जानती थी। मुझे कोई अंदाजा न था कि वह कैसा होगा, बिलकुल नहीं। और मैंने देखा — मैं ऐसी हूं। मैं ऐसी हो गयी थी।

२५ मार्च, १९७२

उस दिन आपने अपने शरीरके अंतर्दर्शनकी बात कही थी, यह संक्रमणकालीन शरीर . . .

हां, वह ऐसा ही **था**। वह मैं स्वयं थी। मैंने अपने-आपको दर्पणमें नहीं देखा था: मैंने अपने-आपको यूं देखा था (माताजी सिर झुकाकर अपने शरीरपर नजर डालती हैं), मैं . . . मैं ऐसी थी।

यह पहली बार था। मेरा ख्याल है कि यह सवेरे चार बजेकी बात है। यह बिलकुल स्वाभाविक था — मैंने दर्पणमें नहीं देखा, मैं बिलकुल स्वाभाविक थी। मुझे केवल वही याद है जो मैंने देखा था (सीनेसे कमरतकका इशारा)। मेरे ऊपर सिर्फ एक परदा-सा था। इसलिये मैंने केवल . . . धड़, सीनेसे कमरतक, बिलकुल भिन्न था: न स्त्री, न पुरुष।

और वह सुन्दर था। उसका आकार बहुत, बहुत, छरहरा और बहुत कोमल था — बहुत छरहरा, परंतु दुबला नहीं। और त्वचा बहुत सफेद थी; त्वचा मेरी त्वचा जैसी ही थी। सारा आकार बड़ा सुन्दर था, पर था अलैंगिक — यह न कहा जा सकता था कि स्त्री है या पुरुष। सेक्स गायब हो गया था और यहां भी (माताजी छातीकी ओर इशारा करती हैं), यह सब न था। पता नहीं कैसे कहा जाय। वह केवल एक सादृश्य था, लेकिन कोई आकार न था (माताजी सीनेको छूती हैं), इतना भी नहीं जितना पुरुषोंमें होता है। बहुत गोरी त्वचा, सब कुछ एकदम समतल, मानों कोई पेट न था। आमाशय — आमाशय न था। सब कुछ बहुत तनु था।

हां, तो मैंने उसपर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया, क्योंकि मैं स्वयं वैसी

थी और मुझे वह बहुत स्वाभाविक लगा। यह पहली बार था और था भी रातके समय, परसों। , कल रात मैंने कुछ नहीं देखा — अभीतक वही पहली बार और अंतिम बार था जो मैंने यह देखा।

लेकिन यह सूक्ष्म-भौतिक शरीरमें था?

यह सूक्ष्म-भौतिक शरीरमें ही रहा होगा।

लेकिन वह भौतिकमें कैसे प्रवेश करेगा?

यह बात मुझे नहीं मालूम . . . मुझे नहीं मालूम, नहीं मालूम मुझे।

साथ ही, यह भी स्पष्ट था कि इस समयकी तरह पाचन और निष्कासनकी कोई जटिल विधि नहीं होनी चाहिये। ऐसा नहीं था।

लेकिन कैसे? . . . स्पष्ट है कि भोजन अब भी बिलकुल भिन्न है और अधिकाधिक भिन्न होता जा रहा है (उदाहरणके लिये, ग्लूकोज, ऐसी चीजें जिनके लिये जटिल पाचनकी जरूरत नहीं रहती)। लेकिन स्वयं शरीर किस तरह बदलेगा? पता नहीं, मुझे पता नहीं।

मैंने यह देखनेके लिये उसपर निगाह नहीं डाली कि वह कैसा है, क्योंकि वह बिलकुल स्वाभाविक था, इसलिये मैं विस्तृत वर्णन नहीं दे सकती। बस, वह न तो पुरुषका शरीर था, न स्त्रीका — यह स्पष्ट है और उसकी रूप-रेखा, उसका आकार ठीक वैसा था जैसा बहुत-बहुत युवा व्यक्तिका हो। मानव आकारके साथ-साथ कुछ-कुछ सादृश्य था (माताजी हवामें रेखाएं बनाती हैं), उसमें कंधा था, एक आकृति थी। मानों मानव शरीरका सादृश्य।

मैं उसे देखती हूं, लेकिन . . . मैंने उसे ऐसे देखा जैसे कोई अपने-आपको देखता है। मैंने एक प्रकारका परदा-सा डाल रखा था, यूं, अपने-आपको ढकनेके लिये।

वह सत्ताका एक प्रकार था (मेरे लिये आश्चर्यजनक न था), वह सत्ताका एक स्वाभाविक रूप था।

सूक्ष्म-भौतिकमें वह ऐसा ही होगा।

जी नहीं, जो चीज रहस्यमय मालूम होती है वह है एकसे दूसरेमें संक्रमण।

हां, कैसे?

लेकिन यह वही रहस्य है जैसे बंदरमेंसे मनुष्यमें प्रवेश।

जी नहीं! यह उससे बहुत ज्यादा बड़ा है, माताजी। यह बहुत ज्यादा बड़ा है, क्योंकि आखिर बंदर और मनुष्यके बीच बहुत अधिक फर्क नहीं हैं।

लेकिन यहां देखनेमें बहुत अधिक फर्क न था (माताजी हवामें रेखाचित्र बनाती हैं) : कंधे थे, भुजाएं थीं, शरीर था, ऐसा कद था, पैरोंके जैसे अंग भी थे। सब कुछ वही था, केवल वह . . .

जी, मेरे कहनेका मतलब यह है कि बंदर और मनुष्यकी शारीरिक क्रियाएं एक-सी होती हैं।

हां, एक-सी होती हैं।

जी हां, वे सांस लेते, खाना हजम करते आदि . . . जब कि यहां. . . .

नहीं, उसमें श्वासोच्छ्वास रहा होगा — इसके विपरीत, उसके कंधे बहुत ज्यादा चौड़े थे (मुद्रा)। यह महत्त्वपूर्ण है। हां, छाती न स्त्री जैसी थी, न पुरुष जैसी, एक सादृश्य था। और फिर यह सब — पेट, आमाशय आदि, बस रेखाएं-सी थीं, बहुत छरहरा और बहुत सामंजस्यपूर्ण रूप। लेकिन उसका वह उपयोग न था जो हमारे शरीरका होता है।

दो चीजें बहुत-बहुत भिन्न थीं : पहली — प्रजनन, जिसकी वहां कोई संभावना न थी, और दूसरी — भोजन। लेकिन यह बिलकुल स्पष्ट है कि अब जो भोजन है वह बंदरका या आदिम मानवका भोजन न था। यह बहुत ज्यादा भिन्न है। अब प्रश्न है कोई ऐसे भोजन ढूंढ़ निकालनेका जिसके लिये जटिल पाचन-क्रियाकी जरूरत न हो . . .। यहां मुझे लगता है कि भोजन पूर्णतः द्रव न होना चाहिये, लेकिन ठोस भी नहीं। और फिर, मुखका प्रश्न है — पता नहीं। और तब दांत? स्पष्टतः तब चबानेकी जरूरत न होगी, इसलिये दांतोंका कोई. . .। लेकिन उनकी जगह कुछ होना चाहिये . . .। यह मैं बिलकुल नहीं जानती, बिलकुल, बिलकुल नहीं जानती कि चेहरा कैसा था, लेकिन वह वर्तमान चेहरेसे बहुत भिन्न नहीं प्रतीत होता था।

स्पष्टतः जिस चीजमें बहुत अधिक फर्क पड़ेगा वह है श्वास, उसका महत्त्व बहुत बढ़ गया था। यह सत्ता बहुत हदतक उसपर आश्रित थी।

जी हां, शायद वह सीधी ऊर्जाओंको आत्मसात् करती होगी।

हां, शायद मध्यवर्ती सत्ताएं होंगी जो बहुत अधिक समयतक न चलेंगी, जैसे बन्दर और मनुष्यके बीचकी सत्ताएं थीं।

लेकिन मुझे पता नहीं, ऐसा कुछ होना चाहिये जो अभीतक नहीं हुआ है।

जी हां।

(मौन)

कभी-कभी मुझे लगता है कि सिद्धिका समय नजदीक ही है।

हां, लेकिन कैसे?

जी हां, कैसे? पता नहीं।

क्या यह (माताजी अपने शरीरकी ओर इशारा करती हैं), क्या यह बदलनेवाला है? इसे बदलना चाहिये या फिर इसे अपने-आपको नष्ट करने और फिरसे बनानेकी पुरानी पद्धतिका अनुसरण करना होगा...। पता नहीं...। निश्चय ही, जीवनको बहुत लंबा किया जा सकता है, इसके उदाहरण हैं, लेकिन...। पता नहीं।

पता नहीं।

बहुत बार मुझे ऐसा लगा है मानों रूपांतरकी जगह वह दूसरा शरीर ही मूर्त्त रूप लेगा।

आह! ...लेकिन कैसे?

वह भी, संक्रमण, कुछ पता नहीं। लेकिन इसके वह बननेकी जगह वह इसकी जगह लेगा।

हां, लेकिन कैसे ?

जी हां, कैसे, मुझे पता नहीं।

(कुछ देर मौन रहनेके बाद) हां, मैं परसों रात जो व्यक्ति थी, स्पष्टतः अगर वह अपने-आपको मूर्त रूप दे...। लेकिन कैसे ?

(माताजी चिन्तन करती हैं)

आदमी कुछ नहीं जानता !
आश्चर्य है कि आदमी कैसे कुछ भी नहीं जानता।...

(मौन)

माताजी, 'द ट्रांस्फर्मेशन' ('रूपांतर') नामक कवितामें श्रीअरविन्द इस तरह शुरू करते हैं : "मेरा श्वास सूक्ष्म लयबद्ध सरितामें बहता है; वह मेरे अंगोंको एक दिव्य शक्तिसे भर देता है...."

श्वास, हां, यह महत्त्वपूर्ण है।

२ अप्रैल, १९७२

माताजीकी कुछ शिष्योंसे बातचीत हुई
थी, उस बातचीतके कुछ अंश :

मानवजातिने शताब्दियों और सहस्राब्दियोंतक इस क्षणकी प्रतीक्षा की है। वह आ गया है। पर वह है कठिन।

मैं तुमसे यह नहीं कहती कि हम यहां, धरतीपर आराम करने या मौज करनेके लिये हैं, अभी उसका समय नहीं है। हम यहां... नयी सृष्टिका मार्ग तैयार करनेके लिये हैं।

शरीरमें कुछ कठिनाई है इसलिये, खेद है, मैं सक्रिय नहीं हो सकती। इसका कारण यह नहीं है कि मैं बूढ़ी हूं — मैं बूढ़ी नहीं हूं। मैं तुममेंसे

अधिकतर लोगोंसे ज्यादा जवान हूं। अगर मैं यहां निष्क्रिय हूं तो इसका कारण यह है कि शरीरने अपने-आपको निश्चित रूपसे रूपांतरकी तैयारीके लिये दे दिया है। लेकिन चेतना स्पष्ट है और हम यहां कामके लिये हैं — आराम और मौज पीछे आयेंगे। चलो, हम अपना काम करें।

मैंने तुम्हें यही कहनेके लिये बुलाया है। तुम जो ले सकते हो लो, जो कर सकते हो करो। मेरी सहायता तुम्हारे साथ रहेगी। सभी सच्चे प्रयासोंको अधिक-से-अधिक सहायता दी जायगी।

यह वीर बननेकी घड़ी है।

वीरता वह नहीं है जो लोग कहते हैं। यह पूरी तरह एक होनेमें है — और जो पूरी सचाईसे वीर होनेका निश्चय करेंगे, उन्हें भगवान्‌की सहायता हमेशा मिलेगी। बस।

तुम इस समय यहां, यानी, धरतीपर इसलिये हो क्योंकि एक समय तुमने यह चुनाव किया था — अब तुम्हें उसकी याद नहीं है, पर मैं जानती हूं — इसी कारण तुम यहां हो। हां, तुम्हें इस कार्यकी ऊंचाईतक उठना चाहिये, तुम्हें प्रयास करना चाहिये, तुम्हें सभी कमजोरियों और सीमाओंको जीतना चाहिये : और सबसे बढ़कर तुम्हें अपने अहंकारसे कहना चाहिये : "तुम्हारा समय बीत गया।" हम एक ऐसी जाति चाहते हैं जिसमें अहंकार न हो, जिसमें अहंकारकी जगह भागवत चेतना हो। हम यही चाहते हैं : एक भागवत चेतना जो जातिको विकसित होने और अतिमानस सत्ताको जन्म लेने दे।

अगर तुम यह समझते हो कि मैं यहां इसलिये हूं क्योंकि मैं बद्ध हूं तो यह सच नहीं है। मैं बद्ध नहीं हूं। मैं यहां इसलिये हूं क्योंकि मेरा शरीर रूपांतरके पहले प्रयासके लिये अर्पित है। श्रीअरविन्दने मुझसे यह कहा था। हां, तो मैं उसे कर रही हूं। मैं नहीं चाहती कि कोई और मेरे लिये यह करे... क्योंकि यह बहुत, बहुत सुखकर नहीं है। लेकिन मैं परिणामोंके लिये खुशीसे कर रही हूं। इससे हर एक लाभ उठा सकेगा। मैं केवल एक चीज मांगती हूं : अहंकी बात न सुनो।

अगर तुम्हारे हृदयोंसे एक सच्ची "हां" निकलती है तो तुम मुझे पूरी तरह संतुष्ट करोगे। मुझे शब्दोंकी जरूरत नहीं है, मैं चाहती हूं तुम्हारे हृदयोंकी सच्ची निष्ठा और लगाव। बस, इतना ही।

१२ अप्रैल, १९७२

माताजी शिष्यको एक छपा हुआ कार्ड देती हैं
जिसपर उनके चित्रके साथ यह संदेश छपा है :

> **"अंततः भागवत इच्छाके विरुद्ध कोई मानव इच्छा सफल नहीं हो सकती।**
>
> **"आओ, हम अपने-आपको जान-बूझकर, ऐकांतिक रूपसे भगवान्‌की ओर रखें। अंतमें विजय निश्चित है।"**
>
> —श्रीमां

आश्चर्यकी बात है कि मानव स्वभाव इसका किस तरह विरोध करता है। साधारण मानव स्वभाव ऐसा है कि अपनी इच्छासे प्राप्त पराजय दूसरी तरहसे प्राप्त विजयकी अपेक्षा ज्यादा पसंद करता है। मुझे ऐसी चीजोंका पता लग रहा है... अविश्वसनीय — अविश्वसनीय।

मानव मूढ़ताकी गहराई अविश्वसनीय है, अविश्वसनीय।

ऐसा लगता है कि वह 'शक्ति' जिसके बारेमें मैंने कहा था[1] इस तरह जा रही है (अविचलित अवतरणकी मुद्रा), गहरी, और गहरी अवचेतनाकी ओर चलती चली जा रही है।

अवचेतनामें ऐसी चीजें हैं... अविश्वसनीय — अविश्वसनीय। मैं यही देखनेमें रातों-पर-रातें बिता रही हूं और 'शक्ति' नीचे, नीचे **अनिवार्य रूपसे** चलती चली जा रही है।

और तब मानव अवचेतना चिल्ला पड़ती है : "नहीं, नहीं, अभी नहीं, अभी नहीं — इतनी जल्दी नहीं!" और इसके विरुद्ध संघर्ष करना पड़ता है। यह व्यापक अवचेतना है।

और स्वभावतः प्रतिरोध विभीषिकाओंको लाता है, पर तब आदमी कहता है : "लो देखो, तुम्हारी क्रिया कितनी लाभदायक है! वह विभीषिकाएं लाती है।" अविश्वसनीय, अविश्वसनीय मूढ़ता।

तुम्हें... भगवान्‌से चिपके, चिपके रहना चाहिये। और देखो, इसके अपने-आपमें समुचित कारण हैं! यह कहती है : "देखो तो, तुम्हीं देखो, न? यह

---

[1] २१ फरवरीका अवतरण ("वांछित प्रगतिको प्राप्त करनेके लिये जबर्दस्त दबाव")।

तुम्हें कहां लिये जा रही है, देख लो . . .।" आह ! यह. . . केवल प्रतिरोध ही नहीं : **विकृति है।**

जी, हां।

यह एक विकृति है।

जी, जी हां, माताजी, मैं स्पष्ट रूपसे देख रहा हूं, मैं बहुत स्पष्ट रूपसे देख रहा हूं कि यह सचमुच एक विकृति है।

यह एक विकृति है।

लेकिन ऐसा लगता है कि कोई ऐसी चीज है जो किसीका हुकुम नहीं मानती।

नहीं, बस, करना . . . अगर हो सके तो सुनो ही मत, यह ज्यादा अच्छा है, लेकिन अगर तुम सुनते हो तो तुम्हें सारे समय बस, यही उत्तर देना है : "मैं परवाह नहीं करता, मुझे परवाह नहीं है।" "तुम मूढ़ बन जाओगे" —— "मुझे परवाह नहीं।" "तुम अपना सारा काम चौपट कर लोगे" —— "मुझे परवाह नहीं" . . . इस प्रकारकी सभी विकृत युक्तियोंके लिये तुम्हारा उत्तर होगा : "मुझे परवाह नहीं।"

अगर तुम्हें यह अनुभूति प्राप्त हो कि भगवान् ही सब कुछ कर रहे हैं तो तुम एक अटल श्रद्धाके साथ कह सकते हो : "तुम्हारी सारी दलीलोंका कोई मूल्य नहीं; भगवान्‌के साथ होनेका आनंद, भगवान्‌के बारेमें सचेतन होना सबसे बढ़-चढ़कर है —— सृष्टिसे बढ़कर है, जीवनसे बढ़कर है, सुखसे बढ़कर है, सफलतासे बढ़कर है, सबसे बढ़कर है —— (माताजी एक उंगली उठाती हैं) 'वह'।

तो यह लो। यही ठीक है। और बस, समाप्त।

ऐसा लगता है मानों 'वह' प्रकृतिकी बुरी-से-बुरी चीजोंको . . . प्रकाशमें, इस 'शक्ति'के साथ संपर्कमें धकेल रहे हैं ताकि वे समाप्त हो जायं।

और वह उसके साथ चिपका प्रतीत होता है जो हमारे अंदर सद्‌भावना-पूर्ण था।

एक ऐसा क्षण आता है जब सब कुछ बिलकुल अद्‌भुत होता है, लेकिन तुम्हें ऐसे घंटोंमेंसे गुजरना पड़ता है जो सुखकर नहीं होते।

जी हां। हां, ऐसे अवसर आते हैं जब आदमी अपने-आपसे पूछता है कि क्या सब कुछ बुहारकर फेंक तो नहीं दिया जायगा।

(माताजी हंसती हैं) यह वाहियात है! वाहियात। प्रतिरोधको पूरी तरह बुहारकर फेंका जायगा।

लेकिन . . .

(माताजी अपने अंदर चली जाती हैं)

मुझे अधिकाधिक ऐसा लग रहा है कि बस एक ही उपाय है . . . (हंसी)। इसका एक मजेदार चित्र बनता है: मनके ऊपर बैठ जाओ। मनके ऊपर बैठ जाओ: "चुप रहो।" यही एक उपाय है।

तुम मनपर बैठ जाओ (माताजी एक टकोर देती हैं): "चुप रहो।"

(मौन)

अवचेतनामें पिछले प्रलयोंकी स्मृति है और यही स्मृति हमेशा यह भाव दिया करती है कि सब कुछ लुप्त हो जायगा, सब कुछ नष्ट हो जायगा।

लेकिन अगर सच्चे प्रकाशमें देखो तो केवल एक अभिव्यक्ति लुप्त होगी और उससे ज्यादा सुन्दर अभिव्यक्ति आयेगी। मुझसे 'क'ने कहा था कि यह सातवीं और अंतिम अभिव्यक्ति है . . .। श्रीअरविन्द (मैंने 'क'की बात श्रीअरविन्दको बतलायी), श्रीअरविन्द इससे सहमत थे क्योंकि उन्होंने कहा: यही अतिमनकी ओर रूपांतर देखेगी। लेकिन उसके लिये, अतिमनके लिये मनको **नीरव होना होगा**! इससे मुझे हमेशा ऐसा लगता है (हंसते हुए), मानों एक बच्चा मनके सिरपर बैठा खेल रहा है (मुद्रा मानों कोई बच्चा बैठा पांव हिला रहा है), मनके सिरपर! . . . अगर मैं अब भी चित्र आंक सकती तो यह एक मजेदार चीज होती। मन — यह मोटा-ताजा पार्थिव मन (माताजी गाल फुलाती हैं), जो अपने-आपको इतना महत्त्वपूर्ण और अनिवार्य समझता है, उसके सिरपर बैठकर बच्चा खेल रहा है! सचमुच बहुत मजेदार है।

आह, वत्स, हममें श्रद्धा नहीं है, जैसे ही श्रद्धा हो। . . . हम कहते हैं: हम दिव्य जीवन चाहते हैं — फिर भी हम उससे डरते हैं। लेकिन जैसे ही डर चला जाय और हम सच्चे हों. . . सब कुछ सचमुच बदल जाता है।

हम कहते हैं: हमें यह जीवन अब और नहीं चाहिये और (हंसते हुए) कोई चीज है जो उससे चिपकी रहती है!

यह ऐसी बेतुकी बात है।

हम अपने पुराने विचारोंसे चिपके रहते हैं, अपनी पुरानी... इस पुरानी दुनियासे चिपके रहते हैं जिसे गायब हो जाना चाहिये — और हम डरते हैं।

और दिव्य बालक मनके सिरपर बैठा खेलता हुआ...। काश! मैं यह चित्र बना पाती। यह अद्‌भुत है।

हम ऐसे मूढ़ हैं कि यहांतक कह बैठते हैं (माताजी खीजी हुई प्रतिष्ठा-के लहजेमें): "यह भगवान्‌की भूल है, उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिये।" यह हास्यास्पद है, वत्स।

(मौन)

मेरी दृष्टिमें सबसे अच्छा उपाय (यानी, सबसे सरल) यह है: पूरी सचाई और निष्कपटताके साथ "जो 'तुम्हारी' इच्छा। जो 'तुम्हारी' इच्छा।" और तब — तब समझ आती है। तब तुम समझते हो। लेकिन तुम मानसिक रूपमें नहीं समझते, वह यहां नहीं है (माताजी अपना सिर छूती हैं)।

जैसी 'तेरी' इच्छा।

६ मई, १९७२

(माताजी "अंदर" देखती हैं)

क्या आप कुछ देख रही हैं?

(मौन)

मेरा ख्याल है कि मैं तुम्हें पहले ही बता चुकी हूं कि एक सुनहरी 'शक्ति' नीचे दबाव डाल रही है (दबानेकी मुद्रा), उसमें कोई भौतिक घनता तो नहीं है, फिर भी वह बहुत अधिक भारी मालूम होती है...

जी हां।

....और वह 'भौतिक द्रव्य'पर दबाव डाल रही है ताकि वह **अंदरसे** भगवान्‌की ओर मुड़े — बाहरकी ओर मोक्ष नहीं (ऊपरकी ओर इशारा), आंतरिक रूपसे भगवान्‌की ओर मुड़ना। इसलिये परिणाम यही दिखायी देता है कि मानों विभीषिकाएं अनिवार्य हैं। और अनिवार्य विभीषिकाओंके इस बोधके साथ स्थितिके कुछ समाधान भी हैं। ऐसी घटनाएं हो जाती हैं जो अपने-आपमें बिलकुल चमत्कारिक हैं। ऐसा लगता है कि दोनों छोर ज्यादा-से-ज्यादा पराकाष्ठापर पहुंच रहे हैं, मानों जो अच्छा है ज्यादा अच्छा, और जो बुरा है वह ज्यादा बुरा होता जा रहा है। बात ऐसी ही है। उस जबरदस्त 'शक्ति'के होनेसे जो जगत्‌पर **दबाव** डाल रही है — मुझे ऐसा ही लगा।

जी हां, यह बोधगम्य है।

हां, यह इस तरह अनुभव होती है (माताजी हवामें उंगलियां चलाती हैं), और तब, बहुत-सी चीजें, जो सामान्यतः उदासीनताके साथ होती रहती हैं, वे तीव्र हो जाती हैं; परिस्थितियां, भेद तीव्र हो जाते हैं; दुर्भावनाएं तीव्र हो जाती हैं; और **साथ ही** असाधारण चमत्कार — असाधारण ! आदमी बचा लिये जाते हैं, मरते-मरते आदमी बचा लिये जाते हैं, जटिल चीजें अचानक सुलझ जाती हैं।

और व्यक्तियोंके बारेमें भी यही बात है।

जो जानते हैं कि कैसे मुड़ा जाय ... (कैसे कहा जाय ?) जो सचाईके साथ भगवान्‌को बुलाते हैं, जो यह अनुभव करते हैं कि यही एकमात्र निस्तार है, उसमेंसे निकलनेका एक ही रास्ता है, जो सचाईके साथ अपने-आपको देते हैं, तो ... (सहसा फटनेका संकेत) कुछ ही मिनटोंमें चीज अद्‌भुत हो जाती है। छोटी-से-छोटी चीजोंके लिये — कोई भी चीज छोटी या बड़ी, महत्त्वपूर्ण या महत्त्वहीन नहीं है — सबके लिये यही बात है।

मूल्य बदलते हैं।

ऐसा लगता है मानों संसारका दृश्य बदलता है।

(मौन)

ऐसा लगता है मानों अतिमनके अवतरणसे संसारमें जो परिवर्तन आयेगा, यह उसका कुछ अनुमान देनेके लिये है। सचमुच जो चीजें उदासीन थीं वे निरपेक्ष हो जाती हैं: जरा-सी भूल अपने परिणामोंमें सुस्पष्ट हो जाती

है और जरा-सी सचाई, जरा-सी सच्ची अभीप्सा अपने परिणामोंमें चमत्कारिक हो जाती है। लोगोंमें मूल्य बढ़ गये हैं और भौतिक दृष्टिसे भी बहुत छोटा दोष, छोटे-से-छोटा दोष भी बड़े परिणाम लाता है और अभीप्सामें जरा-सी सचाई भी आश्चर्यजनक परिणाम लाती है। मूल्य बहुत तीव्र हो गये हैं, यथार्थ बन गये हैं।

माताजी, आपने दोष और भूलकी बात की है — पता नहीं यह बुद्धि-भ्रंश है या नहीं, लेकिन मुझे अधिकाधिक यह लग रहा है कि दोष, भ्रांति आदि सब असत्य हैं। चीजें ऐसी नहीं हैं। यह एक उपाय है . . . कैसे कहूं ? अभीप्साके क्षेत्रको विस्तृत करनेका उपाय है।

हां, हां, बिलकुल ठीक।

समग्रका बोध तो यही है कि हर चीज . . . हर चीजके लिये जगत्की चेतनाके आरोहणको दृष्टिमें रखकर संकल्प किया गया है। चेतना दिव्य होनेकी तैयारी कर रही है और यह बिलकुल सत्य है कि हम जिन चीजोंको दोष मानते हैं वे सब मिलकर सामान्य मानव अवधारणाके भाग हैं, पूरी तरहसे, पूरी तरहसे।

एकमात्र दोष — अगर कोई दोष है — वह है दूसरी चीजके लिये इच्छा न करना। लेकिन जैसे ही कोई उस दूसरी चीजकी चाह. . . .

लेकिन यह दोष नहीं, मूढ़ता है !

लो, यह बहुत सरल है। सारी सृष्टिको भगवान्‌के सिवा और किसीकी चाह न होनी चाहिये, भगवान्‌को अभिव्यक्त करनेके सिवा कोई चाह न होनी चाहिये; वह जो कुछ भी करता है, यहांतक कि उसकी तथाकथित भूलेंतक सारी सृष्टिके लिये भगवान्‌को अभिव्यक्त करना अनिवार्य बनानेके साधन हैं — लेकिन यह "भगवान्" नहीं जिसकी मनुष्य कल्पना करता है, जिसे "ऐसा होना चाहिये और वैसा नहीं", जिसके लिये बहुत-से प्रतिबंध हैं : वह आश्चर्यजनक शक्ति और ज्योतिकी **समग्रता** है। वह सचमुच जगत्‌में 'शक्ति' है, एक नयी और आश्चर्यजनक 'शक्ति' जो जगत्‌में आयी है और जिसे अपने-आपको अभिव्यक्त करना चाहिये और (अगर यह कहा जा सके तो) इस दिव्य 'सर्वशक्ति' को "अभिव्यक्ति योग्य" बनाना चाहिये।

मैं इस निष्कर्षपर आयी हूं। मैंने देखा है, मैंने अवलोकन किया है और मैंने यह जाना है कि जिसे हम किसी अधिक अच्छे शब्दके अभावमें "अतिमन" कहते हैं, वह अतिमन सृष्टिको उच्चतर 'शक्ति' के प्रति अधिक संवेदनशील बना देता है। हम उसे "भगवान्" कहते हैं क्योंकि हम... (हम जो हैं उसकी तुलनामें वह दिव्य है, लेकिन...)। वह कुछ ऐसी चीज है (अवतरण और दबावकी मुद्रा), जिसे जड़-तत्त्वको शक्तिके प्रति अधिक संवेदनशील और अधिक... "प्रभावनीय" बना देना चाहिये। कैसे कहा जाय?... अभी तो हमारे लिये जो कुछ अदृश्य या अगोचर है वह अवास्तविक है (मैं साधारण रूपसे मनुष्योंकी बात कह रही हूं), हम कहते हैं कि कुछ चीजें "ठोस" हैं और कुछ नहीं हैं; फिर भी यह 'बल', यह 'शक्ति', **जो भौतिक नहीं है**, धरतीपर पार्थिव भौतिक वस्तुओंकी अपेक्षा अधिक ठोस रूपमें शक्तिशाली है; हां, बात ऐसी ही है।

अतिमानव सत्ताओंके लिये यही सुरक्षा और बचावका साधन है; यह एक ऐसी चीज होगी जो देखनेमें भौतिक नहीं है, लेकिन जिसमें **भौतिक द्रव्यपर**, भौतिक चीजोंकी अपेक्षा अधिक सामर्थ्य है। यह, यह बात दिन-पर-दिन, बल्कि घंटे-घंटे अधिकाधिक सत्य होती जा रही है। ऐसा लगता है कि यह 'शक्ति', जब उसे उससे निर्देशन मिलता है जिसे हम "भगवान्" कहते हैं, तो यह सचमुच — समझ रहे हो, भौतिक द्रव्यको परिचालित करनेमें समर्थ होती है। वह **भौतिक** संयोग पैदा कर सकती है; वह एकदम भौतिक दुर्घटनासे बचा सकती है, वह एकदम भौतिक चीजके परिणामोंको मिटा सकती है — यह 'भौतिक द्रव्य'से अधिक... शक्तिशाली है। यह एकदम नयी और अबोधगम्य है; और इसलिये यह मनुष्योंकी साधारण चेतनामें एक आतंक पैदा कर देती है। हां, यह वही है। ऐसा लगता है...। यह **अब** वह नहीं है जो पहले था। और सचमुच कुछ नयी चीज है — **अब** यह वह नहीं रहा जो पहले था।

हमारी सारी सामान्य बुद्धि, हमारी सारी तर्कणा, हमारी सारी व्यावहारिक बुद्धि, सब जमीनपर पटक दी गयी है! बस खतम! — अब उसमें कोई बल नहीं है। कोई वास्तविकता नहीं है। जो है उसके अनुरूप नहीं रही। सचमुच यह एक नया जगत् है।

(मौन)

यही चीज अपने-आपको शरीरके अंदर 'नयी शक्ति' के अनुरूप बनानेमें कठिनाई अनुभव करती है और कठिनाई, अव्यवस्था और रोग पैदा करती

है। लेकिन अचानक ऐसा लगता है कि अगर हम पूरी तरह ग्रहणशील हों तो अत्यधिक बलशाली हो जायंगे। मुझे यही लग रहा है। मुझे अधिकाधिक यह लग रहा है कि अगर समस्त चेतना (पूर्णतः भौतिक चेतना —— अधिकतम भौतिक चेतना) इस नयी 'शक्ति' के प्रति ग्रहणशील हो तो हम दु – र्जे – य बन जायंगे।

(माताजी आंखें बंद कर लेती हैं)

लेकिन एक आवश्यक शर्त है: अहंका राज्य समाप्त होना चाहिये। अभी अहं ही रुकावट है, अहंके स्थानपर वह दिव्य चेतना आनी चाहिये जिसे स्वयं श्रीअरविंदने "अतिमन" कहा है; हम उसे अतिमानस कह सकते हैं ताकि कोई गलतफहमी न हो, क्योंकि जब हम "भगवान्" की बात करते हैं तो लोग झट "देव" समझ लेते हैं और सब कुछ बिगड़ जाता है। यह ऐसा नहीं है। नहीं, यह वह नहीं है (माताजी धीरे-धीरे बंद मुट्ठियां नीचे लाती हैं)। यह अतिमानसिक लोकका अवतरण है जो शुद्ध कल्पना नहीं है (ऊपरकी ओर इशारा), यह पूरी तरह **भौतिक** 'शक्ति' है, लेकिन इसे भौतिक साधनोंकी (मुस्कराते हुए) जरूरत नहीं।

एक ऐसा लोक जो जगत्में शरीर धारण करना चाहता है।

(मौन)

बहुत बार ऐसे क्षण आये हैं जब मेरे शरीरने एक नये प्रकारकी नयी बैचेनी और चिंताका अनुभव किया; यह मानों कोई ऐसी चीज थी जो आवाज तो न थी, पर जो मेरी चेतनामें इन शब्दोंमें अनूदित हुई: "तुम डरती क्यों हो? यह नयी चेतना है।" यह कई बार आयी और तब मैं समझ गयी।

(मौन)

समझ रहे हो, जो चीज मनुष्यकी सामान्य बुद्धिमें कहती है: "यह असंभव है, यह कभी नहीं हुआ," इस चीजका अंत हो गया। वह समाप्त हो गयी, वह मूर्खतापूर्ण है। वह मूढ़ता बन गयी है। कहा जा सकता है: यह संभव है, **क्योंकि** यह कभी नहीं हुआ। नया जगत् है, नयी चेतना है और नयी 'शक्ति' है, यह संभव है और यह अधिकाधिक

अभिव्यक्त हो रही है और होती रहेगी, **क्योंकि** यह नया जगत् है, क्योंकि यह कभी नहीं हुआ।

यह होगा क्योंकि यह पहले कभी नहीं हुआ।

(मौन)

यह सुन्दर है: यह होगा, क्योंकि यह कभी नहीं हुआ — **क्योंकि** पहले कभी नहीं हुआ।

(माताजी लंबे **मौनमें** चली जाती हैं)

यह भौतिक द्रव्य नहीं है, पर 'द्रव्य' से अधिक ठोस है!

जी हां, यह लगभग कुचलता हुआ है।

कुचलता हुआ? हां, ऐसा ही है... हां, ऐसा ही!...

जो कुछ ग्रहणशील नहीं है वह सब कुचलनेका अनुभव करता है, लेकिन जो ग्रहणशील है वह इसके विपरीत एक... एक प्रबल विस्तारका अनुभव करता है।

जी हां, यह बहुत अजीब है, यह दोनों है!

एक ही समयमें दोनों।

जी हां, कुछ फूलता हुआ-सा लगता है, मानों सारी चीजमें विस्फोट होनेवाला है, साथ ही कुछ चीज है जो कुचल दी जाती है।

हां, जो चीज कुचली जाती है वह, वह चीज है जो प्रतिरोध करती है, जो ग्रहणशील नहीं है। वह केवल अपने-आपको खोल दे तो वह चीज मानों... दुर्जेय वस्तु बन जाती है...। यह असाधारण है। हमारी शताब्दियोंकी आदत है, है न, जो प्रतिरोध करती है और ऐसा संस्कार देती है; लेकिन जो कुछ बाहर खुल जाता है... ऐसा लगता है मानों आदमी बड़ा, बड़ा, बड़ा होता रहा है...। यह बहुत भव्य है। हां, यह...।

३० अगस्त, १९७२

मैं स्पष्ट देखती हूं, विचार नहीं, चेतना निर्देशन कर रही है। तो अगर चेतना भगवान्के प्रति चुपचाप खुली हो तो सब कुछ ठीक है। सारे समय चेतनामें ऐसी चीजें होती रहती हैं मानों वह सब सारी दुनियासे आ रहा है (सब ओरसे आक्रमणकी मुद्रा) : वह सब जो भागवत क्रियाका निषेध या प्रतिवाद करता है—ऐसी चीजें सारे समय इस तरह आती रहती हैं (वही मुद्रा)। अतः यदि मैं अचंचल रहना जानूं (आत्म-निवेदनकी मुद्रा, हाथ ऊपरकी ओर खुले हुए), एक प्रकारके... (मुस्कराते हुए) असत्के भावमें—एक प्रकार... पता नहीं कि वह पारदर्शकता... मुझे नहीं मालूम कि उसे पारदर्शकता कहा जाय या निश्चलता, बहरहाल, वह चेतनामें कोई ऐसी चीज है जो इस प्रकार है (वही हाथ खोले हुए, आत्म-निवेदनकी मुद्रा)। जब चेतना इस प्रकार हो तो सब ठीक चलता है; लेकिन जैसे ही वह गति करना शुरू करे, यानी, व्यक्ति किसी भी रूपमें अपना दिखावा करे तो चीज घिनौनी हो जाती है। पर यह बहुत मजबूत संवेदन है।

जानते हो, भौतिक शरीरकी हजारों अनुभूतियां हैं जो कहती हैं: "उफ! यह आनंदमय अवस्था असंभव है!"—यह मूढ़ता सारी चीजमें देर लगा देती है। यह ऐसा है मानों कोषाणु: शरीरके कोषाणु जिन्हें लड़ने, दुःख झेलनेकी आदत है, ये उन चीजोंको स्वीकार करनेमें असमर्थ हैं जो ऐसी हों (वही हाथ खुले हुए, आत्म-निवेदनकी मुद्रा)। लेकिन जब वह ऐसा हो तो... अद्भुत होता है।

सिर्फ, यह अनुभूति टिकती नहीं। वह सारे समय नहीं बनी रहती—सारे समय, सारे समय चीजें होती रहती हैं (वैश्व आक्रमणकी वही मुद्रा)। लेकिन अब मैं अच्छी तरह देखती हूं, बहुत स्पष्ट—बहुत स्पष्ट रूपसे देखती हूं: चेतना विचारका स्थान ले रही है।

और... (कैसे कहा जाय?) भेद: विचार एक ऐसी चीज है जो यूं करती है (तेजीसे घूमनेकी मुद्रा), वह गति करती है, गति करती है..., चेतना एक ऐसी चीज है जो यूं करती है (हाथ खुले, ऊपरकी ओर आत्म-समर्पणकी मुद्रा)। मैं समझा नहीं सकती।

(माताजी आंखें बंद कर लेती हैं, हाथ खुले हुए हैं)

तुम्हें कुछ कहना या पूछना है?

मैं अपने-आपसे पूछ रहा था कि मैं इस गतिको तेज करनेके लिये क्या कर सकता हूं। व्यावहारिक जीवनमें हमपर बहुत-सी चीजोंका आक्रमण होता रहता है, है न...। गतिको तेज करनेके लिये क्या किया जा सकता है?

अगर आदमी चिंता या घबराहटके बिना रह सके तो इससे बहुत फर्क पड़ेगा।

जी।

बहुत बड़ा फर्क।

तुम समझे? मेरा शरीर शुरू कर रहा है — बस, यह जानना शुरू ही कर रहा है कि भगवान्‌की ओरका अर्थ है जीवन... (माताजी विशालताकी मुद्रामें बाहें फैलाती हैं) यानी, उन्नतिशील और प्रकाशमय जीवन; लेकिन पिछले अनुभवोंका संग्रह कहता है: "नहीं! यह संभव नहीं है!" — तो यह रहा। यह मूढ़ "संभव नहीं" देर लगाता और चीजोंको बिगाड़ता है।

यह इस तथ्यपर निर्भर है कि जैसे ही शरीर सच्ची वृत्तिको त्याग देता है तो वह कष्टकर हो जाता है, हर चीज दुःख देती है, हर चीज कष्ट सह रही है — लगता है कि हर जगह मौत और विघटन है। और तब, यही चीज 'भौतिक द्रव्य' की मूढ़ताको मजबूत बनाती है।

तो सच बात यह है कि मैं किसी ठीक-ठीक प्रश्नका उत्तर देनेके सिवा कुछ न कहना पसंद करूंगी।

अपने लिये मैं अपने-आपसे पूछता हूं कि मैं किस बातपर अपने-आपको लगाऊं?

(कुछ मौनके बाद) क्या तुम्हारा ख्याल है कि तुम विचारके पार जा चुके हो?

जी हां, बिलकुल। एकमात्र चीज जो मेरे अंदर बची हुई है, वह है यांत्रिक विचार-गति, अन्यथा....। मैं कह सकता हूं कि मैं अपने विचारका कभी उपयोग नहीं करता। मुझे हमेशा लगता है ऊपरसे खींच रहा हूं। उदाहरणके लिये, मीमांसक मन मेरे लिये असंभव है।

हां, यह ठीक है। तुम ठीक रास्तेपर हो।

जी हां! लेकिन व्यावहारिक रूपसे संघर्षका भाव रहता है... मानों कुछ-कुछ डूबनेका-सा भाव।

जहांतक मेरा सवाल है, वे सब चीजें, जिनपर मैं क्रियाके लिये आश्रित थी, वे सब मानों जान-बूझकर तोड़-फोड़ दी गयी हैं ताकि मैं (छोटी-से-छोटी नगण्य चीजोंके लिये भी) यही कहूं: जैसी 'तेरी' इच्छा। यह मेरे लिये ...यह मेरे लिये एकमात्र शरण है।

साधारण देखनेवालेकी दृष्टिमें, जो यह नहीं जानता, बेवकूफ बनना ही स्वीकार करना पड़ता है।

लेकिन ऐसे लोग भी कम नहीं हैं जो प्रकाश भी देखते हैं, है न?

संभव है। (हंसते हुए) यह उनके लिये हितकर है!

(मौन)

बहुधा, बहुधा, मैं प्रभुसे पूछती हूं: अब जब मैं न तो स्पष्ट बोल सकती हूं, न स्पष्ट देख सकती हूं, तो सहायता कैसे कर सकूंगी? यह एक ऐसी अवस्था है...। शरीरको ह्रासका अनुभव नहीं होता! उसे विश्वास है कि कल ही अगर प्रभु चाहें कि वह क्रिया-कलाप शुरू कर दे तो वह शुरू कर सकेगा। 'बल' है (माताजी अपनी भुजाओंको, मांसपेशियोंको छूती हैं), कभी-कभी प्रबल सामर्थ्य! ...क्यों? ...ऐसी अवस्थाके लिये संकल्प हुआ है...मुझे शांत रहने दिया जाय!

लेकिन आप जानती हैं कि यह जरूर इच्छित स्थिति है, क्योंकि स्वयं मुझे लगता है, अपने छोटे-से भावसे मैं जितना अनुभव कर सकता हूं, मुझे लगता है कि अपनी निश्चलतामें आप एक दुर्जेय शक्ति, उत्पादक-केंद्र हैं।

हां, यह मुझे मालूम है। यह मैं जानती हूं, बहुत अधिक। हां, एक 'शक्ति'...

२५ अक्तूबर, १९७२

शिष्य माताजीको एक फूल देता है
और माताजी उसे लौटा देती हैं ।

यह "अवचेतनामें सत्यकी शक्ति" है।

(कुछ क्षणके लिये मौन)

अवचेतनामें सब प्रकारके विरोध इकट्ठे हैं।

जी ।

और वह इस तरह उठते हैं (जोरोंसे ऊपर उठनेकी मुद्रा), सारे समय, सारे समय। और तब ... तुम्हें ऐसा लगता है कि तुम एकदमसे मूढ़, निश्चेतन, दुर्भावनावाले हो। और यह सब ... (फिर वही नीचेसे ऊपर उठनेकी मुद्रा)।

और चेतना वहां है (सिरके चारों ओर इशारा), शांत, असाधारण रूपसे शांत ... (माताजी हाथ फैलाती हैं) : "हे प्रभु, तेरी इच्छा पूरी हो।" और तब, वह, वह नीचेसे ऊपर उठनेवाली चीजपर दबाव डालता है।

ऐसा लगता है मानों मेरी चेतनामें संसार-भरका युद्ध लड़ा जा रहा है।

बात इस हदतक आ गयी है कि भूल जानेका, भगवान्‌को क्षण-भरके लिये भूल जानेका अर्थ है विभीषिका।

और तुम्हारा क्या हाल है?

ओह, ऐसा लगता है कि अवचेतनाकी सफाईका कहीं अंत ही नहीं।

हां, यह केवल एक व्यक्तिकी बात नहीं है: यह धरतीकी अवचेतना है। इसका कहीं अंत नहीं। और फिर भी व्यक्तिको ...

तो, उसे रोकनेका मतलब होगा काम बंद कर देना। उसे जारी रखनेका मतलब है उसमें समय लगेगा ...। पता नहीं ...। इसका कहीं अंत नहीं।

स्पष्ट है, हां, स्पष्ट है इसे बंद करनेका अर्थ होगा काम बंद कर देना। ऐसा है मानों वहां, चेतनामें (माताजी अपने सिरके चारों ओर इशारा करती हैं) संयोजन और क्रियाका केंद्र है।

इस तरह, मेरे पास बस एक ही उपाय है, शांत रहना, शांत, शांत (माताजी ऊपरकी ओर हाथ फैलाती हैं) . . . यह अनुभव करना कि व्यक्तित्व कुछ नहीं है, कुछ नहीं है, कुछ नहीं है — वह गुजरने देता है, वह दिव्य किरणोंको गुजरने देता है। यही एक मात्र समाधान है। स्वयं भगवान्को . . . युद्ध करना चाहिये।

(मौन)

पिछली बार, आपने कहा था कि मनुष्योंके सचेतन रूपसे भगवान्की ओर मुड़नेमें सैकड़ों, शायद हजारों साल लग जायेंगे। लेकिन . . .

शायद नहीं।

. . . ऐसा लगता है कि इस बार कोई निर्णायक चीज आकर रहेगी।

हां . . .। जानते हो, मुझे लगता है कि व्यक्ति ध्यानको एकाग्र करनेके लिये प्रतिमाकी तरह है। लोगोंको किसी चीजकी जरूरत है — उन्हें हमेशा अपने आयामकी किसी चीजकी जरूरत रही है, ताकि वे उसपर अपना ध्यान केंद्रित कर सकें। तो यह शरीर अपनी ओरसे यथासंभव पूरी कोशिश करता है कि वह 'भागवत शक्ति' के मार्गमें रुकावट न बने। वह शक्ति उसमेंसे गुजरती है, उसकी रुकावटोंको रद्द करती है और साथ ही . . . ऐसा बनाती है कि मानों वह एक प्रतिमा हो जिसकी लोगोंको अपना ध्यान केंद्रित करनेके लिये जरूरत है।

४ नवंबर, १९७२

समस्त अवचेतना ... (नीचेसे उभरनेकी मुद्रा)।

(मौन)

यह संवेदन नहीं है, यह ज्ञान नहीं है, यह एक प्रकारका ... (माताजी हाथोंसे हवाको टटोलती हैं) ... इसे विश्वास नहीं कहा जा सकता : यह एक निश्चिति है — बोधमें निश्चिति — कि एक 'आनंद' है जो ... जो हमारे लिये तैयार है, और अवचेतनामें परस्पर विरोधोंका एक पूरा जगत् दबा हुआ है जो इस तरह ऊपर उभरता है कि हमें उसका अनुभव न हो। फिर ... कहा जा सकता है कि यह एक रणक्षेत्र है, परंतु पूर्णतः शांत। इसका वर्णन करना असंभव है।

वर्णन असंभव है।

तो अगर मैं हिलूं-डुलूं नहीं और इस 'चेतना' में प्रवेश कर जाऊं तो समय बहुत अधिक तेजीसे और ... एक प्रकारकी उज्ज्वल शांतिमें बीत जाता है। और जब कोई छोटी-सी चीज भी मुझे बाहर खींचती है तो लगता है कि मुझे नरकमें घसीटा जा रहा है। ऐसा है यह।

बेचैनी इतनी अधिक होती है कि यह लगता है कि इस तरह तुम एक मिनट या कुछ मिनट भी नहीं जी सकते। और फिर ... और फिर तुम भगवान्‌को बुलाते हो ...। तब तुम्हें लगता है कि तुम भगवान्‌की भुजाओंमें हो।

तब सब ठीक होता है।

८ नवंबर, १९७२

मुझे क्षण-भरके लिये — कुछ ही सेकंडोंके लिये — अतिमानस-चेतना प्राप्त हुई थी। वत्स, वह अद्भुत चीज थी! ... मैं समझ गयी हूं कि अगर अभी हमें उसका स्वाद मिल जाय तो हम उसके बिना रहना पसंद न करेंगे। और हम ... (गूंधनेकी मुद्रा), अभी मेहनतके साथ बदलनेके

पथपर हैं। और परिवर्तन, बदलनेकी प्रक्रिया, ऐसा लगता है कि . . .। उसे एक प्रकारकी उदासीनतासे पाया जा सकता है (पता नहीं, इसे कैसे कहा जाय)। परंतु यह अधिक टिकता नहीं। और साधारणत: यह श्रमसाध्य है।

लेकिन वह चेतना, वह ऐसी अद्‌भुत है, समझे!

और यह बहुत मजेदार है, मानों पूर्ण शांतिमें **अधिकतम** क्रियाशीलता हो। लेकिन वह चीज रही कुछ सेकंड ही।

(मौन)

और तुम?

और यह समग्र चेतना है?

वह असाधारण है। वह मानों परस्पर-विरोधोंका सामंजस्य है। एक समग्र, विस्मयकारी क्रियाशीलता और पूर्ण शांति।

लेकिन यह सब शब्द हैं।

(मौन)

यह भौतिक चेतना है?

यह क्रिया भौतिक क्रिया है—लेकिन उसी तरहसे नहीं, क्यों, है न?

(मौन)

उसके साथ ज्यादा आसानीसे कैसे संपर्क किया जा सकता है? वहांतक कैसे पहुंचा या वहां रहा जा सकता है?

मुझे नहीं मालूम, क्योंकि, मेरे लिये तो, **समग्र** चेतना, जिसमें शरीरकी चेतना भी आ गयी (निवेदनकी मुद्रा), सदा . . . उसकी ओर मुड़ी रहती है जिसे वह भगवान् समझती है।

और वह भी बिना "कोशिश" के, समझे?

जी हां, जी हां।

२० दिसंबर, १९७२

तुम्हें कुछ नहीं पूछना?

> **मैंने अपने-आपसे श्रीअरविन्दके बारेमें एक प्रश्न पूछा। मैं यह जानना चाहता था कि जब श्रीअरविन्दने शरीर त्यागा तो वे रूपांतरके किस बिंदुतक पहुंच चुके थे? उदाहरणके लिये, वे उस समय जो काम कर रहे थे उसमें, और आप अब जो काम कर रही हैं उसमें, क्या फर्क है?**

उन्होंने अपने शरीरमें अतिमानस-शक्तिकी बहुत-सी राशि इकट्ठी कर ली थी और जैसे ही उन्होंने शरीर छोड़ा...। वे अपने बिस्तरपर लेटे हुए थे, मैं उनके पास खड़ी थी, एक बहुत ही मूर्त्त और ठोस रूपमें — इतने ठोस संवेदनके साथ कि ऐसा लगता था कि शायद वह दिखलायी दे — वह सारी अतिमानसिक शक्ति जो उनके शरीरमें थी मेरे शरीरमें आ गयी। मुझे उसके मार्गकी रगड़का अनुभव हुआ। वह असाधारण चीज थी — असाधारण। वह एक असाधारण अनुभूति थी। लंबे समयतक, लंबे समयतक यूं (माताजीके शरीरमें 'शक्ति'के प्रवेशकी मुद्रा)। मैं उनके बिस्तरके पास खड़ी थी और यह होता रहा।

यह लगभग संवेदन था — यह एक भौतिक संवेदन था।

बहुत देरतक।

बस, मैं यही जानती हूं।

> **लेकिन मैं जो बात समझना चाहता हूं वह यह है कि तब आंतरिक काम किस बिंदुतक पहुंचा था, उदाहरणके लिये, अवचेतनाकी सफाई और यह सब कहांतक हुए थे? उस समय उन्होंने जितना काम किया था और अब आप जहांतक पहुंची हैं, इन दोनोंमें क्या फर्क है? मेरा मतलब है: क्या अवचेतना अब कम अवचेतन है या...?**

हां, हां, निश्चय ही। निश्चय ही।

लेकिन यह देखनेकी मानसिक पद्धति है — अब मेरे अंदर यह नहीं रही।

जी, माताजी।

(मौन)

शायद इस 'शक्ति'की, इस 'ऊर्जा'की सामान्य या सामूहिक तीव्रतामें फर्क होगा, है न?

क्रियाकी **शक्ति**में फर्क है। स्वयं उनमें, स्वयं उनमें जब वे सशरीर थे तबकी अपेक्षा अधिक क्रिया, अधिक क्रिया-शक्ति है। और फिर, इसीके लिये तो उन्होंने शरीर छोड़ा था, क्योंकि इस तरह काम करनेके लिये यह जरूरी था।

यह बहुत ठोस है। उनकी क्रिया अब बहुत ठोस हो गयी है। स्पष्ट है कि यह एक ऐसी चीज है जो मानसिक नहीं है। वह और क्षेत्रकी है। लेकिन वह वायवीय भी नहीं है — वह ठोस है। हम लगभग यहांतक कह सकते हैं कि वह भौतिक है।

लेकिन यह जो दूसरा क्षेत्र है, मैंने बहुत बार अपने-आपसे पूछा है कि वहांतक पहुंचनेके लिये कौन-सी सच्ची गति करनी चाहिये? दो गतियां संभव हैं: अंदरकी ओर, अंतरात्माकी ओर गति और दूसरी, जिसमें व्यक्तित्वका निराकरण कर दिया जाता है, आदमी व्यक्तित्वके बिना विस्तारमें होता है...

दोनों होनी चाहिये।

दोनों होनी चाहिये?

हां।

(माताजी अपने अंदर चली जाती हैं)

३० दिसंबर, १९७२

हां, तो नया वर्ष आ रहा है...

क्या आप नये वर्षके लिये कुछ अनुभव करती हैं?

(मौनके बाद) वस्तुओंने एक उग्र रूप ले लिया है। ऐसा लगता है मानों सारा वातावरण ऊपरकी ओर, वैभवकी ओर उठ रहा हो... उसके बारेमें सोचा भी नहीं जा सकता और साथ ही यह भाव भी है कि किसी भी क्षण... मृत्यु हो जाय — "मृत्यु" नहीं, शरीर विघटित हो सकता है। दोनों एक साथ मिलकर एक चेतना बनाते हैं (माताजी सिर हिलाती हैं) ...सभी पुरानी चीजें, कमजोर बचकानी, अचेतन मालूम होती हैं — और अंदर... वह दुर्जेय और अद्भुत है।

तो शरीरकी, देहकी एक ही प्रार्थना है — और हमेशा वही एक:

मुझे इस योग्य बनाओ कि मैं तुम्हें जान सकूं।
मुझे अपनी सेवाके योग्य बनाओ।
मुझे 'तुम' बननेके योग्य बनाओ।

तो बस, यही है।

मैं अपने अंदर एक बढ़ती हुई शक्तिका अनुभव करती हूं... लेकिन वह नयी तरहकी है... मौन और मननमें।

कुछ भी असंभव नहीं है (माताजी दोनों हाथ ऊपरकी ओर खोलती हैं)।

(मौन)

तो अगर तुम्हारे पास कोई प्रश्न नहीं है...। अगर तुम मौन चाहते हो... सचेतन नीरवता...?

लेकिन पता नहीं कि मैं ठीक गति कर रहा हूं या नहीं?

(कुछ देर मौनके बाद) लेकिन जब तुम भगवान्‌के साथ संबंध जोड़ना चाहते हो तो कौन-सी गति करते हो?

मैं अपने-आपको आपके चरणोंमें रख देता हूं।

(माताजी मुस्कराती हैं और ध्यानमें चली जाती हैं)

७ फरवरी, १९७३

मिथ्यात्वके लिये केवल एक ही समाधान है:
हमारी चेतनामें जो कुछ भगवान्‌की उपस्थितिका निषेध करे, उससे अपने-आपको मुक्त करना।

३१.१२.१९७२

हां, मैं इसपर आग्रह करती हूं; यह बहुत सत्य है — बहुत सत्य। हो सकता है इसे समझना आसान न हो, परंतु यह **बहुत गभीर** सत्य है।
हमारे अंदर जो कुछ भी भगवान्‌को छिपाता है, विकृत करता और उनकी अभिव्यक्तिको रोकता है वह वही है — मिथ्यात्व।

यह तो बड़ा परिश्रम है!

मैं सारे समय यही तो करती रही हूं — हर रोज, सारे दिन, तब भी जब मैं लोगोंसे मिलती हूं। यही एकमात्र चीज है जिसके लिये जिया जा सकता है।

१० मार्च, १९७३

पता नहीं, जब कभी मैं इस नयी चेतनाके संपर्कमें आनेकी कोशिश करता हूं तो मुझे हमेशा ऐसा लगता हं, जैसा आप कहती हैं कि एक ज्योतिर्मय विस्तार है।

हां।

लेकिन मुझे लगता है कि वह हिलता-डुलता नहीं। हम वहां हैं और अनंत कालतक रह सकते हैं। लेकिन...

ऐसा ही है, मुझे यही लगता है।

क्या इतना काफी है कि 'वह' हमारे अंदर भरता जाय, और कुछ करनेकी जरूरत नहीं?

मेरा ख्याल है, मेरा ख्याल है कि यही एकमात्र चीज है। मैं हमेशा दोहराती रहती हूं: "जैसा 'तुम' चाहो, जैसा 'तुम' चाहो, जैसा 'तुम' चाहो...। जैसा 'तुम' चाहो वैसा ही हो, मैं वही करूं जो 'तुम' चाहो। 'तुम' जो कुछ चाहो, मैं उसके बारेमें सचेतन होऊं।

और यह भी: 'तुम्हारे' बिना मृत्यु है; 'तुम्हारे' साथ जीवन। "मृत्यु"-से मेरा मतलब भौतिक मृत्यु नहीं है — यह हो सकता है; हो सकता है कि अब अगर मैं संपर्क खो दूं तो अंत आ जाय, पर यह असंभव है! मुझे लगता है कि यह... कि मैं **वह हूं** — वर्तमान चेतनामें अभीतक चाहे जितनी भी बाधाएं हों, उन सबके साथ सबके होते हुए मैं वह हूं। और बस। और तब, जब मैं किसीको देखती हूं... (माताजी हाथ खोलती हैं मानों उस व्यक्तिको 'ज्योति' के अर्पण कर रही हैं), वह चाहे कोई क्यों न हो: इस तरह (वही मुद्रा)।

(मौन)

सारे समय (यह मजेदार है), सारे समय मुझे लगता है कि मैं एक छोटी-सी बच्ची हूं जो दुबकी हुई है — अंदर दुबकी हुई है... (कैसे कहा जाय?) ... **सर्वग्राही** दिव्य चेतनामें दुबकी हुई है।

विषय-अनुक्रमणिका

अंधकार ६९, ९८, १५५, १५७

अज्ञान ३८, ६९, १०१

अतिमानव [अतिमानव सत्ता, नयी सत्ता]

-ों, ईसामसीहों, कल्कियोंकी बाढ़-सी ८०

क्या आकाशसे टपकेगी ? ६५-६

का आगमन व अभिव्यक्ति ८७

की मानवसे भिन्नता : सीमित रूप-को खोये बिना परम चेतनाके साथ तादात्म्य ११७, २४९

पहले शक्तिकी सत्ता होगा १३९ (दे० 'अतिमानस' भी)

देखनेमें कैसा होगा २१६, २७०-७५ (दे० 'अतिमानस' भी)

-ओंके लिये सुरक्षा और बचावका साधन : 'नयी शक्ति' २८३

(दे० 'चैत्य पुरुष', 'मनुष्य', 'श्री-अरविंद' भी)

अतिमानव चेतना

का अवतरण १ जनवरी, ६९ को १३३-४४; इसका शरीरपर प्रभाव १३५-४३; मनपर प्रभाव १४०-४१

चली गयी क्योंकि मैं बहुत व्यस्त थी १४१, १४२

सूचना :

ऐसे पढ़ें :

कठिनाई	**जानना**	**दूसरे**	**श्रीमाताजीका शरीर**
-यां, भौतिक	से	-ोंको	की
भौतिक कठिनाइयां	जाननेसे	दूसरोंको	श्रीमाताजीके शरीरकी

(२) जिन वाक्योंके केवल शुरूमें (') है, वह अपने-आपमें पूरा वाक्य है। उन्हें मूल शब्दके साथ मिलाकर न पढ़ें।

(३) कहीं-कहीं अधिक स्पष्टताके लिये लिखा है :

(दे० 'चेतना' अब भी), इसका मतलब है **चेतना** के नीचेका वह वाक्य जो अब से शुरू होता है।

(४) पृष्ठसंख्याके बाद अ का मतलब है कि वह प्रसंग उस पृष्ठके अंतसे शुरू होकर, बस, अगले पृष्ठके आरंभतक ही गया है।

(५) जहां वाक्य-रचना मूल शब्दके साथ संगत न जान पड़े, वहां मूल शब्दके आगे कोष्ठमें जो शब्द दिया गया है उसके साथ मिलाकर पढ़नेसे वह संगत बन जायगी।

'इस नयी चेतनाकी विशिष्टता १४३
'यह दुर्जेय 'शक्ति' करुणासे भरी है.. इसपर एकाग्र रहना आनंदपूर्ण है १४४
की जीत २१०
को आये चौदहवां महीना २११
अतिमानस [अतिमन]
को जबर्दस्ती खींचना १९-२१
का पहला प्राकट्य शक्तिरूपमें ४७अ (दे० 'अतिमानव' भी)
भौतिक रूपमें कैसा होगा १३६
का जाननेका तरीका २२१
को धरतीपर प्रकट होनेके लिये भौतिक मनको.. २५२, २५६
की उपस्थिति स्थायी तभी, जब वह शरीर-मनमें.. २६४
के लिये मनको नीरव.. २७९
सृष्टिको उच्चतर 'शक्ति' के प्रति संवेदनशील.. २८३
की क्रियाके लिये आवश्यक शर्त्त : अहंके राज्यका लोप २८४ (दे० 'धर्म', 'भागवत चेतना', 'श्रीअरविंद' भी)
अतिमानसिक अभिव्यक्ति १८२
अतिमानसिक क्रिया
की शक्तिमें फर्क है २९४
अतिमानसिक चेतना [सत्य चेतना]
अपने-आपको निरंतर रूपमें प्रकट क्यों नहीं करती २अ
में शुभ-अशुभका भेद नहीं ९९, १८९, १९२
में काफी लंबे समयतक रहनेसे पीड़ा ही नहीं, रूप-रंग भी गायब हो जाता है १२२
की ओर लौटना, अगला कदम १४९
में निवास, यही काफी है, जो कुछ बदलना है.. १८५
का पहला अवतरण २९ ता० को, और आज १९ नवंबर १९६९ है १८७
में दो विरोधी चीजें जुड़ती हैं तो उनकी प्रकृति बदल जाती है १९२टि०
की दृष्टि दे० 'भगवान्'
में भूत-भविष्य-वर्तमान २६०
का यदि हमें स्वाद मिल जाय तो हम उसके बिना रहना पसंद न करेंगे २९१
पूर्ण शांतिमें अधिकतम क्रियाशीलता है, समग्र चेतना है, परस्पर-विरोधोंका सामंजस्य है २९२
के साथ संपर्क कैसे? २९२
(दे० 'नयी चेतना', 'काम', 'जीवन', 'समग्र' की, 'श्रीमाताजीकी अनुभूति' भी)
अतिमानसिक तीव्रता
और प्राणकी तीव्रता ११९
अतिमानसिक पूर्णता १०१
अतिमानसिक भौतिक शरीर
के बारेमें ४१-८
बनानेकी समस्या २४३-४४
की रचनाका तरीका २६८
अतिमानसिक यथार्थता
का अब निर्माण हो रहा है ११९
और मानसिक यथार्थता ११९
अतिमानसिक व्यक्तित्व १३५

अतिमानसिक शक्ति
की क्रिया ही शरीरमें 'दुःख-कष्ट' के रूपमें अनूदित ३७
(दे० 'रूपांतर' भी)
को धरतीपर लानेका श्रेय १३६
(दे० 'श्रीमाताजीका शरीर', 'नयी शक्ति' भी)
अतिमानसिक सृष्टि [दिव्य सृष्टि]
का अंतर्दर्शन २१-७, ७०
का प्रवाह : माताजीके कुछ नोट १०५-१५
का मार्ग तैयार करनेके लिये हम यहां हैं २७५-७६
अधीरता [बेचैनी] १२, ७९, १७७
'जल्दबाजी १९-२०
मानवजातिको तैयार करनेकी २३-४
अनुभूति
में मनका हस्तक्षेप, वह व्यक्त करनेके साथ ही .. १९, ४०, १००, १०१, १०९-१०, ११७, १४५, १९३
को चेतनाकी पुरानी अवस्थामें अनूदित करना १७५
(दे० 'श्रीमाताजीकी अनुभूति', 'श्रीमाताजीका शरीर', 'काम', 'जीवन', 'भगवान्', 'भय' भी)
अपमान ४९
अभीप्सा
'प्रगतिकी, अपनेको रूपांतरित करनेकी, दिव्य 'सत्य' की प्यास-को अगर रख सको .. ६
और पुकारमें तीव्रता पीड़ाके द्वारा ३८
तीव्र=अतिमानसिक स्पंदन १७४
सच्ची, से चिपके रहो, यही एक सुरक्षा है २३७
जरा-सी सच्ची, के चमत्कारिक परिणाम २८२
(दे० 'खींचना', 'निश्चलता', 'प्रकाश', 'भगवान्', 'मनुष्य' भी)
अमरता १६, ४४, ४५, ४६, ४८, १३२, १७६
अलगाव दे० 'विभाजन'
अवचेतना
पराजयवादी, मृत्युके कारण २५७
में जो काम किया जा रहा है २५७
में पिछले प्रलयोंकी स्मृति २७९
में सत्यकी शक्ति" : फूल २८९
में सब प्रकारके विरोध दबे हैं, ये जब उभरते हैं २८९, २९१
की सफाईका कहीं अंत नहीं, उसे रोकनेका अर्थ है काम बंद कर देना २८९अ
की सफाईका उपाय २९०
एक रणक्षेत्र है, पर पूर्णतः शांत, इसका वर्णन असंभव २९१
क्या अब कम अवचेतन है ? २९३
(दे० 'प्रतिरोध', 'मूढ़ता', 'शांति', 'समय' भी)
अवतरण १३२
पहलेका, मानसिक था, यह अति-मानसिक है ८७
"आगमन" हमारे अनुवाद हैं, परम प्रभुके सिवाय कुछ भी तो नहीं है १२४

२१ फरवरी, ७२ का : वांछित प्रगतिके लिये भयंकर दबाव २६७, २७७टि०
अतिमानसिक लोकका २८४
(दे० 'अतिमानसिक चेतना', 'अतिमानव चेतना', 'रूपांतर' भी)

अव्यवस्था
दीखनेवाली, अधिक पूर्णताकी ओर ले जायगी १२७, १५१
(दे० 'जगत्', 'शांति', 'श्रीमाताजीका शरीर' भी)

अशुभ
का उपचार ३९
(दे० 'दोष', 'शुभ-अशुभ' भी)

असंभव [असंभावना] १४३
का अंत हो गया २२१, २८४
(दे० 'संभव' भी)

असफलता २
जरा-सी और **उसकी** जरा-सी बूंद, दो सिरे हैं ७८

असुर ज्येष्ठ देवता १९०टि०

अहं [अहंकार] १५०
'अपनी ओर मुड़ना ४८, ६७, १८७
को ही धक्का या चोट ५०
से व्यक्तित्वकी भ्रांति ५०
भौतिक, का स्थान जो चीज लेगी ५३
को जाना चाहिये १७१, १९५-९६, २८४
भौतिक, का विलोप संभव १७१
की उपस्थितिकी वृत्ति या अहंके लोपकी वृत्ति १९९
'पृथक् अस्तित्व [पृथक् व्यक्तित्व] का भाव २०३, २३५
चाहता है, उसे सच्ची सत्ता मान लिया जाय २३५
साधन था, अब बेकार है २३५
-मय रूपसे अपने अंदर होनेसे हर चीजमें होना ज्यादा अच्छा है, पर यह परम सत्य नहीं २६०
से कहो : 'तुम्हारा समय बीत गया' २७६
के स्थानपर दिव्य चेतना आनी चाहिये २७६, २८४
(दे० 'खींचना', 'भौतिक द्रव्य', 'मूढ़ता', 'वृत्ति', 'व्यक्ति' यदि भी)

आ

आत्म-निवेदन १३, २०१, २६९, २८६

आत्म-दान दे० 'मानव जाति' देना

आत्महत्या १६१

आध्यात्मिकता
पुरानी, पर अब . . ७, २८, ८३, ८६, ११७, २०७-८, २०९
सच्ची, **बहुत** सरल २२९

आध्यात्मिक मार्ग ५४

आनंद १४४
'प्रसन्नता या हर्षके साथ संबंध बनानेकी क्षमता एक कदम ऊपर उठ जायगी २५
'तुझे' अनुभव करनेका २४३
(दे० 'अतिमानव चेतना', 'निर्णय', 'परिस्थिति', 'पीड़ा,' 'वृत्ति', 'सत्ता' भी)

आश्रम
पर आक्रमणकी, ११ फरवरीकी, घटनाका प्रतीक स्वप्न ८-९
(दे० 'रूपांतर' की दिशा भी)
आश्रमवासी
'हम, हमारी उत्कृष्ट मानवताका पुष्प हैं १३६
'हममेंसे हरेकको अंतमें सब कठिनाइयोंका सामना करना होगा, लेकिन यह भागवत कृपा है १३७
जो आरामसे रहनेके लिये.. एक प्रकारका 'प्रदर्शन'.. २२९
'हम इस समय यहां, धरतीपर, क्यों हैं २७५, २७६
'तुम्हें जो करना चाहिये २७६

इ

इच्छा [कामना]
कि आरामसे, शांतिसे रहें १३
जैसी तेरी ८०, १४२, १५१, १५४ १९५, १९८, २०१, २१०, २११, २१८, २४८, २६२, २६६, २८०, २८८, २८९, २९७ (दे० 'श्रीमाताजीके शरीर' का समर्पण भी)
पसंद, आकर्षण-विकर्षण जहां नहीं वह स्थिति १६९
-ओंके गायब होनेके साथ **सभी** तकलीफें गायब २०१
कष्ट न झेलनेकी २०१
ईर्ष्या १८३

उ

उदाहरण
'चाबुककी मार [मार] २, ३८
'सीपमें बंद ५, २९
'फोटोके स्पंदन पढ़ानेवालेके, व्यापारीके नहीं ११
'शरीरसे धीर, मजबूत लोग १७
'दो बच्चे एक-ही-से नहीं १७
'पोषण, फूल सूंघकर २६
'एक गुह्यवादी महिलाकी आंख प्राणिक युद्धमें जाती रही ३३
'व्यक्ति और उसके चित्रमें, तथ्य और सुनायी कहानीमें जो भेद ४०
'योगी, जो शारीरिक रूपांतरकी शिक्षा देता था, पर..४१
'कुछ लोग गिरना जानते हैं ५१
'सब रंग, परतोंमें नहीं, बिंदुओंके रूपमें ५२
'मैं एक अच्छा बच्चा हूं, सृष्टिको मेरे लिये भला होना चाहिये ६९, ७१
'केंचुएकी समस्याएं ७१
'कंकरमें भी संगठन ८५
'सवेरे दाढ़ी बनाना ८८, ८९
'बक्समेंसे चीजें निकालना ८९
'काला और सफेद, दिन और रात १०१, १७९
'बालूका कण [कण] १२४, २६१
'दो आयामवाला चित्र १४६
'बच्चे जैसी सरलता १६९, २५४
''क' के घुटनेमें चोट १८८
''क' को कड़ा पत्र १९५

' 'क' गुजर गयी, आपरेशनके बाद अच्छी होकर, 'ज' के साथ भी ऐसा ही हुआ २०५
' 'क' सामने थी, उसके चैत्य-पुरुषको देखा २१५
'राक्षस, डायनकी तरह पंजे फैलाये पकड़नेकी .. २३४अ
'राज्य-प्रमुख या भंगी २४०
'पेड़ोंकी छाल, कछुएके खपड़े २४६
'मकड़ीका जाला २५१
'चित्र और उसका प्रक्षेपण २६०
'बच्चा कपड़ेमें लिपटा २६५, २६६
'ग्लुकोज २७२
' 'क' ने कहा था : यह सातवीं और अंतिम अभिव्यक्ति है २७९
'मानों एक बच्चा मनके सिरपर बैठा खेल रहा है २७९, २८०
'आदमी मरते-मरते बचा लिये जाते हैं, जटिल चीजें अचानक सुलझ जाती हैं २८१
(दे० 'श्रीअरविंद', 'श्रीमाताजी', 'दमन', 'निद्रा', 'पशु', 'फूल', 'मनुष्य', 'संगीत', 'स्वप्न', नामानुक्रमणिका भी)

ए-ओ-औ

एकीकरण
समस्त सत्ताका २६१, २६२-३
ऐक्य ५१
समग्र, की ओर १४८-४९
परम प्रभुका १७९
=शक्ति और आराम मिलकर १८१, १८२
अतिमानसिक चेतनाका १८४
(दे० 'चेतना', 'जीना', 'निश्चेतना' भी)
ओरोवील १५६, २१६
औषध [दवाई]
की शक्ति विश्वासमें २०५

क

कठिनाई २९, २११
-यां, भौतिक, बढ़ गयी हैं १
-यां लोग पैदा करते हैं ६०
हर, एक विशेष समस्या है, तुम सामान्य नियम नहीं बना सकते १९०
विरोध आदि सब तेजीसे आगे बढ़ानेके लिये आते हैं १९७
-यां, दुर्भाग्य, सब सहायता करनेके लिये **ठीक** समय पर आते हैं २२४
-योंका कारण और इलाज २५८-५९
(दे० 'आश्रमवासी', 'चीज', 'दु:ख-कष्ट', 'प्रतिरोध', 'भौतिक द्रव्य', 'भौतिक मन', 'रूपांतर', 'हस्तांतरण' भी)
कपट [ढोंग] ७४-५, ७९, २१७
'लोग कपटी क्यों २६२
(दे० 'धोखा देना' भी)
करुणा [दया] २७, १४२, १४४
कला १५६, १५७, २०३, २०४
काम
सारा भौतिक, उस चेतनामें किया जा सकता है १८३, १८५

पहला : यंत्र तैयार करना २३१
(दे० 'घोषणा', 'चेतना' अब, 'सचाई', 'समय' भी)
काम (भौतिक रूपांतरका)
इतना तेज होना चाहिये कि अनुभूतिका मजा लेनेका समय न रहे ३०
कठिन है, सरल नहीं ६३, १५१, १७६, २०९, २५२
बहुत करना बाकी है ७६, ७७, ७८-८२, ८६
जो हो रहा है उसे यदि सुनाने बैठूं ..७९
को पूरा संतोषप्रद व एक तथ्यके रूपमें स्थापित होनेके लिये ७९, ८१
करनेके लिये बालककी तरह तरोताजा होना चाहिये ९१
बहुत श्रमसाध्य होता जा रहा है, यह प्रशिक्षणका भाग है १४३
में लगे रहना चाहिये १६०
(दे० 'प्रयास', 'अवचेतना', 'श्रीमाताजी', 'श्रीमाताजीका शरीर', 'आश्रमवासी' भी)
कामना दे० 'इच्छा'
काल दे० 'श्रीमाताजी', 'देश और काल'
क्रोध [कोप, गुस्सा] १४३
न्यायसंगत ११५

ख-ग-घ

खींचना
ऊपरसे २०-१, १९६
अहंकारपूर्ण गति है २१
और सच्ची अभीप्सा २१
खेल [लीला] ३६, १४६, १४८
गति
अस्वीकृतिकी १२, १९३
अब, प्रत्येक भागमें समग्र चेतनाको पानेकी ओर है १०२
की तीव्रता गति-शून्यताका संस्कार पैदा करती है १४६, १७६, २१४
त्याज्य, को दूर कैसे करें १९०-९३
ग्रहणशीलता २, ५, ८५, १२६, २२८, २२९, २४६, २४७, २४८, २६७टि०, २८४, २८५
घोषणा ८३, २२७
-एं नहीं, अब क्रियाकी ओर ८१

च

चंद्रमा १६०
चमत्कार २०, ४३, ७६, १५२, १८६, २१२, २८१
चिंता १३, ४०, १९७, २००, २११, २८७
(दे० 'श्रीमाताजीका शरीर' भी)
चिकित्सा-विज्ञान २०४
चित्रकारी दे० 'संगीत'
चीज
कोई भी, जैसीकी वैसी नहीं बनी रह सकती ७०
को एक ही रूपमें दो व्यक्ति नहीं देखते ७२

ऐसी कोई, नहीं जिसमें सत्ताका आनंद न हो ९९
एक, का स्वीकार, दूसरीका त्याग नहीं; सबको एक साथ होना चाहिये १०१
-ों, भयानक और हानिकर, को महत्त्व देकर तुम उनकी शक्ति बढ़ाते हो १६६
-ोंके देखनेकी, उनके बारेमें सोचने-की यह आवश्यकता शुद्ध रूपसे मानवीय है २४१
-ोंका अस्तित्व केंद्रके संबंधसे या अपने-आपमें २५१
-ोंके प्रति हमारी प्रतिक्रियासे ही कठिनाइयां; प्रतिक्रियाकी तीन श्रेणियां २५८-५९.
(दे० 'मनुष्य' भी)

चुनाव दे० 'जीवन'

चेतना
की शक्ति बढ़ गयी है १
अब, एक बड़ी मात्रामें है, काम ज्यादा तेजीसे चल रहा है ७७
(दे० 'भागवत चेतना' भी)
सच्ची, दोनों स्थितियोंकी युगपत्-तामें है १०३; यह चेतना ही परम शक्ति है १०३
के पलटने-भरसे सब — कुरूपता, मिथ्यात्व, पीड़ा — अद्भुत वस्तुमें बदल सकता है १२२, १३०, २५९ (दे० 'वृत्ति', 'परिस्थिति' भी)
वक्षमें स्थित है १२५
एक ही समयमें हर चीजकी युगपत् १२७, २१४
निश्चेतना बन गयी १४५
की वह स्थिति जिसमें आदमी दुनियाको बदल सकता है, स्वयं यंत्र बन जाता है..हर क्षण जो करना चाहिये वही करते हो..शरीरकी पीड़ाएं गायब हो जाती हैं १६७, १६९
का हर बिंदु अपने बारेमें **और** साथ ही मूलगत 'ऐक्य' के बारेमें सचेतन हो १७९-८० (दे० 'समग्र' भी)
हमारी, सत्यचेतनाका अनुकूलन है २४१
जो व्यक्तिगत और समग्र दोनों एक साथ हो २४९-५०
(दे० 'अतिमानव' भी)
व्यक्तिगत, मिथ्यात्व नहीं है २४९
का परिवर्तन होना चाहिये, कोषाणुओंकी चेतनाका भी २५५
और विचार : भेद २८६
(दे० 'जानना', 'मनुष्य', 'शरीर', 'श्रीमाताजीका शरीर', 'संगीत' भी)

चैत्यपुरुष
से जो सचेतन हैं उनके लिये अपने-आपको धोखा देना संभव नहीं ११६
का उत्तर और मनका उत्तर ११६
ही अतिमानव सत्ता बन जायगा २१५-१६; इसका अर्थ होगा मृत्युका विलोपन २१७
को सारी सत्तापर शासन करना चाहिये २५३, २६२-६३

(दे० 'श्रीमाताजीका शरीर', 'श्रीमाताजी' भी)

ज

जगत्
की वर्तमान स्थिति सूचक कि एक असाधारण शक्ति काममें लगी है १
लीलामय भगवान् 'है' ३७
में सत्यका विधान खुले तौरपर अभिव्यक्त नहीं . . ६९
मेंसे अज्ञान-अंधकार लुप्त होनेकी ओर ६९
को देखनेका तरीका ६९, २४१, २५९
हमेशा बदलता रहता है ७०
एक प्रहसन है जो भगवान् अपने-आपसे खेल रहे हैं १२२
'भ्रांति' है, का सिद्धांत १५३, १५५
की अव्यवस्था हमें सिखाती है कि किस चेतनामें जीना १६६-६७
को योगियोंने मिथ्या क्यों कहा १७६
में अव्यवस्थाका कारण २०२
में कुछ परिवर्तन हुआ है २०८
से भागना दे० 'आध्यात्मिकता' पुरानी
युगपत् बोधोंका २१४ (दे० 'चेतना' भी)
भयंकर स्थितिमें है, २२६, २३०
में अव्यवस्था जिन्होंने पैदा की है उन्हींकी सहायतासे व्यवस्था फिरसे लायी जाय २३०
लुप्त हो जाय यदि भगवान्में मनुष्य जैसी प्रतिक्रिया हो २३६
(दे० 'सृष्टि', 'नया जगत्', 'सत्य' भी)
जगत् (सूक्ष्म भौतिक)
: वर्णन ७१-३
के स्वप्नोंकी स्मृति ७३-४
(दे० 'सामंजस्य' भी)
जड़ता १७२
और रूपांतर १७८, १८१, १८२
(दे० 'सृष्टि' भी)
जड़ द्रव्य दे० 'भौतिक द्रव्य'
जनम एक 'रेचन' है १९१
जानना [समझना]
का तरीका : स्पंदन ९-११, १३
'समान ही समानको जान सकता है ५९
से शक्ति आती है ९९
का एकमात्र तरीका : चेतना १२६, १७५
चीजोंको दे० 'दृष्टि', 'निर्णय'
का साधन : तादात्म्य २२१
(दे० 'शरीर' भी)
जीना १०३
शांतिको ८
पूर्ण 'ऐक्य' में ५१, १६६, १८४
सत्यको ६९, २३३
ऊर्ध्वमुखतामें १६६
भगवान्के लिये, भगवान्के द्वारा, भगवान् बनकर २३५
भगवान्में और मानव चेतनामें २४३, २६१
(दे० 'मिथ्यात्व', 'विरोध' भी)

जीवन
की अवास्तविकता और शाश्वतता चुनाव मात्र १५
के सभी रूप, एक चुनाव २७-९
की अवास्तविकताकी अनुभूति २८, ३६; इससे घबरानेवाले बहुत हैं १६३
की जटिलताके लिये विनोद-भरी मुस्कान २८, ५१
को प्रभुकी लीलाके रूपमें देखना ३६-७
को लंबाया जा सकता है ४५, ४८, ९६, २७४
जैसा है वैसा जिया जा सकता है उस **चेतना**में १८५
का बोध, भागवत दृष्टिकी तुलनामें २१४
इस ओर, और दूसरी ओरका २३९-४०
अद्‌भुत और भयंकर एक ही समय २४२
दिव्य, की चाह और उससे डर भी, इस जीवनसे विरक्ति और चिपक भी २७९
(दे० 'भगवान्' की दृष्टि, 'भौतिक जीवन' भी)

ड-त-थ

डटे रहना [टिकना]
चाहिये १, ३, ७, १४३, १५५, २५६टि०
का उपाय : शांत-स्थिरता ७, १२
तमस् २, ५, ३७
त्याग दे० 'गति', 'चीज', 'भगवान्' की उपस्थिति
थकान
कौन-सी चीज लाती है १०४
किन लोगोंसे मिलनेसे १०४

द

दमन
की गयी चीजें बच्चोंमें प्रकट १९१
का कारण १९२
दिखावा १९९, २८६
दिसंबर, २५ 'ज्योति' पर्व २५८
दुःख-कष्ट [दुःख-दर्द] २, २०१
का कारण ३७, १४८, १८५
शारीरिक, और प्राणिक, मानसिक कष्ट ३८
का अनुभव भागवत चेतनाको १२७
आनंदकी तैयारी है १२८
और दुःख-दर्द पहुंचानेकी इच्छा, अभिव्यक्तिकी यह दिशा 'क्यों' १५९, १७८
(दे० 'निर्णय', 'पीड़ा', 'विभीषिका', 'श्रीमाताजीका शरीर' भी)
दुर्घटना २६७
दुर्भावना ३३, ३८, ७५, २३५, २६८, २८१, २८९
दूसरे
-ोंको रूपांतर के प्रयासमें भाग लेनेके लिये प्रभावित करना २२
उसी तरह सोचें-समझें जैसे हम २६-७
को समझाना १२६
-ोंकी चेतनामें अगर रहो २५९

(दे० 'दोष', 'निर्णय', 'पूर्णता' भी)
दृष्टि
हमारी ६९-७०, १६६, २०१, २३१ (दे० 'निर्णय' भी)
और श्रवण दे० 'श्रीमाताजीका शरीर'
देवता
और मनुष्यके संबंध ३४, ३५
अधिमानसके ७२
में असुरका अंश .. १९०टि०
देश और काल १७९, १८०
(दे० 'समय' आंतरिक भी)
दोष [भूल, गलती]
इर्द-गिर्द और सामंजस्य-स्थापन २९-३०
दूसरेका ५०, ११६अ, १८८-८९
व अशुभ समग्रबोधकी दृष्टिमें १८०, १८४, २८२
छोटे-से, के भी बड़े परिणाम २८१-८२
(दे० 'गति' त्याज्य, 'भगवान्' भी)
द्रव्य दे० 'भौतिक द्रव्य'
द्रव्यात्मक मन दे० 'भौतिक मन'

ध

धर्म [मत] ५९, १२२
नया, न बन जाय यह चीज, इससे बचना चाहिये १२०
धैर्य [धीरज] ३, १९, १७७
धोखा देना
'आत्म-वंचना ११५
अपने-आपको, "नेकनीयती" से ११६
औरोंको, और अपने-आपको २३७
(दे० 'कपट', 'चैत्य पुरुष' भी)

न

नमनीयता [लचीलापन] ५२अ, ९६, ९७, २४४, २४८, २५०
नया जगत् १५, २८३
होगा, क्योंकि यह पहले कभी नहीं हुआ २८५
कुचलता हुआ .. प्रबल विस्तार लाता हुआ, दोनों साथ २८५
नया वर्ष
१ जनवरी, १९६९ १३३
'शुभ नव वर्ष १३३, १३४, १३५
१९७२ — आशा करता हूं अच्छा रहेगा २५८
१९७३ के बारेमें २९५
नयी कार्य-पद्धति २२३
नयी चेतना २०७
का सिद्धांत : कोई योजना नहीं २२५अ
का ज्योतिर्मय विस्तार हमारे अंदर भरता जाय, क्या इतना काफी है, और कुछ करनेकी जरूरत नहीं ? २९७
(दे० 'अतिमानसिक चेतना' भी)
नयी जाति
मेंसे सेक्सका आवेग, भोजन व सोनेकी आवश्यकता गायब हो जायंगे २५-६
में मानसिक वस्तुनिष्ठताका सारा तथ्य ही गायब हो जायगा ११०, २३९अ

के आगमनको जल्दी लाया जा सकता है अगर हम . . २२९
चाहते हैं हम, जिसमें अहंकी जगह भागवत चेतना . . २७६
(दे० 'बालक' भी)
नयी जीवन-पद्धति ५३, २२१, २४०
नयी व्यवस्था
जो लाना चाहते हैं उनकी असफलताका कारण और सफलताकी शर्त २३०
नयी शक्ति
को धारण करनेयोग्य शरीर बनानेकी समस्या २४३-४४
का दबाव भौतिक द्रव्यपर — परिणाम : दोनों छोर पराकाष्ठापर २८०-८२ (दे० 'भागवत चेतना' भी)
भौतिक नहीं, पर भौतिकसे अधिक ठोस रूपमें शक्तिशाली है २८३, २८५
के प्रति खुलनेका परिणाम : दुर्जेयता २८४, २८५
(दे० 'जगत्', 'शरीर' ऐसा, 'भगवान्' प्रकृति भी)
नरक १०१, १६१
नित्यता और प्रगति १७८, १८२
निद्रा २५
में चलना ८९
नियति [भाग्य] २७, २८, ७७, २३४
नियतिवाद
'क्या सब कुछ निर्दिष्ट है ? २००अ, ब्योरेकी छोटी-छोटी बातोंमें भी ? २०१अ
नियम (नैतिक, सामाजिक) ५, २३०
(दे० 'विधान', 'कठिनाई' भी)
निराशा
शैतानका महान् अस्त्र २३२अ
(दे० 'मन' भी)
निराशावाद [पराजयवाद] २, ४, ६७, २५७, २७९
निर्णय [मूल्यांकन]
स्पंदनोंद्वारा ११
अपना, सदा संदेहास्पद ६९
मनुष्यका, गलत ६९अ
हमारे दे० 'दृष्टि'
अच्छा-बुरा, कष्ट-आनंदका ९९, १९७-९९
दूसरेके बारेमें ११६अ
'सर्व-चैतन्य' को करने दो १६६
निर्वाण
में बच निकलना १५९, १६०, १६१
निश्चलता १२
बहुत, की जरूरत, दिव्य शक्तिकी शरीरपर क्रियाके लिये १७२
पूर्ण, और **तीव्र** अभीप्सा, दोनों एक साथ १७४, १७६
' 'निश्चल शांति' और रूपांतरकी तीव्र गतिका युगपत् बोध २१४
निश्चेतना १४६
को तैयार करनेका काम हो रहा है ७७-८१; ये गूंजती हुई घटनाएं नहीं हैं ८१
से, तमस्से, बाहर कैसे निकला जाय ? ८०
की निश्चलता विकासका आरंभ-बिंदु १४४-४५

'निश्चेतन निषेधको हर सांसके साथ तुम अंदर लेते हो १७६
प्रथम 'ऐक्य' का प्रक्षेपण है १७९-८०
(दे० 'श्रीमाताजीका शरीर' भी)
नीरवता २७९
में माताजीका बातें बताना १४५अ

में ऊपरकी ओर अभिमुखता, आगे बढ़नेका यह उपाय क्या भूल है? १६५-६७
'रिक्ततामें सच्चा आवेग कैसे पाया जाय? १६८-६९
में लिखते हुए पुराने रूप या प्रतिक्रियाएं व्यक्त करना शुरू न करें, इसके लिये क्या करना चाहिये? १९४-९६
अपनी इच्छानुसार, से शुरू करो, भौतिक मनके नियंत्रणके लिये २६४

प

पतन १४५
परिवर्तन ८, २०१
रूपमें तात्त्विक, वनस्पतिसे पशु और पशुसे मनुष्यतककी यात्रामें बहुत ही कम ४१-२
अंतिम, होनेके लिये ७७-९
ऊपरसे **जबरदस्ती**? ७७अ
सबके, में समय लगेगा, फिर भी यह प्रतिज्ञा थी कि अचानक परिवर्तन होनेवाला है १३२
महान् : पुरानी आध्यात्मिक स्थापनामें, भौतिक 'तथ्य' की मान्यतामें २०६-१२; इसे स्थापित होनेमें समय लगेगा २०८-९; इसमें कठिनाईका कारण २०९, २११; इसमें अपेक्षित गुण २१०
आमूल २५५
मूल्योंमें २८१-८२
का पथ व प्रक्रिया, अभीकी २९१अ
(दे० 'रूपांतर', 'चेतना', 'जगत्', 'परिस्थिति', 'पुरानी आदत', 'पृथ्वी', 'भौतिक मन', 'भौतिक द्रव्य', 'मिथ्यात्व', 'शरीर', 'श्रीमाताजी', 'समय' भी)
परिस्थिति २२५, २३२, २६९
को बदलनेका तरीका २७-९, १६९, २४८
-यां चाहे जैसी हों तुम्हें आंतरिक आनंद व संतोष मिल सकता है ७१, १८९
को दोष देना १८८-८९
वह-की-वही, पर अब आनंद, शांति १३०, २५८, २५९
(दे० 'दोष' इर्द-गिर्द, 'भागवत क्रिया', 'रूपांतर' भी)
पशु
-योनि मानव प्रभावके तले २३अ
-ओंमें मनुष्योंके प्रति जैसी वृत्ति है २५, ४७
और मानवके भेद ४१अ
'गायके और मांके गर्भाशयमें रूप लेती भौतिक सत्ता ४२
से, बंदरसे, जैसे मनुष्य आया ६५, २७३

'बंदर और मनुष्यके बीचकी सत्ताएं जैसे गायब ..६६, २७४
से मानवके, और अब मानवसे अतिमानवके विकासकी अवस्थाओंमें भेद ७७, ८७-८
से मनुष्य बननेके लिये चेतनाके प्रवेशकी जरूरत हुई ८५
'बंदर अगर, पहले मनुष्यसे मिलता तो वह उसे अजीब-सा .. ८७
(दे० 'मिथ्याभिमान' भी)
पागल १, ५३, ७४-५, १२५, २१४
पाप की धारणा १८९
पीड़ा [शारीरिक कष्ट]
गायब हो जानेपर भौतिक मनकी प्रतिक्रिया ३
में शरीरकी सहजवृत्ति और करणीय १२-३
क्यों है और उसका उपचार क्या है ३७-४०
का स्थान एक ऐसी चीज लेती है जो धरतीपर अज्ञात है ४०
और हर्ष, चीजोंको देखनेका, बस, तरीका है ९९
और आनंदका जन्म १०२
'अत्यधिक उत्पीड़नके बीच आनंदका अनुभव १४४
पर कैसे अधिकार किया जाय? २४७
(दे० 'अतिमानसिक चेतना', 'अभीप्सा', 'भौतिक द्रव्य', 'रूपांतर', 'श्रीमाताजीका शरीर' भी)
पुरानी आदत [अभ्यास, ढंग, तरीका, ढर्रा] २९, २२१, २२४
", और नियम टूट रहे हैं १, ९७, २५०
-ेंसे चिपक ६, १४, ४८, २८०
रुकावट हैं १५, ६५, ६७, २१०, २८५
-ेंको बदलना ३१, ४४, ४८, ९७ २२०-२१, २२५ (दे० 'हस्तांतरण' शक्ति भी)
रक्तसंचार, पाचन, श्वासोच्छ्वासकी ५३, ९१
घिस जाने व क्षतिकी ६५, ६७
पुरुष ९७, १००
पूर्णता १०१
हर क्षण १८५
की प्रतीक्षा औरोंमें करना छोड़ जब मनुष्य अपनेको पूर्ण करनेकी ओर .. १८८-८९
(दे० 'सृष्टि'की भी)
पूर्णयोग और भौतिक मन १७, १८
पृथ्वी [धरती] ५९, १५३
पर दिव्य सृष्टि ७०, १०५-७ १५६-५७
की कोई चीज सचेतन हो गयी है, कुछ "हुआ" है १२४
पर हुई सामूहिक प्रगति और प्रतिज्ञा कि परिवर्तन...१३१अ
पर इतना अंधकार पहले .. १५७
मिथ्यात्वमें है, १६०
(दे० 'भागवतशक्ति', 'श्रीमाताजीका शरीर' भी)
प्रकाश [ज्योति]
के आनेसे पहले अंधकार ज्यादा घना (श्रीअरविन्द) १५७
और 'सत्य'के हम संदेशवाहक होना चाहते हैं २२७

के प्यासे २२८
(दे० 'प्राण' भी)
प्रकृति ४७, ७७
की शक्ति पुरुषके अर्पण . . ९७
प्रगति ७६, १७९
प्रयास और संघर्षके द्वारा नहीं, सामंजस्यके साथ ७०
दानवाकार पग ले रही है १८८
का सच्चा आधार १८८
वांछित, के लिये भयंकर दबाव २६७, २७७
(दे० 'अभीप्सा', 'भौतिक चेतना', 'रूपांतर', 'नीरवता' में ऊपर, 'संतुलन' भी)
प्रतिरोध
या तरलताका भाव ५१
त्याज्य गतिका १९३
जड़तत्त्वका २०१
ही अव्यवस्थाका कारण २०२
मानव अवचेतनाका २७७; परिणाम : विभीषिकाएं २७७
नहीं, विकृति है यह २७७-७८
का इलाज २७८
बुहार फेंका जायगा २७९
जो करती है वह कुचली जाती है २८५
(दे० 'विरोध', 'विभीषिका' भी)
प्रयास
बार-बार दोहराने योग्य २
कष्टदायक, की क्षतिपूर्ति लक्ष्यके स्पष्ट दर्शनसे २४
-ों, सच्चे, को सहायता २७६, २८१
(दे० 'प्रगति', 'रूपांतर' भी)
प्राण १५८
से सच्चे प्रकाशका भेद करनेके लिये २०
सुखद या असुखद, का परिचय बिंबोंसे ३२
तटस्थ, क्या नहीं होता ? ३२
और मन अस्थिर होते हैं १७१, २४३
(दे० 'अतिमानसिक तीव्रता' भी)
प्राणिक आकर्षण २०-१
प्राणिक जगत्
उत्पीड़क है, यह ९०% आत्मनिष्ठ ३२-४
प्राणिक सत्ताएं
ज्योतिका अभिनय करनेवाली २०
(दे० 'भय', 'मनुष्य', 'व्यक्ति' भी)
प्रार्थना शरीरकी ८३, २९५
प्रेम
प्राणिक, और सच्चा २०-१
का मूल स्पंदन ३९
पर श्रीअरविंदका उद्धरण ६१
की शक्तिको हम हमेशा क्यों नहीं रख पाते ? १७०-७१
और घृणा १७८
(दे० 'शरीर', 'श्रीमाताजीका शरीर' भी)

फ

फूल १९, २६, ४५, ४६
(दे० 'अवचेतना' भी')
फोटो १०

ब

बंधन
-कारक चीजें ५-६
नहीं—स्वाधीन : सब कुछ बदलने-के लिये हर समय तैयार ५-६
बर्बरता २०५, २०६
बालक [बच्चे] ९१
पैदा करना क्या जरूरी होगा ६६
-ोंमेंसे ही ऐसे हैं जो नयी जातिका आरंभ कर सकते हैं २२९
(दे० 'उदाहरण', 'दमन', 'रूपांतर' भी)
बुद्धि
के कारण अपनेको श्रेष्ठ समझने-वाले १०४
जो समझती है कि वह कुछ नहीं जानती, वह भी भौतिक चीजों-का सवाल आनेपर . . १९७
'तर्कबुद्धि, और 'विज्ञान' २६०टि०
व तर्कणामें अब बल नहीं २८३
(दे० 'मन', 'मानवजाति', 'समझ' भी)
बूढ़ा आदमी १८३, १८६, १८७

भ

भगवान्
का विचार पसंद नहीं तो . . तुम्हें जरूरत है उस 'कुछ चीज' की जो 'प्रकाश' . . ६
का प्रेम नहीं पा सकते तो उनसे युद्ध .. (श्रीअरविंद) ६अ
ही केवल वस्तुनिष्ठ हैं ३५
का ही अस्तित्व है केवल, और कुछ है ही नहीं ३५-६, ९८, १२०-२१, १२४, १४८, १५५
ही हैं सब कुछ, जो अपने साथ खेल रहे हैं ३६
जब आयें तो हजारमें एक भी ऐसा न होगा जो डर न जाय ४७
हंसते रहते हैं, उनका हास्य तुम्हें मधुरतामें भर.. ५१
क्या है ५८-६२, २६१
के साथ संपर्क अभीप्साकी तीव्रता-से ५९
के साथ संयोजनका वही एकमात्र पुल है, यह माननेका परिणाम : धर्म, दर्शन, सिद्धांत, मत — युद्ध ५९
का एकमेव और सर्वशक्तिमान् होनेका विचार ६२
क्या अपने-आपको हमसे अलग खींच सकते हैं ९८
और 'देव' ९८, २८४
तुम अपना ही निषेध करनेमें क्यों मजा लेते हो ? ९८
को पानेके लिये सृष्टिके त्यागका विचार ११७ (दे० 'आध्या-त्मिकता' पुरानी भी)
दूर, ऊपर..! नहीं, वे ठीक यहीं .. ११९-२०, २६२
को हम अनुभव क्यों नहीं कर पाते १२०, १२१
ने कहा : लोग चाहते हैं मैं उनकी चेतनासे दूर रहूं १२०
की दृष्टि और 'जीवनका अनुभव' पर आधारित समझ १९७-९९

के कार्यमें अहस्तक्षेप १९८
'दिशा बस एक ही है—भगवान्की ओर २३१
को पाना और उनसे चिपके रहना यही सुरक्षा है २३१, २३७
वह नहीं, जिसकी मनुष्य कल्पना करता है, बल्कि . . २३७, २८२
सब कुछको, बना देनेका तरीका २४८
से बच्चेकी तरह कहो : 'मेरे लिये सब कुछ कर दो' २५४
के प्रति समर्पणमें ही भगवान्के प्रति विश्वास नहीं आ जाता २५५
के संबंधसे हर चीजको लेनेपर जीवन, भौतिक जीवन भी सरल . . २५८-५९
ही समग्रता है २६०, २८२
हमारी देखभाल करते हैं ? २६६अ
की ओर अपने-आपको रखें २७७
प्रकृतिकी बुरी-से-बुरी चीजोंको इस 'शक्ति' के संपर्कमें ला रहे हैं ताकि वे समाप्त . . २७८
की भूल है यह, हम कह बैठते हैं २८०
की इच्छा न करना मूढ़ता है, दोष नहीं २८२
'दूसरा क्षेत्रतक पहुंचनेकी दो गतियां २९४
के साथ संबंध जोड़नेके लिये कौन-सी गति करते हो ? २९५अ
की उपस्थितिका हममें जो निषेध करे उससे अपने-आपको मुक्त करना २९६
(दे० 'जगत्', 'जीना', 'निर्णय', 'मन', 'मनुष्य', 'विजय', 'वृत्ति', 'शरीर', 'शांति', 'श्रद्धा', 'श्रीमाताजी', 'संघर्ष', 'समाधान' तथा 'भागवत . . ' के अंतर्गत भी)

भय [डर] ४०, २०४, २७९
प्राणिक सत्ताओंसे ३३
पागल हो जानेका ५३, १२५
लगा, जब उन्हें अनुभूतिने छुआ ९१, १६३
न हो, यह सबसे जरूरी है १७०

भविष्यवाणी ७९, २३८

भागवत कृपा
है यह : समय न खोना १४४
सब कुछ करती है ताकि सब ठीक चल सके १८४अ, १८७
सारी समझके परे है १८६
का चमत्कार श्रीमाताजीके शरीरपर १८६
को, विभीषिका समझ, मनुष्य परे धकेल देते हैं १८६
(दे० 'विश्वास', 'आश्रमवासी' भी)

भागवत क्रिया
को अज्ञान-अंधकार [मानव चेतना] विकृत कर देते हैं ६९, २३९
हमें निर्दय लगती है २०६-७
परिस्थितियां मिलें तो, तेज उपलब्धिकी ओर जाती है २४७

भागवत चेतना [परम चेतना]
को छोड़, हर एककी चेतना सीमित ११७
को विकृत किये बिना अभिव्यक्त करना इस 'द्रव्य' के लिये संभव

नहीं ११७
ने कहा : यह मैं हूं जो दुःख भोग रही हूं .. १२७
की क्रिया मानव चेतनामें १४०
काममें लगी है, तेजीसे हमें आगे बढ़ा रही है १४९ (दे० 'चेतना' भी)
से साधारण मानव चेतनामें आना यंत्रणादायक १७६, २६१
को पानेका रहस्य १९६
को मूर्त करना : तरीका १९५-९६
का यह दबाव एक ऐसा दबाव है ताकि चीजें .. २०६-७ (दे० 'नयी शक्ति' भी)
में यदि रहो २५८-५९
को हम अतिमानस कह सकते हैं २८४
भागवत तर्क २१६
भागवत प्रेम २३, ८६, २४५
और पीड़ा ३९, ४०
भागवत महिमा १८२, १८४अ
भागवत शक्ति ['शक्ति']
आती है, वह इस शरीरके लिये कुछ नहीं करती ८
द्वारा छूतका प्रतिरोध ? ४७
को धरती सह न सकेगी, लुप्त हो जायगी ४७, ७८
की छोटी मात्रा तो हमेशा रहती है ७८
की एक बूंद तुम्हें क्षणभरमें **स्वस्थ** कर देती है ७८
को शरीरमें ग्रहण करनेकी शर्त १७२
(दे० 'नयी शक्ति', 'साधना' भी)
भागवत शांति में अति संवेदन ४०
भागवत संकल्प [भागवत इच्छा] २३०
नीचे आ रहा है, रचनाएं उसके कार्यान्वयनमें देर .. २३१
के विरुद्ध मानव इच्छा सफल नहीं हो सकती २७७
भागवत स्पंदन १७४, १७६
भागवत हस्तक्षेप [दिव्य हस्तक्षेप] ३, ८, ३९, २३२
भारत दे० 'श्रीमाताजी', 'संदेश'
भूत-भविष्य-वर्तमान २६०
भूल दे० 'दोष'
भोजन २५, २६, ४२, ४३, २७२, २७३
भौतिक चेतना [द्रव्यात्मक चेतना]
और प्रगति २-३
का स्वरूप व स्वभाव २, ३, ६३, १७०
'शारीरिक चेतना जाग गयी है, मन, प्राणसे अब स्वतंत्र है ८४
जब किसी चीजको पकड़ लेती है ९९, १७०अ
में धंस गया हूं, ध्यान नहीं होता, भगवान् दूर .. ११९
भौतिक जीवन
पर मनका नहीं, उच्चतर चेतनाका शासन चाहिये २०७
का त्याग दे० 'आध्यात्मिकता'
(दे० 'भगवान्' के संबंध भी)
भौतिक 'तथ्य' ['तथ्य']
अब मिथ्यात्व बन गया २०७-१२
(दे० 'मनुष्य' भी)
भौतिक द्रव्य [जड़द्रव्य, द्रव्य, भौतिक तत्त्व]

के रूपांतरमें कठिनाई २-३, ११अ
को कुचल देना या रूपांतर ३
के साथ व्यवहार भूतकालमें ३, ७
का भारीपन तात्त्विक नहीं ५
को तमस्‌मेंसे बाहर खींच लानेके लिये पीड़ाके संवेदनकी जरूरत ३७-८
में मिथ्यात्व अज्ञान बन गया ३८
में नये स्पंदनोंके प्रति आशंकाका उपचार ४०
का सच्चा प्रत्यक्ष दर्शन ५२
सारा एक ही है ८६
कैसे पैदा हुआ ? १०८
में अपारदर्शिता और पारदर्शक तरलता ११८
के साथ इतनी तल्लीनता कि लगता नहीं कि हम कुछ कर रहे हैं १९७
बदलनेमें धीमा है २०१
जैसा-का-तैसा, उच्चतर अनुभूतियोंसे २०९
को तैयार करनेके लिये कुछ किया गया है २२७
जब परिवर्तित हो जायगा तो वह एक ठोस चीज होगी २४३
पथरायी हुई चीज हैं, ग्रहण नहीं करती, अगर वह पिघल जाय .. २४६
की नमनीयताको खोजना होगा २५०
दो दिन अभीप्सा करता है, फिर ढीला पड़ जाता है, क्या करना चाहिये ? २६८-६९
का अहंकार है जो आत्मनिवेदन नहीं करना चाहता २६८अ
(दे० 'शरीर', 'सृष्टि', 'मन', 'मूढ़ता' भी)

भौतिक मन
मार खाकर बढ़नेका अभ्यस्त २
में कठिनाइयोंकी ही कल्पना २
को कठिनाइयोंके पीछे भागवत कृपामें विश्वास दिलानेके लिये २
के आक्रमणकी कठिनाई ७-८
भी अब अपनेको व्यवस्थित करनेमें लगा है १४
तो बहुत पहले बदल चुका है १६
और द्रव्यात्मक मन : भेद १७-८
एक असंभावना है १८, ८४अ
परिवर्तित हो गया है ८५-६
रूपांतरित हो जाय तो शरीर रूपांतरित हो जायगा २५३
के नियंत्रणके लिये २६४-६५
(दे० 'नीरवता', 'पीड़ा', 'श्रीअरविंद', 'श्रीमाताजीका शरीर' भी)

भौतिक मुक्ति ५, १६१
को अभी ब्यौरेमें उपलब्ध करना है २०९

भौतिक योग १३

म

मध्यवर्ती सत्ताएं ४३, ४७-८, १३७, २७४

मन
में निराशाका महत्त्व कम ६७
की समस्याएं और विरोध ऊपर

उठ जानेपर नहीं ७१
की व्याख्या शरीरके लिये अमूर्त चीज ९९
और प्राण 'द्रव्य' को पीसनेके लिये यंत्र रहे हैं ११३
सत्यको देखनेमें असमर्थ ११६
की भूमिका : यथार्थता देना ११८
विकसित, वालोंसे अविकसित मन वालोंके शरीरका काम आरंभ-में आसान १७१अ, १७२
और प्राण अगर चले जायं १७२
के द्वारा विकासका मतलब १७२
का शासन रहते भगवान्का राज्य कैसे . . २०४
पर बैठ जाओ : 'चुप रहो' २७९
(दे० 'अतिमानस', 'चैत्य पुरुष', 'नयी जाति', 'प्राण', 'भौतिक जीवन', 'विभाजन', 'वैज्ञानिक', 'श्रीमाताजीका शरीर', 'साधना' भी)

मनुष्य [लोग]
यज्ञकी भावनासे भरे २२
जो नहीं रहे और देवता भी नहीं बने २७
जो सुन्दर बिंब देखते हैं और जो भयानक, अशुभ चीजें ३२
का प्राणिक सत्ताओं, शक्तियों व देवताओंके साथ संबंधका रूप इस मानव चेतनापर निर्भर ३४-५
अपनी अवस्थाओंका सर्वशक्तिमान् स्वामी है, पर वह यह होना भूल गया है ३४-५
अपनी संभाव्यतामें देवता है, उसने अपनेको देव मान लिया ३५
पशुकी छूतका प्रतिरोध नहीं कर सका ४६
को अपने अस्तित्वकी रक्षाके लिये सारी प्रकृतिसे लड़ना पड़ा ४७
और अतिमानस सत्ताका संबंध ४७
ने हर चीज विकृत कर दी है ५१
पशुसे ऊपर उठा अनुकूल शरीर विकसित करके ६४
की दिव्य मानवतामें परिणति शरीर विकसित करनेपर निर्भर ६४-५
निश्चेतनासे कितना बंधा है ७७
'हम सिकुड़े हुए, सूखे हुए हैं, हमने अलग किये जानेके बड़े प्रयत्न किये हैं १२०, १२१
'हम परम प्रभुमें हैं १२०, १२१, १२४, १२५
के सभी गुण और सभी त्रुटियां बचकानी १४३
प्रत्येक, के लिये अब भौतिक 'तथ्य' के सम्मोहनसे बाहर निकलना संभव २१२
की सहज प्रतिक्रिया : रूपांतर करना नहीं, नष्ट करना २३६
धोखेमें रहते हैं : चीज जैसी है वैसी नहीं देख पाते २३७
अभीप्सासे पूर्ण और अभीप्सासे रहित २४०
में चेतना केंद्रमें होती है २५१
के सचेतन रूपसे भगवान्की ओर मुड़नेमें सैंकड़ों साल . ., नहीं, अब . . २९०
(दे० 'व्यक्ति', 'अतिमानव', 'उदा-

हरण', 'जगत्', 'पशु', 'मिथ्याभिमान', तथा 'मानव . .' के अंतर्गत भी)
मम्मी १६
मशीनें २०३, २०५
मस्तिष्क १६९
मानव चेतना
एक भयंकर छिद्र है १७६, २६१
(दे० 'भागवत क्रिया', 'भागवत चेतना' भी)
मानवजाति
के विभिन्न स्तर : सुसंस्कृत, सामंजस्यपूर्ण और संतुष्ट; बौद्धिक रूपसे नये जीवनकी ओर आकर्षित; रूपांतरके लिये तैयार २१-२
नयी सृष्टिके प्रभाव-तले कैसी हो जायगी २३-४
उच्चतर मध्यस्थ २५
का संतुष्ट बुद्धिवादी वर्ग ८७, १०४
बेचारी, उद्वेग-ग्रस्त १६७
उच्चतर, का प्रयास १९६
देना नहीं चाहती, लेना चाहती है १९६
ने शताब्दियों इस क्षणकी प्रतीक्षा की है, वह आ गया है २७५
(दे० 'अधीरता', 'आश्रमवासी' भी)
मानव स्वभाव
अपनी इच्छासे प्राप्त पराजयको दूसरी तरहसे प्राप्त विजयसे ज्यादा पसंद करता है २७७
मानसिक रचना
-ओंसे मुक्त, खुला ५-६
सारी मिथ्या, पर वह तुम्हें स्वाभाविक लगती है २०६
'मानसिक काराके परे जाने और वहां ऊपर श्वास लेनेका प्रश्न है २०७
(दे० 'भागवत संकल्प' भी)
मार्ग [रास्ता, द्वार]
तुम्हारा, तुम्हारा होगा ६
लौटनेका १४९
एकमात्र १५२, १५९, १९५, २३१, २६८, २८१
अब, साफ है २५०
(दे० 'रूपांतर' भी)
मिथ्यात्व ३८, ७५, १५९, १६०, १६३, २०७
मेंसे कोई अकेला नहीं निकल सकता १६२
से बाहर निकलनेकी विधि १७६
की रेलपेल और उपचार २३४-३६
को खतम कर देनेका भाव २३६
सारा, बाहर निकल आया २४६
की शक्ति अपना सहारा खो बैठी है २४७
के लिये एक ही समाधान २९६
का परिवर्तन ही जीने योग्य चीज २९६
(दे० 'श्रीमाताजीका शरीर', 'समर्पण' भी)
मिथ्याभिमान
मनुष्योंमें ३४-५, २३६-३७
पशुओंमें भी २३७
मुक्ति दे० 'भौतिक मुक्ति'
मूढ़ २७, ८५, २५३, २८९

मूढ़ता
भौतिक चेतनाकी ३
अहंकेंद्रित १८७
मानव अवचेतनाकी २७७
बन गयी 'असंभव' चीज २८४
भौतिक द्रव्यकी २८६, २८७
स्वीकार, अज्ञके सामने २८८
मूल्यांकन दे० 'निर्णय'
मृत्यु १५, १०२, २९७
के प्रसंगमें ५५-८
का क्या एक ही समय सब आत्माएं चुनती हैं बंबारी, बाढ़, भूकंप आदि प्रसंगोंमें ? ५५टि०
के बाद अंतरात्मा अपने अस्तित्वसे सचेतन कैसे रहती है ? ५५टि०
के बारेमें मनुष्य कुछ नहीं जानता ५६
जैसी कोई चीज है ही नहीं ५६
के बाद व्यक्ति भौतिक जगत्का बोध पा सकता है ? ५६-७
पर विजय ९७
के बारेमें साधारण विचार १५२
का विलोपन २१७
संक्रमणकालीन घटना है २५९अ (दे० 'अवचेतना', 'व्यक्तित्व', 'श्रीमाताजीका शरीर' भी)
मौन २४०

य

यंत्र ८३, १६९, २३१
युद्ध दे० संघर्ष

र

रूप या आकारकी आत्मा १६
रूपांतर [भौतिक रूपांतर] १४२, १८०, १८६
की दृष्टिसे परिस्थितियोंमें अच्छा मोड़ १, ५
-पथपर दो चीजें अनिवार्य १
के प्रयासमें सच्ची वृत्ति १अ, ५-६
में बाधा डालनेवाली चीजें ५-६
की गति तेज करनेके लिये ६, २८७ २६८,
के लिये प्रयास छोटी-सी संख्यातक सीमित . . २३
और पीड़ा ३९-४० (दे० 'श्रीमाताजीका शरीर' भी)
सच्चा, चेतनाके हस्तक्षेपसे ४१, ८५
भावी, पशुसे मानवतकके रूपांतरकी तुलनामें ४२
के लिये मध्यवर्ती अवस्थाएं होनी चाहिये ४६, ४७-८, ६६
अगर अकेली ही सत्ताका . . ४७
के लिये तीनों मार्गों — आध्यात्मिक, गुह्य और उच्चतर बुद्धिके — को मिलाना चाहिये ५४-५
का कार्य बालकके निर्माणमें ६६
की समस्याकी विशालता ७५-६
की दिशामें प्रगति : बच्चोंने शरीरके लिये प्रार्थना मांगी है ८२-३
आमूल, संभव, ऊपरके अवतरणसे ८७
अगर हो जाय तो मानों परम रहस्य-

का स्पर्श .. १२२
शुरूमें एक शरीरका या सभीका १२३ (दे० 'शरीर' भी)
की गति इतनी तेज़ है कि २१४
'चीज बिलकुल नजदीक है २२६
की जगह लगता है वह दूसरा शरीर ही मूर्त रूप लेगा २७४-७५
(दे० 'काम', 'परिवर्तन', 'सिद्धि', 'जड़ता', 'भौतिक द्रव्य', 'मानव जाति', 'श्रीमाताजी', 'श्री-माताजीका शरीर', 'हस्तांतरण' भी)

रोग २८, २०३
लोगोंके गायब हो गये १२१, १३०, २४१
और स्वास्थ्य एक लगातार गति है १४६
और चेतनाकी वृत्ति १८८, १९९
का लोप अहंके लोपके साथ १९९
-ोंकी जड़ २०१
का लंबा होना २०४
मिथ्यात्व है २४६
(दे० 'श्रीअरविंद' भी)

व

वनस्पति [पौधा] २३, ४५,
(दे० 'परिवर्तन', 'समय' भी)

वाणी
बोलनेका यह ढंग .. ७५, १२५
(दे० 'अनुभूति' भी)

विकृति
'विकृत युक्तियोंको तुम्हारा उत्तर २७८
(दे० 'भागवत क्रिया', 'भागवत चेतना', 'प्रतिरोध', 'मनुष्य' भी)

विचार [सोचना]
पूर्वकल्पित, बाधा है ५
'सभी सोच-विचार, पूर्व योजनाएं, पूर्वदर्शन रोड़ा हैं १३, ४८, १६६
की अनुकूलताकी कठिनाई नयी शक्तिके साथ १४, २८३
का सच्चा उपयोग ३९
(दे० 'मन', 'चीज' भी)

विजय
सभी अनिवार्यताओंपर ९७
अतिमानसिक, पूर्ण संतुलनमें है १०१
महान् २०७-८
असाधारणकी संभावना है २३१; हां, यह हालकी चीज है २३२
सामंजस्य है, भगवान् है, स्वास्थ्य है २४६
प्राप्त करनेका यही समय है २५६टि०
अंतमें निश्चित है २७७
(दे० 'अतिमानव चेतना', 'मानव स्वभाव', 'मृत्यु', 'विरोधी शक्ति', 'शुभ', 'शरीर', 'सहन-शील' भी)

विजय-दशमी २४६

विद्रोह २३३, २३५
सामाजिक रूढ़ियोंके विरुद्ध, एक शक्ति है, यदि वह उच्चतर चेतनाकी सेवामें .. २३०

विधान [नियम]

प्रकृतिके व मानवके ९६, ९७, १३१, २१०
विभाजन (चेतनाका) [पार्थक्य, अलगाव] १०३, १५०, १९२
की शोध १०१-२
का भाव मनसे १२१
का नहीं, विभिन्नताका बोध १२७
जरूरी था या अकस्मात्.. १२७
ही सृष्टि व दुःख-दैन्यका स्रोत १४८, १५९, १७९, १८०, २६१
में ही 'अनंत' अपनेको अभिव्यक्त करता है २६१
(दे० 'श्रीमाताजी', 'श्रीमाताजीका शरीर' भी)
विभीषिका
-एं प्रतिरोधके कारण २७७
-एं 'शक्ति'के दबावके कारण २८१
(दे० 'भागवत कृपा', 'श्रीमाताजी' भी)
विरोध ७५
दृष्टिकी अपर्याप्ततासे ७१
-ोंको जीनेकी जरूरत है २००
-स्वरूप शक्तियां उठ खड़ी हुईं २१०
-ोंको समाप्त करनेका तरीका २४८
(दे० 'प्रतिरोध', 'अवचेतना', 'कठिनाई', 'मन', 'शक्ति' भी)
विरोधी शक्ति
-योंकी ओरसे बमबारी ७
-यां किन्हें कहते हैं ७५
-योंपर एक निर्णायक विजय २३३
-योंकी रेलपेल २३३
(दे० 'मिथ्यात्व' भी)
विविधता १७९, १८०
विश्व दे० 'सृष्टि'
विश्वास
जब कोषाणुओंमें, जम जायगा १४
ओझाओं व डाक्टरोंपर २०५
दवाईकी जगह यदि भगवत्कृपामें ..२०५
(दे० 'श्रद्धा', 'भौतिक मन', 'समर्पण' भी)
वीर बननेकी घड़ी है यह २७६
वृत्ति (चेतनाकी) ३५
का शरीरपर प्रभाव १५, १८७, १८८, १९९, २५५, २६९, २७०, २८६, २८७
सुरक्षा, सांत्वना व आनंद प्रदान करनेवाली २७-९, ३५-७, २४७-४८
कि प्रभु ही सब कुछ हैं ३६, २४८
अपनाने योग्य अच्छी-से-अच्छी २०३
का प्रश्न है २०७
में जरा-सा हेरफेर २१३, २४७-४८
महत्त्वपूर्ण है, परिणाम नहीं २५५
स्वकेंद्रित या भगवान्‌को महत्त्व देनेकी २५८
(दे० 'रूपांतर', 'रोग' भी)
वैज्ञानिक
-ोंको अपने ज्ञानको मनके लिये बोधगम्य बनानेके लिये ११०
वैभव हमारे पूर्वजोंका २०३
वैश्व लय २३, १४३, २०३

व्यक्ति
तब अच्छी-से-अच्छी अवस्थाओं, संभावनाओंमें होता है ३१
जब सच्ची स्थितिमें होता है तो प्राणिक सत्ता उसे छू भी नहीं "सकती" ३३
को हमेशा हंसना चाहिये ५१
से मेरा मतलब १००
यदि पूरी-पूरी शून्यता, अक्षमता स्वीकार करे . . २५४
(दे० 'चेतना', 'मनुष्य' भी)

व्यक्तित्व
का मृत्युके बाद क्या लोप संभव है ? १४८-५०
किस कारण बनाये गये थे १६७
'व्यक्तिगत मनमानापन तब अलग हो जाता है १६७
क्रिया, बोध, संवेदनका केंद्र १८३
कुछ नहीं, यह अनुभव करना २९०
(दे० 'अहं', 'शरीर' भी)

श

शक्ति २४७
'सर्वशक्तिमत्ता प्रदान करनेवाली वस्तु तभी प्राप्त हो . . ९९
विरोधों और निषेधोंद्वारा सीमित रहती है १०३
सबसे अधिक शक्तिशाली, और सर्वशक्तिमान्, निरपेक्ष १०३
ही सुरक्षा है १३९टि०
(दे० 'अतिमानव', 'नयी शक्ति', 'भागवत शक्ति' भी)

शत्रु ३३
नहीं, अखाड़ेके पहलवान १९०

शरीर
को लेकर व्यस्त ७-८
से बाहर निकल आनेका हमें अधिकार नहीं, यह हमारे कार्यके विपरीत है ७-८
में परिवर्तन ऊपरसे आनेवाला हस्तक्षेप नहीं लायगा ८
कभी सहायता नहीं करता, तुम शरीरकी सहायता . . ११
के रूपांतरकी बात विभिन्न परंपराओंमें, लेकिन . . ४१
के बारेमें और-और संभावनाओंकी कल्पना की जा सकती है, पर अस्थिपंजरसे रहित . . ४२-८
का महत्त्व स्पष्ट है जो नयी सत्ताके अनुरूप हो ६४
यह, नहीं बदल सकता, कोई नयी सत्ता होगी (श्रीअरविंद) ६५
बदलना बहुत कठिन : इतना परिश्रम और जीवन संक्षिप्त. ६५
के रूपांतर व शरीरकी प्राप्तिके संक्रमणकी कठिनाई ६७-८
के कोषाणुओंकी प्रार्थना ८२-३
में अभीप्सा कैसे जगायी जाय ८४
एक, की उपलब्धिकी और शरीरोंपर क्रिया ८४, ८५, ९१, १३०-३१
के कोषाणुओंमें पहले चेतना जगायी जाय ८४
भगवान्‌की अभिव्यक्तिका आधार बन सकता है ८६, २०९
का रूपांतर अब एक निश्चिति है, पर अभी बहुत करना . . ८६

गधा नहीं है, बेचारा ! ८८
के कोषाणुओंमें चेतनाके प्रवेशके उदाहरण ८९
ही मंत्र बोलता है ८९
से समझना ९९, १२५-२६, १३२, १७४-७५
मन-प्राणकी आज्ञा माननेका अभ्यस्त, वह रूपांतरके लिये काफी नमनीय नहीं १२९, १७२
के कोषाणुओंमें भगवान्‌के लिये प्रेम १७०
जब एक बार कोई बात सीख ले तो उसे भूलता नहीं १७०अ
का स्वकेंद्रित होना ही .. १८७
के अस्तित्वका भान न रहे १९५
की तैयारी २००
की आवश्यकता पृथक् व्यक्तित्वोंके लिये; पर यह आवश्यक नहीं २२०
व्यक्तिगत सीमाओंसे रहित एक भगीरथ प्रयास है २२०-२१
ऐसा बनानेकी समस्या जो 'शक्ति' को धारण व संचारित कर सके २४४
का रूप-रंग बदलना आखीरी चीजें २४४
के कोषाणुओंको केवल भगवान्‌में ही आश्रय ढूंढना चाहिये २४८
में बहुत सद्‌भावना चाहिये २५५
की चेतनामें अगर रहो २५८अ
समग्रताकी चेतनाको **पा सकता है** २६०
में कठिनाई, अव्यवस्था, रोग पैदा करनेवाली चीज २८३अ
इस नयी शक्तके प्रति ग्रहणशील हो तो वह दु-र्जे-य .. २८४
के कोषाणुओंमें लड़ने, दुःख झेलनेकी आदत आत्मनिवेदनको स्वीकार करनेमें असमर्थ है २८६
(दे० 'रूप', 'अतिमानसिक शरीर', 'श्रीमाताजीका शरीर', 'उदाहरण', 'निश्चलता', 'पीड़ा', 'मनुष्य', विश्वास', 'वृत्ति', 'रूपांतर', 'शांति', तथा 'भौतिक ..' के अंतर्गत भी)

शांति [शांत-स्थिरता] १३२, १४२ १४३
लाओ शरीरमें ७, ८, १२
अक्षर, ही सत्ताकी नित्यताको संभव बना सकती है : व्याख्या १४४-४८
अव्यवस्थाके उपचार रूपमें १४५
भगवान्‌के साथ रहनेसे २५९
उपाय, अवचेतनाकी सफाईका २९०
(दे० 'निश्चलता' भी)

शारीरिक चरित्र १७
शारीरिक समता १२
शुभ
और सत्यकी विजय कही जाती है, लेकिन जीवनमें दुष्टकी विजय ६८-७१
शुभ और अशुभ ९९, १०१, १०२, १०३अ, १८९, १९२, १९७
(दे० 'अशुभ' भी)
श्रद्धा १२९, १६७, २५७
अडिग चाहिये १, ५३

की तीव्रता और सहनशक्तिका प्रश्न है १४९
कि भगवान्‌के साथ होनेका आनंद सबसे बढ़-चढ़कर है २७८
नहीं, हममें; श्रद्धा हो तो सब कुछ बदल जाता है २७९
(दे० 'विश्वास' भी)

श्रीअरविंद १५७, १७७
सहनशीलतापर ३, १२
के पांवमें घाव : स्वप्न ९
द्रव्यात्मक मनपर १८
मौजूद थे दर्शनके दिन २१
के बौद्धिक रूपसे शिष्य २२
के योगके लिये तैयार २२
जीवनको लंबानेके बारेमें ४५, ४८
ने नयी सत्ताको निकट भविष्यमें नहीं देखा ६६
का कथन : वास्तविक दुर्भावना, विरोध, मिथ्यात्व विरल ७५
भागवत शक्तिके अवतरणके बारेमें ७८
भौतिक मनके बारेमें ८४अ, २५२, २५३, २५६-५७टि०
पुरानी आध्यात्मिकताके बारेमें ८६, ११७
कहते थे : निर्गुणके परे . . 'पुरुष' १००
का सूक्ष्म हाथ आया और दर्दको ले गया १३०
की दृष्टिसे अतिमन सब दैन्यसे अलग है १५५
का ईर्ष्यासंबंधी वाक्य : वह बूढ़ा आदमी १८३, १८६, १८७
के सूत्रोंके बारेमें श्रीमाताजीकी टिप्पणी १८९, १९३, २०८
के प्रयाणने कितनी सहायता की है ! २०८अ, २१२
का कथन : भागवत चेतनाके संपर्कमें होनेपर तुम्हें संसार अपनी मूर्खतामें हास्यास्पद . . २३६अ
के अंदर अतिमन आया, वह स्थायी न था २५६
सहमत कि यही सृष्टि अतिमनकी ओर रूपांतर देखेगी २७९
की क्रिया-शक्ति, जब वे सशरीर थे, तबसे अब अधिक २९४
ने शरीर किस लिये छोड़ा २९४
(दे० 'श्रीमाताजी', 'उद्धरण सूची' भी)

श्रीमाताजी
का वस्तुओं व लोगोंको जानना स्पंदनके गुणके अनुसार ९-११
ने जब 'भागवत मुहूर्त' का संगीत व 'ज', 'क्ष' के लेख सुने १०
'जब मैं किसीका फोटो देखती हूं १०अ
ने हाथ देखा : 'इसकी तबियत ठीक नहीं' ११
द्वारा भौतिक मनकी तपस्या १७
की सारी वृत्ति बदल गयी २२-४, २७
यह शरीर लोगोंसे घिरा है . . लेकिन अगर यह इन परिस्थितियोंमें न होता तो बहुत-सी चीजें भुला दी जातीं ३१
का प्राण जगत्‌का अनुभव ३३
का प्राणिक युद्ध और चोटें ३३
का समय लोग व्यर्थके प्रश्नोंमें

नष्ट .. ४९-५१
में धीरज ४९
और स्वमानकी भावना ४९
की कोहनीपर खेंख ४९, ५१
और अहंकार ५०
'वे मुझे निगल नहीं सकते ५०
'तांत्रिकोंसे मिलनेपर मैंने यह प्रकाश देखा ५२
'मेरा एक परिचित मृत्युके बाद एक और जीवित व्यक्तिके निकट संपर्कमें था ५७
'भगवान् क्या है यह प्रश्न मैंने भी कभी अपनेसे नहीं किया ६०
'भगवान्का वह विचार जिसने मुझे बचपनमें नास्तिक बना दिया था ६२
की भौतिक चेतनामें नाटककी आदत व रुचि ६३
'आप इसीलिये हैं कि नयी सत्ताके आगमनकी दूरीको छोटा कर दें ६६-७
'मैं उसे करनेकी कोशिश कर रही हूं — किसी मनमाने संकल्पसे नहीं ६७-८
'मैं कई रातोंसे कई-कई घंटे सूक्ष्म भौतिकमें .. ७१-३
'जब मैं अधिमानसमें देवोंको देखा करती थी ७२
'मैंने जोरसे कहा : 'मेरी घड़ी कहां है ? मैं घड़ी पहनना भूल गयी ७४
'मैं दूसरोंसे भिन्न पदार्थसे नहीं बनी हूं ८५, १२४
'इक्कीस वर्षकी उम्रमें मैं जानती थी कि चेतना कैसे काम करती है ८९
'मैं अब नब्बेकी हूं, नब्बेकी अवस्थामें लोग .. ९१
नवंबर ६७ के दर्शनपर लिये गये अपने फोटुओंमें विभिन्न व्यक्तित्वोंके बारेमें : कभी वे श्रीअरविन्द, कभी एक ऐसा व्यक्ति .. ९२-६
की टिप्पणी डाक्टरोंकी सलाहपर कि अपने-आपको मत थकाओ १०४
के कुछ नोट १०६-१०, ११३-१५, १७८, १८१-८२
'मन-प्राण छोड़ गये हैं, पर सबके साथ संबंध वैसे ही .. १०७टि०
में कालके सामान्य विचारकी अवास्तविकताकी चेतना १०८, १०९
'मैं सृष्टिकी सारी विभीषिकाओंमें, भौतिक पीड़ामें जीती थी १२२, १२५
'मैंने मानों केंद्रीय अनुभूतिको छू लिया है १२२
'**उसके** लिये मैं मिलने आनेवालेको देख रही थी १२३
'उपस्थितिकी चेतना और पहली चेतना भी है १२३
'आपको जमीनपर चित लेटे देखा; क्या अर्थ ? १२४, १२६
'श्रीअरविंदकी चीजोंको मैं अब समझना शुरू कर रही हूं १२८
'हम किसी चीजको छूने-छूनेको

हैं, वह बच निकलती है १२८, १३२
'जब मैं लोगोंसे 'शुभ नव वर्ष' कहती हूं १३३
में भागवत चेतनाकी क्रिया १४०
'मुझे मानों यह काम सौंपा गया है कि जो मेरे नजदीक आयें उनका अतिमानव चेतनाके साथ संपर्क करा दूं १४१
'मेरी कही हुई बात जब मेरे आगे दोहरायी जाती है १४७, २१५
में व्यक्तित्व व विभाजनकी भावना गायब १४८
'लोगोंकी चेतना मेरे आगे खुली हुई है, कष्टदायक स्थिति होनेपर उनमें विचार : यह समाप्त हो जायगा १५२
की, ओरोवीलमें आनेवाली चीजों, कला, खेल-कूद, भोजन आदिके बारेमें श्रीअरविंदसे सूक्ष्म जगत्में बातचीत १५६
'अलग-अलग समय अलग-अलग लोगोंके साथ मुझसे अलग-अलग काम करवाया जाता है १६९
अतिमानसिक चेतनामें रहते अपना सारा भौतिक काम कर रही थीं १८३, १८५
का काम : लोगोंपर दिव्य चेतना प्रक्षिप्त करना १८३
को . . के साथ कठिनाई थी १८५
के पास पत्रका उत्तर जिस रूपमें आता है १९३-९४
में पत्र लिखकर भेज देनेपर प्रतिक्रिया १९५
'मैं इस विश्वासका मूल्य चुका रही हूं २०१
'यही काम है जो श्रीअरविन्दने मुझे सौंपा था २१०, २७६
की हमारे साथ उपस्थिति : कुछ पहले और अबमें फर्क २१८-१९
की चेतना अब निर्गुण बन गयी है २१९
'लोग जब मुझे लिखते हैं कि मैंने उनके लिये यह किया २१९अ
'जब मुझसे पूछा जाता है : 'आप उसे कैसे देखती हैं ?' २२०
'लोग जब मुझे बुलाते और मेरे बारेमें सोचते हैं . . २२१अ
क्या सत्ताओं और घटनाओंको देखनेका आपका तरीका बदला है ? २२३, २२५
'आपकी दृष्टि बहुत बदल गयी है २२८
'मैं लोगोंमें देखती हूं : ग्रहणशीलता २२८-२९
से मिलने आनेवाले लोग : अभीप्सा, कौतूहल, बाध्यताके साथ २२८
का संघर्ष उनके विरुद्ध जो यहां आरामसे रहने . . २२९
'मैं ही सिर्फ युवा हूं . . २२९
'मेरा वातावरण एक स्वच्छ ट्रांसमिटर हो २३१-३२
'जब चुप रहती हूं तो सब कुछ अद्‌भुत . . जैसे ही लोग बातें करने लगते हैं . . २३९-४०, २९१
'जब 'अंदर' होती हूं तो आश्चर्यजनक 'शक्ति' होती है, लोगोंकी बीमारी गायब . . २४१

आपके पास होनेपर शरीरसे प्रार्थना . . २४४-४५
में दृष्टिका, चेतनाके केंद्रका, परिवर्तन २५०-५१
'मेरी चेतना अब अन्य सत्ताओंके बीच एक सत्ता नहीं, वह सभी चीजोंमें भगवान् है २५१
'मैं एक और ही व्यक्ति बन गयी हूं, केवल बाहरी रूप वही है २५३
के लिये काम कर दिया गया, यह चैत्य उपस्थितिके कारण हुआ २५३, २५४
की सारी सत्तापर चैत्यपुरुषका शासन २५३, २५४ ; बरसोंसे, यहां आनेसे भी पहलेसे २६२-६३ ; अभी हालमें ही अनेकीकृत चेतनाका अनुभव २६२, २६३
'मैं असाधारण घड़ियोंमेंसे गुजर रही हूं २५७
'मेरा मन स्वाभाविक रूपसे भगवान्के मननमें रहता है २६५
को भगवान्में लिपटे होनेका भौतिक संवेदन २६५
की अवचेतनामें सजगता २७०
की कुछ शिष्योंसे बातचीत २७५-७६
'मैं बूढ़ी नहीं हूं, जवान हूं २७५अ
'मैं यहां इसलिये नहीं हूं कि मैं बद्ध हूं २७६
'मैं केवल एक चीज मांगती हूं २७६
में चेतना, विचारके स्थानपर २८६
के लिये एकमात्र शरण २८८
'मैं न बोल, न देख सकती हूं तो सहायता कैसे कर . . २८८
अपनी निश्चलतामें भी एक 'शक्ति', उत्पादक-केंद्र २८८
की चेतनामें संसार-भरका युद्ध लड़ा जा रहा है २८९
की अब अवस्था : भगवान्को क्षण-भरके लिये भूल जानेका अर्थ है विभीषिका २८९
को अतिमानस-चेतनाकी प्राप्ति कुछ सैकंडोंके लिये २९१अ
'श्रीअरविन्द रूपांतरके जिस बिंदुतक पहुंचे थे और अब आप जो काम कर रही हैं, उसमें क्या फर्क है ? २९३
'श्रीअरविन्दके शरीरमें एकत्रित अतिमानसिक शक्ति मेरे शरीरमें आ गयी २९३
'मैं सारे समय यही तो करती रही हूं : मिथ्यात्वका परिवर्तन २९६
की रट : 'तुम्हारे' बिना मृत्यु है, 'तुम्हारे' साथ जीवन २९७
'मुझे लगता है, मैं **वह** हूं और तब, जब मैं किसीको देखती हूं तो उस व्यक्तिको 'ज्योति'के अर्पण कर देती हूं २९७
'लगता है, मैं एक छोटी-सी बच्ची हूं, डुबकी हुई . . २९७
(दे० 'नया वर्ष', 'नीरवता' भी)
श्रीमाताजीकी अनुभूति [अंतर्दर्शन]
विकेंद्रित भौतिक चेतनाकी ४-५, २६२, २६३
मानव जातिके विभिन्न स्तरोंकी

अतिमानसिक सृष्टिकी, एक वैश्व लयकी २१-७, ७०
कि जीवनके सभी रूप चुनावकी अभिव्यक्ति हैं २७-९
कोई, दूसरी बार नहीं ३०
रूपके लचीलेपन और ठोसपनमें कमीकी, पहली बार ५२-३
कि जागनेपर अगर कोई सूक्ष्म भौतिककी चेतनाको बनाये रखे तो वह पागल लगेगा ७४
धरतीके दिव्य बननेके प्रयासका ८१-२; इसमें कहनेवाला '**कोई**' श्रीअरविंद हैं ८१
कि यह सृष्टि 'संतुलनकी सृष्टि' है १००-३
'पार्थक्यकी शोध १०१-३
प्राकृतिक दृश्यों, विशाल मंदिरों, इमारतों व नगरोंका १०६-७, ११४
कि अपनी चेतनाके अनुसार अच्छे-से-अच्छा करनेवालेको दोष देना असंभव ११६-१७
पारदर्शक तरलता और अपारदर्शिताकी ११८
-योंका सुनाना कठिन : कारण १४६
अतिमानसिक चेतनाकी .. सृष्टि के 'क्यों', 'कैसे', 'किस ओर' का अंतर्दर्शन .. पुरजेपर लिखे कुछ सूत्र १७७-८७
त्याज्य गतिके बारेमें १९२-९३
कि चैत्यपुरुष ही अतिमानव सत्ता बन जायगा २१५-१६
२१ फरवरी, ७२ की : यह हरेकका जन्मदिन है .. कोई नयी चीज उतरी है २६७टि०
अपने संक्रमणकालीन शरीरका : छरहरा, अलैंगिक .. २७०-७५
(दे० 'श्रीमाताजीका शरीर' भी)

श्रीमाताजीका शरीर
के कोषाणुओंसे पूछा गया : वे इस मेलको क्यों बनाये रखना चाहते हैं ३
की साधना : श्रीअरविंदकी मार्गदर्शक कुछ टिप्पणियां १२; विजयका उपाय १४
में शक्तिका हस्तांतरण दे० 'हस्तांतरण'
का समर्पण १२-३, १२६-२७, १५५, १६५, २५४, २८६ (दे० 'इच्छा' जैसी भी)
के कोषाणुओंकी अनुभूति : साथ रहना या विलीन हो जाना वृत्ति-विशेषपर निर्भर १५
में मूर्छा १५, ९०
का, चारों तरफकी चीजोंके स्पंदनोंके साथ सामंजस्य-स्थापन २९-३०, २२०-२१
अभी, बाहरके प्रभावों [छूत] के प्रति खुला है २९, ४६, ६८, २२०
के कोषाणुओंमें रूपांतरका काम ३०-१, ७५-६, ९१-२
के कोषाणुओंकी चेतनाकी अवस्था, पर बाह्य रूपमें .. ४६, २८८
की यंत्रवत् आदतोंके स्थानपर 'चेतना' [भागवत उपस्थिति] ५१-४, ६३
में साहसिक भाव ५३-४, २६७

विघटनके लिये तैयार ५३, १६२, २५४
के कोषाणुओंमें मृत्युके बारेमें चिंता और उत्तर ५६
के कोषाणुओंमें 'ओ३म्' का गान ६०
में हुई प्राप्ति दूसरोंको नहीं हुई, इससे श्रमभार.. ६८
की चेतनामें बाहरसे संक्रमण हर क्षण ६८, २०८, २८६
के कोषाणुओंका स्तवगान ६८
में निश्चेतनाको सचेतन बनानेका काम ७७-८१
'यह यंत्र 'समाचार लाने' की जगह उपलब्धिका प्रयास करनेके लिये ..७८-९
से कम निश्चेतनावाली क्या कोई सत्ता पृथ्वीपर है ७९-८०
में पूर्णतया जाग्रत् अभीप्सा ८४
के कोषाणुओंमें अब, चेतना काम कर रही है, भौतिक मन परिवर्तित .. ८४-६, २५२, २५३, २५७
में चेतनाके प्रवेशका आरंभ : जब डाक्टरोंने कहा, मैं बहुत बीमार हूं ८५-६
को जान-बूझकर अपने-आपपर छोड़ दिया गया, मन-प्राण हट गये ८५, ९०, ९२, १०७, ११२
से मन-प्राण चले गये, इसलिये रोगका आभास ८५, ८९-९०
में प्रेमका विस्फोट ८६
का 'सर्वोच्च' [चैत्यपुरुष] के साथ सीधा संपर्क, बिना किसी मध्यवर्तीके ९०अ, १०९, ११८
में अब, मनके स्थानपर चेतनाका शासन : फल ९६-७
में रूपकी भंगुरता और रूपकी नित्यताका युगपत् बोध १०२, १३२
के लिये चीजें बहुत तीव्र हो उठीं, एक शब्द भी बोलना असंभव हो गया .. १०५-६
ने कहा : यह स्थिति और नहीं १०६, १११
के 'क' वैज्ञानिकसे कुछ प्रश्न १०८-१०
में अतिमानसिक शक्तिका सशक्त प्रवेश, गलेसे सिरके बीच कम ११०-११, ११३
'दर्शन और श्रवण ११३, २२१अ, २२२, २२४-२५, २५४अ
की चेतनाकी स्थिति, उन व्यक्तियोंपर निर्भर जिनके साथ वह .. ११४
के कोषाणु मंत्र जप रहे थे ११५
तरलता और अयथार्थतासे यथार्थताकी ओर ११८
की अनुभूति : 'हर चीज भागवत उपस्थितिसे भरी है' ११९-२५
से पीड़ा, कठिनाई, दर्द सब कुछ गायब, अद्भुत चेतनाके आते ही १२२, १३०, १४१, १५९अ, १६०-६१, १७६, २१०, २४७ २६५
समझना शुरू कर रहा है १२५-२६, १७४-७५

सचेतन हो रहा है असामंजस्यके स्थान व क्रियासे १२६अ
सचेतन हो रहा है औरोंके लिये भी, विभाजनका नहीं, विभिन्नताका बोध १२७
को चेतनाकी प्राप्ति पीड़ा और अव्यवस्थाकी कीमतपर १२७
से मन-प्राणका निष्कासन जरूरी क्यों था ? १२८-२९, १७२, २१६, २५२, २५३, २५६-५७; इस पद्धतिकी सलाह नहीं दी जाती १२९, १७२
अपने-आपपर छोड़े हुए, की मूढ़ताका प्रदर्शन (वह संकटोंके बीच जी रहा है), और अद्‌भुत चेतनाका प्रभाव १२९-३०
को लगता है वह एक बक्सेमें कैद है १३१
ने, जब व्यथा तीव्र थी, पूछा अव्यवस्था कैसे ? यह रहस्य मालूम हो जाय तो बस अमरता १३२
में घंटोंकी यंत्रणा और अचानक एक अद्‌भुत क्षण १३३
का, बल्कि वातावरणका, प्रश्न कि वह चलता रहेगा या विलीन हो जायगा १४२
जानता है कि निश्चय किया जा चुका है.. १४२
को डटे रहना चाहिये, अन्यथा दुर्भाग्यवश, यह किसी और समयके लिये रहेगा १४३
अभी, जड़द्रव्यको सद्वस्तु माननेसे लेकर मोक्षतककी सभी अवस्थाओंमेंसे गुजरा है, पर जिसे अभी जीना है वह है सृष्टिका अगला कदम १४८-४९
को अपनी चिंता बिलकुल नहीं, उसमें समयका भाव नहीं रहा, प्रतिक्रियाएं, वेदन, रंग-रूप बदल गये, परम एकता... कोई झंझट, योजना नहीं १५०-५१
का मृत्युके प्रति भाव १५२
की एक ही आशा : विभाजन गायब हो जाय १५२
को चिंता : क्यों? सृष्टि ऐसी क्यों? १५२अ
समस्त पृथ्वीका प्रतीक १५३
के पास हर चीज शुद्ध होनेके लिये आती है १५३-५४
समझ गया कि चले जाना कोई समाधान नहीं है १५४
की अनुभूति : वस्तुओंकी भयंकरताकी १५८-६१; और इनके अवास्तविक मिथ्यात्वकी १५९-६०, १६२
वस्तुओंकी भयंकरताके प्रत्यक्ष दर्शनके सामने रोया है १५८
ने कहा : यह भयंकर जगत् किस लिये? उत्तर : विशाल प्रकाश १५८-५९
का प्रश्न : 'वह अद्‌भुत' यह घिनौनी डरावनी भीमाकार वस्तु कैसे बन गया ? १५९
ने सारे जीवनमें कभी ऐसे गहरे दर्दका अनुभव नहीं किया.. अंतमें आनंद १५९अ, १६०-६१
को सनातन नरककी अनुभूति १६१

का अब अपना स्थान लेनेका समय आ गया है १६२-६३
को मालूम नहीं कि वह जीवित है या मृत १६३
में ज्योतिर्मय शरीर बननेकी महत्त्वाकांक्षा नहीं १६४-६५
में प्रेम व आराधनाकी गति १७०, १७१
से अहंका लोप १७१
के लिये निद्राकी निश्चलता और सचेतन निश्चलतामें फर्क १७३
में पूर्ण निश्चलता और तीव्र अभीप्सा दोनों साथ १७४
की अनुभूति : कभी 'अमरता'की चेतना, कभी मर्त्यकी चेतना १७५-७७
रूपांतरकी ओर १८६
को सिखाया जा रहा है : वह कुछ नहीं जानता १९७-९९
का जीवन और मृत्युके बीच मंडराना १९९अ, २५५अ, २५७, २६९
को मरे बिना मृत्युका अनुभव २०२
को विघटनके साथ लुप्त हो जानेकी भ्रांति बहुत समयसे नहीं, और अब . . २०२
के कष्टका कारण और इलाज २०२
में अतिसंवेदनशीलता २०३
इन सब चीजोंको स्वप्न कहा करता था, जब श्रीअरविंद बीमार पड़े, उनकी जांघ टूटी २०६
की अनुभूति : भौतिक 'तथ्य' का समय खत्म हो चुका २०६-७, २०९
की अनुभूतियोंको व्यक्त करना कठिन २१३-१५ (दे० 'श्रीमाताजीकी अनुभूति' भी)
बच्चेकी न्याईं विद्यालय जाना, सीखना चाहता है २१७
लोगोंके स्पंदनोंको ग्रहण करता है, वह औरोंको दोष नहीं देता . . नम्रतासे भरा है २१८
समर्पित, मेंसे गुजरनेवाली 'शक्ति' दुर्जेय होती है . . संभावनाओंकी सीमा नहीं होनी चाहिये, लेकिन अभी . . २१८
की चेतनामें भी व्यक्तिगत कम-से-कम, सीमाएं नहीं, मानों तरल . . जब कोई आलोचक भावसे आता है . . २१९-२१
'एक पांवमें लकवा-सा . . फिर भी भारत व जगत्के लिये क्रियाशील . . इस बीमारीसे सहायता . . मैंने भौतिक रूपसे हरेकके साथ संपर्क रखा . . सारे समय चीख . . यह सारे जगत्की समस्या थी कि दुःख क्यों ? . . मैंने सारे शामकोंका प्रयोग किया . . 'द्रव्य' को तैयार किया गया है २२२-२७
में परिवर्तन न देख सकनेके लिये बिलकुल अंधा होना चाहिये २२७
पूछता है : 'तुम्हारा मिथ्यात्व कहां है ? २३४
समझ गया : मेरा अस्तित्व भगवान्के द्वारा है, अहंके कारण नहीं २३४, २३५-३६, २४३

अधिक सचेतन हो रहा है : क्या होनेवाला है, लोग क्या कहने-वाले हैं.. २३७-३८
अपना समय बिताता है : भगवान्-से चिपके रहने, होनेकी कोशिश करनेमें २४१-४२
को सब चीजें – लोग, परिस्थितियां, सब कुछ – सत्यचेतना प्राप्त करना सिखानेके लिये आ रही हैं २४४
की खुलनेकी कोशिश २४६
में समग्र चेतना प्राप्त करनेका प्रश्न २४९-५०
को कहा गया : यदि तुम रोग और पीड़ा स्वीकार करो.. २५४
में सद्‌भावना २५५
ने कहा, यह खतम – मुझे जीवन चाहिये २५७
समग्रताकी चेतनाको पा चुका है कुछ क्षणोंके लिये २६०अ
कहता है : सच्ची चीज या फिर अंत २६७-६८
को अनिवार्यताके द्वारा नित्यता सिखायी जा रही है २६९
रूपांतरके प्रयासके लिये अर्पित २७५-७६
के बेचैनी और चिंता अनुभव करने-पर आवाज : "तुम डरती क्यों हो, यह नयी चेतना है" २८४
की वह मूढ़ता जो देर लगाती है : 'आनंदमय अवस्था असंभव' २८६-८७
के लिये भगवान्‌की ओरका अर्थ २८७
में 'शक्ति' की क्रिया कि वह प्रतिमा हो, लोगोंके ध्यानको एकाग्र करनेके लिये २९०
की प्रार्थना २९५
(दे० 'शरीर', 'अतिमानव चेतना', 'भागवत कृपा', 'वृत्ति', 'समा-धान' भी)
श्वासोच्छ्‌वास २७३, २७४, २७५

स

संक्रमण १३, ३६
भौतिक, की समस्या ६८, २४४, २७२अ, २७४-७५
के जितना निकट, अतिसंवेदन-शीलता उतनी ही २०३
संक्रमणकाल १२अ, २४, ५३, ९०, २४१
संगीत
या चित्रकारी असंभव, यदि चेतना हाथमें प्रवेश न करे ८९
संघर्ष [लड़ाई, युद्ध] ५९, १७५
हजारों वर्ष पुरानी आदतसे ६३
क्षण-क्षणका ६७अ, २५७
का कारण ७०
की आवश्यकता गायब हो जायगी ७०
अभी करते जाना है २०८, २१०
स्वयं भगवान्‌को करना चाहिये २९०
(दे० 'प्रगति', 'भगवान्', 'श्रीमाता-जी' भी)
संतुलन
पूर्ण, की ओर १०१, १८०

सृष्टिमें, चरितार्थ हो जानेपर प्रगति बिना रोकके .. १०२
(दे० 'विजय', 'समग्रता', 'सृष्टि' भी)

संदेश
नवंबर दर्शन, १९६५ का १९
२१ फरवरी ६९, के बारेमें १४४-४८
आकाशवाणीको २२७
भारतके लिये २३३
२१ फरवरी, ७२ का २६१
२९ फरवरी, ७२ का २६४
का कार्ड श्रीमाताजीका २७७

संभव [संभावना] ३१, ३६
ओंकी कोई हद नहीं होनी चाहिये, लेकिन अभी .. २१८
है यह, क्योंकि यह पहले कभी नहीं हुआ २८४-८५
(दे० 'असंभव', 'व्यक्ति' भी)

सचाई ७१, २४७, २७९
से चाहना : फल ३१
के साथ काम करनेवालेको दोष देना ११६अ
के लिये श्रम, अतिमानव चेतनाका २१७
पूर्ण, के लिये आवश्यक शर्त्त २६१
'सीधे चलो, अन्यथा सब बिगड़ जायगा २६७
जरा-सी, के अद्भुत परिणाम २८१-८२
(दे० 'प्रयास', 'समझौता' भी)

सत्ता
का एक श्रेष्ठ तरीका २७-९
के आनंदके बिना सत्ता नहीं होती ९९
केवल **एक** है १४८ (दे० 'भगवान्' का ही भी)

सत्य
के जगत् और वर्तमान जगत्में एक फर्क होगा ६९
को देखनेके लिये ७०
से कतरा जाते हो २०६
के जो अनुकूल नहीं, चैत्यके जो अनुरूप बनने योग्य नहीं उसी का विलोपन होता है २१७
तेरी ही आज्ञाका पालन करें २३३
(दे० 'जीना', 'प्रकाश', 'शुभ', 'समग्र' भी)

सत्यचेतना दे० 'अतिमानसिक चेतना'

सद्भावना १३३, १३४
वालोंपर चेतनाकी क्रिया बढ़ गयी है, कठिनाइयां भी १
मनुष्यकी १३५
शारीरिक २५५

सभ्य [सभ्यता] २०४

समग्र
प्रगति करता रहता है ७०
को देखना चाहिये सत्यको देखनेके लिये ७०
को उपलब्ध करना, समग्रकी रचना करनेवाले प्रत्येक तत्त्वमें १०२, १७९
सब मिलकर पूर्ण एकता है, १७९-८० (दे० 'चीज' एक भी)
की चेतना एक ही समय, एक साथ समग्र और छोटे-से-छोटे ब्योरेके बारेमें भी सचेतन २०१अ
(दे० 'ऐक्य', 'गति', 'चेतना',

'दोष', भी)
समग्रता
का दर्शन, सांत्वनादायक ३६
सबका संतुलन है १०२
(दे० 'भगवान्', 'शरीर', 'श्रीमाताजीका शरीर' भी)
समझ २७, १०३, १७५
उच्चतर, से सहायता त्याज्य गति-के साथ व्यवहारमें १९३
(दे० 'भगवान्' की दृष्टि भी)
समझौता
नहीं, 'लगभग' नहीं, अधकचरा नहीं ६, १४३अ, १५५, २६८
समय
लगेगा, नयी चीजके प्रकट होनेमें ४८, ७६-७, ९१, ११०, ११२, १७५, २४९-५०
की धारणा ४८, ७०अ, १३२, १७५
लंबे, तक चलेगी यह अपर्याप्त, अधूरी, अपूर्ण चीज ७०, १०४
सभी परिवर्तनोंमें उपलक्षित ७०अ
पत्थरको वनस्पतिमें, वनस्पतिको पशुमें, पशुको .. बदलनेमें कितना लगा है ! ७७
से पहले यदि परिणाम आ जाय तो कामकी अवहेलना होगी, मनुष्य इतना संतुष्ट .. ८६
अपना मूल्य खो बैठा है ९७
अब इधर-उधर देर लगाने या ऊंघनेका नहीं है १४९
अब आ गया है १५५
लगेगा, मानवजातिको बदलनेमें १६३
लगेगा भौतिक 'तथ्य' पर विजय-को स्थापित होनेमें २०८
यह करनेका, ऊपरकी ओर छलांग लगानेका है २३०
आंतरिक चेतना और बाह्य चेतना-में २४१, २६०
लगेगा, अवचेतनाकी सफाईमें २८९
(दे० 'परिवर्तन', 'भागवत कृपा', 'मानव जाति' ने, 'श्रीमाताजी', 'श्रीमाताजीका शरीर', 'देश और काल' भी)
समर्पण
शरीरका १२, १३, ४०
ही मिथ्यात्वमेंसे बाहर निकलनेकी विधि १७६
(दे० 'भगवान्', 'श्रीमाताजीका शरीर', 'समाधान' भी)
समाधान
चले जाना नहीं है १५४
एकमात्र : भगवान्के साथ सचेतन संपर्क और भगवान्की इच्छाके प्रति समर्पण १५५, १६७, १९६, २०१, २३५, २५९, २६२, २८०, २८१, २९०, २९७
बुद्धका और सत्य समाधान १५९-६२
जल्दी पानेकी आशाएं बचकानी हैं १६३
कि श्रीमाताजीका शरीर ज्योतिर्मय हो जाय १६३-६५
सहनशील
होनेकी जरूरत १, २-३, १२, १४९, १५५, २०९

सबसे अधिक, की ही विजय ३अ
साधना
का रहस्य : मनके प्रयासकी जगह 'शक्ति' द्वारा काम . . . ६४
(दे० 'श्रीमाताजीका शरीर' भी)
सामंजस्य
-स्थापनका एक तरीका २७-९
अधिकाधिक सामंजस्यपूर्ण ७०
कला, खेल-कूद, भोजन आदि सब चीजोंका, सूक्ष्म जगत्में तैयार है नीचे आनेके लिये १५६-५७
का भविष्य २२७
(दे० 'अतिमानव चेतना', 'दोष', 'विजय', 'प्रगति', 'मानव जाति', 'श्रीमाताजीका शरीर' भी)
सिद्धांत गढ़ना २९, ५९
सिद्धि
संपूर्ण, तभी होगी ४८, १७१
अब **यहां** भी प्राप्य २११
भौतिक, ही ठोस सिद्धि है २४३
अगली २४९ (दे० 'गति' अब, 'सृष्टि' भी)
सुरक्षा ३६, ४८, २३७, २८३
सृष्टि [विश्व]
क्यों, कैसे, किस ओर ६१, १०२, १४४-४७, १४८, १५९, १६७, १७७-८२, २४३, २४९, २६१
यह, संतुलनकी सृष्टि है १००-१ १०२, १०३, १८०
का, द्रव्यका, अगला कदम १४९
(दे० 'सिद्धि' भी)
जड़तासे क्यों शुरू हुई १७३
एक बखेड़ा १७३
की प्रक्रिया : निश्चेतन पूर्णताकी स्थितिसे सचेतन पूर्णताकी ओर १७४
को समझना १७५
(दे० 'जगत्', 'दु:ख-कष्ट', 'विभाजन' भी)
सेक्स
का आवेग मानवजातिमें २५-६
स्थिरता और परिवर्तन १७८, १८१, १८२
स्वप्न
'स' का बुरा ८अ
शिष्यका, झागकी विशाल लहर और काली नौका . . १०५
(दे० 'जगत्' (सूक्ष्म भौतिक) भी)
स्वाधीनता
का भाव २७, ३६, १२६
चुनावकी २८
(दे० 'बंधन' भी)
स्वापक औषधियों के बारेमें ३१-२

ह

हस्तांतरण [स्थानांतरण]
शक्तिका १४-६, १८-९, २०१, २२२
का विषय भौतिक मन नहीं, द्रव्यात्मक मन १६
में सबसे बड़ी कठिनाई स्नायुओंमें १८-९
अधिकारका : देशों और प्रदेशोंके २०२; भौतिक जीवनके २०७
(दे० 'श्रीमाताजीका शरीर' भी)
हिंसा का खुला समर्थन १५७अ

होना [बनना] ४८, ५२, ६०, २४०, २४१, २४२, २५६

नामानुक्रमणिका

अनातोल फ्रांस ६२
अमरीकाके जवानों . . १, ६
चीन १५७
चेकोस्लावाकिया १०५
दुर्गा ९५
देवदूतोंका विद्रोह (पुस्तक) ६२
पाल (संत) ४१
बुद्ध १५३, १५९
महाकाली ९५
माओ-त्से-तुंग १५७
राम नहीं, तो रावण . . . १९०
रेचेड आफ द अर्थ (पुस्तक) लेखक : फ्राट्ज फानोन १५८-टि०
रेनां (लेखक) १९१टि०
"**लाइफ**" (पत्रिका) ३२

सूची

१.	७ अक्तूबर, १९६४		... ...	१
२.	१२ जनवरी, १९६५		... ...	७
३.	२४ मार्च, १९६५		... ...	८
४.	२१ अगस्त, १९६५		... ...	१४
५.	२७ नवंबर, १९६५		... ...	१९
६.	२२ जनवरी, १९६६		... ...	२७
७.	१८ मई, १९६६		... ...	३१
८.	२८ सितंबर, १९६६		... ...	३७
९.	३० सितंबर, १९६६		... ...	४१
१०.	११ जनवरी, १९६७	(प्रासंगिक)	... ...	४९
११.	२१ जनवरी, १९६७		... ...	५१
१२.	४ मार्च, १९६७		... ...	५४
१३.	७ मार्च, १९६७	(प्रासंगिक)	... ...	५५
१४.	२४ मई, १९६७	(प्रासंगिक)	... ...	५८
१५.	२४ जून, १९६७		... ...	६३
१६.	२६ अगस्त, १९६७	(प्रासंगिक)	... ...	६८
१७.	३० अगस्त, १९६७		... ...	७१
१८.	१५ नवंबर, १९६७		... ...	७६
१९.	२२ नवंबर, १९६७	(प्रासंगिक)	... ...	८२
२०.	२९ नवंबर, १९६७	(प्रासंगिक)	... ...	९२
२१.	३० दिसंबर, १९६७	(प्रासंगिक)	... ...	९६
२२.	१३ मार्च, १९६८		... ...	९८
२३.	१६ मार्च, १९६८		... ...	१००
२४.	२२ अगस्त, १९६८	(प्रासंगिक)	... ...	१०४
२५.	२८ अगस्त, १९६८		... ...	१०५
२६.	२५ सितंबर, १९६८		... ...	११५
२७.	२३ नवंबर, १९६८		... ...	११९
२८.	२७ नवंबर, १९६८		... ...	१२५
२९.	२१ दिसंबर, १९६८	(प्रासंगिक)	... ...	१२८
३०.	१ जनवरी, १९६९	(प्रासंगिक)	... ...	१३३
३१.	४ जनवरी, १९६९	(प्रासंगिक)	... ...	१३३
३२.	८ जनवरी, १९६९	(प्रासंगिक)	... ...	१३७

३३. १८ जनवरी, १९६९ (प्रासंगिक) १३८
३४. १५ फरवरी, १९६९ ... ... १४१
३५. २२ फरवरी, १९६९ (प्रासंगिक) १४४
३६. १७ मई, १९६९ ... ... १४८
३७. २४ मई, १९६९ ... ... १५१
३८. २८ मई, १९६९ ... ... १५५
३९. ३१ मई, १९६९ ... ... १५६
४०. ४ जून, १९६९ ... ... १६४
४१. १६ अगस्त, १९६९ ... ... १६५
४२. १ अक्तूबर, १९६९ ... ... १७०
४३. १८ अक्तूबर, १९६९ ... ... १७१
४४. १९ नवंबर, १९६९ ... ... १७७
४५. १० दिसंबर, १९६९ ... ... १८८
४६. १३ दिसंबर, १९६९ ... ... १८९
४७. २७ दिसंबर, १९६९ ... ... १९७
४८. ३१ जनवरी, १९७० ... ... २००
४९. १४ मार्च, १९७० ... ... २०३
५०. २० मई, १९७० ... ... २१२
५१. २७ जून, १९७० ... ... २१३
५२. १ जुलाई, १९७० ... ... २१५
५३. ५ अगस्त, १९७० ... ... २१७
५४. ११ जनवरी, १९७१ ... ... २२१
५५. १६ जनवरी, १९७१ ... ... २२२
५६. ३ मार्च, १९७१ ... ... २२८
५७. १ मई, १९७१ ... ... २३०
५८. २२ मई, १९७१ ... ... २३१
५९. ९ जून, १९७१ ... ... २३३
६०. १७ जुलाई, १९७१ ... ... २३६
६१. २१ जुलाई, १९७१ ... ... २३८
६२. २८ अगस्त, १९७१ ... ... २४०
६३. १ सितंबर, १९७१ ... ... २४३
६४. २९ सितंबर, १९७१ ... ... २४६
६५. १६ अक्तूबर, १९७१ ... ... २४७
६६. ३० अक्तूबर, १९७१ ... ... २४९

६७. १७ नवंबर, १९७१ ... ... २५०
६८. १८ दिसंबर, १९७१ ... ... २५२
६९. २२ दिसंबर, १९७१ ... ... २५६
७०. २५ दिसंबर, १९७१ ... ... २५८
७१. ९ फरवरी, १९७२ ... ... २६१
७२. २६ फरवरी, १९७२ ... ... २६४
७३. ८ मार्च, १९७२ ... ... २६७
७४. २४ मार्च, १९७२ ... ... २७०
७५. २५ मार्च, १९७२ ... ... २७१
७६. २ अप्रैल, १९७२ ... ... २७५
७७. १२ अप्रैल, १९७२ ... ... २७७
७८. ६ मई, १९७२ ... ... २८०
७९. ३० अगस्त, १९७२ ... ... २८६
८०. २५ अक्तूबर, १९७२ ... ... २८९
८१. ४ नवंबर, १९७२ ... ... २९१
८२. ८ नवंबर, १९७२ ... ... २९१
८३. २० दिसंबर, १९७२ ... ... २९३
८४. ३० दिसंबर, १९७२ ... ... २९५
८५. ७ फरवरी, १९७३ ... ... २९६
८६. १० मार्च, १९७३ ... ... २९६

उद्धरण सूची

श्रीअरविंदके उद्धरण

विचार और सूत्र ६अ, १२८टि०, १८९टि०, १९०टि०, २०३-५
स्थल अज्ञात ... १९, ६४-५
एक अप्रकाशित पत्र ... ४१
योगसमन्वय ... ६१, २६० टि०
सावित्री ... ६२
श्रीअरविंदके पत्र, भाग १ ... २५६-५७टि०
'रूपांतर' कविता ... २७५